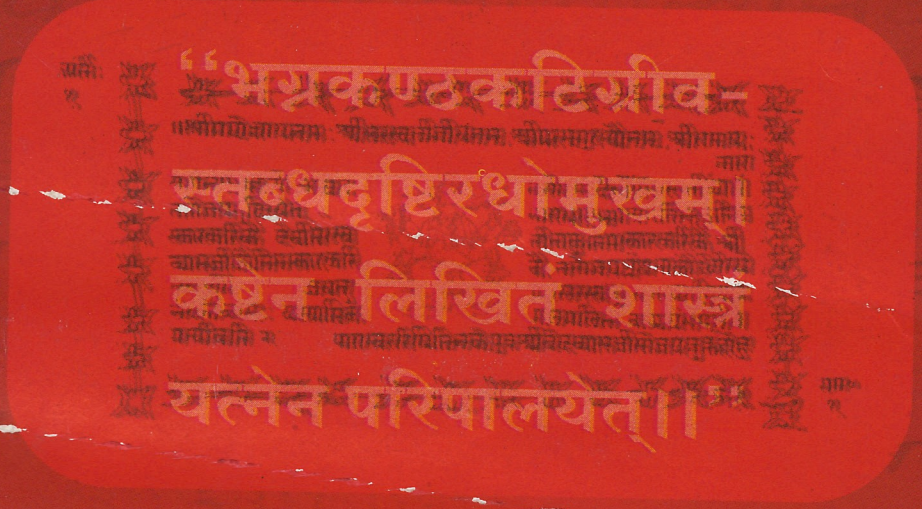
MPSA-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा



शोधप्रविधि तथा पाठालोचन

MPSA-01

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

शोध प्रविधि तथा पाठालोचन

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

अध्यक्ष

प्रोफेसर (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संयोजक/समन्वयक तथा सदस्य

संयोजक :

प्रो. (डॉ.) गणेशीलाल सुथार
परामर्शदाता (संस्कृत)
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राजस्थान)
पूर्व निदेशक, पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ
पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग, **जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर**

सदस्य :

1. **प्रो. (डॉ.) राजेन्द्र आई. नाणावटी** (राष्ट्रपति-सम्मानित)
   इमेरिटॅस फेलो (यू.जी.सी.)
   पूर्व निदेशक, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट
   महाराज सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा (गुजरात)
2. **डॉ. कलानाथ शास्त्री** (राष्ट्रपति-सम्मानित)
   अध्यक्ष, आधुनिक संस्कृतसाहित्य-पीठ
   जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर
   पूर्व अध्यक्ष, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर (राजस्थान) एवं
   अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ (उ.प्र.)
3. **डॉ. सुषमा सिंघवी**
   पूर्व सहआचार्य, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
   निदेशक
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केन्द्र-जयपुर
4. **प्रो. (डॉ.) कमलेश कुमार चोकसी**
   आचार्य, संस्कृत विभाग, भाषा-संकाय
   गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद (गुजरात)
5. **प्रो. (डॉ.) श्रीकृष्ण शर्मा**
   आचार्य, संस्कृत विभाग
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)

सम्पादन एवं पाठ लेखन

सम्पादक :
डॉ. कलानाथ शास्त्री
अध्यक्ष
आधुनिक संस्कृतसाहित्य-पीठ
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

सह-सम्पादक :
डॉ. रानी दाधीच
प्रवक्ता
राजस्थान शिक्षा महाविद्यालय, ब्रह्मपुरी, जयपुर

लेखक

1. **योगेश शर्मा** — **इकाई 1, 7**
   अनुसन्धाता, विशिष्ट अध्ययन संस्कृत केन्द्र
   जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
2. **डॉ. भल्लूराम खीचड़** — **इकाई 2**
   उप-प्राचार्य
   जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान (DIET), जोधपुर
3. **डॉ. शालिनी सक्सेना** — **इकाई 3,10,13,16**
   प्रोफेसर, भाषा विज्ञान
   राजकीय महाराजा आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर
4. **डॉ. विजया श्रीवास्तव** — **इकाई 4**
   62, वन विहार कॉलोनी
   टोंक रोड, जयपुर
5. **डॉ.प्रतिभा सक्सेना** — **इकाई 5, 11**
   प्राचार्य
   जे.डी.पी.जी. कॉलेज, जयपुर
6. **डॉ. रानी दाधीच** — **इकाई 6**
   प्रवक्ता
   राजस्थान शिक्षा महाविद्यालय, ब्रह्मपुरी, जयपुर
7. **डॉ. चन्दनबाला मारू** — **इकाई 8**
   व्याख्याता, संस्कृत (चयनित वेतनमान)
   मीरा गर्ल्स कॉलेज, उदयपुर
8. **प्रो. (डॉ.) विनोद शास्त्री** — **इकाई 9, 14**
   आचार्य, संस्कृत विभाग
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
9. **प्रो. (डॉ.) वसन्तकुमार भट्ट** — **इकाई 12, 15**
   अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
   निदेशक, भाषा संकाय
   गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच	प्रो. (डॉ.) अनाम जेटली	योगेन्द्र गोयल
कुलपति	निदेशक	प्रभारी अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा	संकाय विभाग	पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्पादन : नवम्बर, 2009 ISBN No. : 13/978-81-8496-149-2

सर्वाधिकार सुरक्षित : इस सामग्री के किसी भी अंश की वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में 'मिमियाग्राफी' (चक्रमुद्रण) के द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

निदेशक (अकादमिक) द्वारा वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा के लिये मुद्रित एवं प्रकाशित।
दी डायमण्ड प्रिन्टिंग प्रेस, जयपुर द्वारा 500 प्रतियां मुद्रित।

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

अनुक्रमणिका

शोध प्रविधि तथा पाठालोचन

इकाई सं.	इकाई का नाम	पृष्ठ संख्या
इकाई – 1	अनुसंधान – स्वरूप, शोध के पर्याय, सत्य और तथ्य अनुसंधान और आलोचना	1
इकाई – 2	अनुसंधान–प्रकार, प्रयोजन, विशेषता, अधिकारी	10
इकाई – 3	अनुसंधान रूपरेखा निर्माण, अनुबंध योजना, उद्धरण, संदर्भ, उल्लेख, सामग्री संकलन का वर्गीकरण, पाद टिप्पणी	20
इकाई – 4	अनुसंधान : विषय चयन की आवश्यकता एवं क्षेत्र	30
इकाई – 5	भाषावैज्ञानिक शोध, तुलनात्मक शोध एवं समीक्षात्मक शोध के विभिन्न प्रकार	42
इकाई – 6	पाण्डुलिपि विज्ञान– परिभाषा एवं प्रकार, पाण्डुलिपियों में अंक लेखन की प्रक्रिया	50
इकाई – 7	पाण्डुलिपि – संग्रह एवं संरक्षण	64
इकाई – 8	पाण्डुलिपि–कालनिर्णय एवं पाण्डुलिपि का बाह्य तथा आन्तरिक पक्ष	72
इकाई – 9	संस्कृत हस्तलेखों का पठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय लेखन चिह्नों का परिचय	82
इकाई – 10	पाठालोचन– प्रक्रिया, सम्पादन, अर्थ समस्या, पाठ चयन तथा पाठ सुधार	90
इकाई – 11	पाठालोचन–आवश्यकता, तथा उद्देश्य, विषय विस्तार, विषय विभाजन, आलोचना	98
इकाई – 12	शोध प्रविधि तथा पाठालोचन	104
इकाई – 13	पाठालोचन का उपयोग, पाठ सुधार के महत्त्वपूर्ण पक्ष, पाठ विकृति के कारण एवं वंशवृक्ष निर्माण	115
इकाई – 14	सूचीपत्र–ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, निर्माण, मुद्रण कला, प्रूफ संशोधन के चिह्न	134
इकाई – 15	लिपि विज्ञान	144
इकाई – 16	संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों तथा सूचीपत्रों का इतिहास	151

इकाई 1

अनुसंधान – स्वरूप, शोध के पर्याय, सत्य और तथ्य, अनुसंधान और आलोचना

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 अनुसंधान स्वरूप

1.3 शोध के पर्याय

1.4 सत्य और तथ्य

1.5 अनुसंधान और आलोचना में अन्तर

1.6 अनुसंधान कला है या विज्ञान

1.7 सारांश

1.8 बोध प्रश्न

1.9 उपयोगी पुस्तकें

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप जान सकेंगे कि अनुसंधान का क्या स्वरूप है, उसका अर्थ क्या है? अनुसंधान शब्द के कितने पर्याय हैं। अनुसंधान हेतु किन–किन तत्वों की आवश्यकता होती है। अनुसंधान में सत्य और तथ्य का क्या उपयोग है। इसका आलोचना से क्या सम्बन्ध है। क्या दोनों में कुछ अन्तर है ? यदि है तो क्या है? अनुसंधान कला है या विज्ञान यह भी आप जान सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

इस इकाई में अनुसंधान का अर्थ, इसके विभिन्न स्वरूप, शोध के पर्याय, अनुसंधान एवं आलोचना में अन्तर, अनुसंधान की प्रकृति, आलोचना की प्रकृति एवं अनुसंधान में सत्य एवं तथ्य की भूमिका और कलात्मक व विज्ञानात्मक दृष्टि से अनुसंधान का विश्लेषण आदि विषयों का वृहद् अध्ययन कर सकेंगे।

1.2 अनुसंधान का स्वरूप

अज्ञात रहस्यों का अपनी पारदर्शिनी मेधा एवं जुझारू शक्ति से अन्वेषण की प्रवृत्ति एवं उनके प्रति जिज्ञासा अनुसंधान का बीज है। महत्वपूर्ण विषय पर कठोर परिश्रम, विवेकपूर्ण लगनपूर्वक किया गया निर्णय–प्रधान वैज्ञानिक अध्ययन अनुसंधान है। वह एक ऐसी प्रक्रिया है एवं जिसमें बोधपूर्वक प्रयत्न से तथ्यों का संकलन कर सूक्ष्मग्राही एवं विवेचक बुद्धि से इनका अवलोकन विश्लेषण करके नये सिद्धान्तों का उद्घाटन किया जाता है।

अनुसंधान की सामान्य परिभाषा तो उपुर्यक्त प्रकार से दी जा सकती है किन्तु ज्ञान के विभिन्न विषय क्षेत्रों एवं उनके विविध अनुसंधान कार्यों के अनुशीलन से उनकी प्रक्रियाओं, पद्धतियों ओर परिणामों के स्वरूपों में अत्यधिक भिन्नता परिलक्षित होती है जिसके कारण सबको मिलाकर निश्चित परिभाषा देना संभव नहीं है। कुछ अनुसंधान पदार्थ–परक वैज्ञानिक प्रयोगों पर आधारित होते हैं। कुछ विशाल क्षेत्रीय सर्वेक्षण पर

आधारित होते हैं। कुछ अनुसंधानों में प्रभावों के आधार पर सैद्धान्तिक सामान्यीकरण का प्रयास किया जाता है तो कुछ में किसी विषय पर मत–मतान्तरों का विवेचन कर नये मतों की स्थापना का प्रयास किया जाता है। कई ऐसे अनुसंधान विषय होते हैं जिनमें अज्ञात या अल्पज्ञात वस्तुओं के विस्तृत वस्तुनिष्ठ अध्ययन से एकत्रित नई सामग्री का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इन सभी विषयों के क्षेत्र अलग–अलग हो सकते हैं। उनकी अनुसंधान पद्धतियों में अन्तर हो सकता है। इनके परिणामों में वैविध्य हो सकता है किन्तु इनमें एक समानता अवश्य होती है वह है ज्ञान के क्षेत्र को अधिक विस्तार देने हेतु नये तथ्य एवं सत्य का उद्घाटन करना।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण शोध/अनुसंधान के चार अंग होते हैं –

1. ज्ञान के क्षेत्र की किसी समस्या को सुलझाने की प्रेरणा **(Motivation)**
2. प्रासंगिक तथ्यों का संकलन **(Collection of Facts)**
3. तर्कपूर्ण विश्लेषण एवं अध्ययन **(Rational analysis and study)**
4. परिणामस्वरूप निर्णय **(Conclusion)**

आज मानव के सुख–सुविधापूर्ण जीवन का आधार अनुसंधान है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक विकास का कारण अनुसंधानपूर्ण अध्ययन है। इस संदर्भ में एक शोधमनीषी का कथन है–

"हमारी सांस्कृतिक उन्नति का रहस्य शोध में निहित है। शोध नये सत्यों के अन्वेषण द्वारा अज्ञान के क्षेत्रों को लुप्त कर देता है और वे सत्य हमें कार्य करने की उत्कृष्टतर विधियाँ और श्रेष्ठ परिणाम प्रदान करते हैं।"

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुसंधान किया गया है। वर्तमान में यदि भौतिक व प्रायोगिक क्षेत्र में अंतरिक्ष यात्रा, अणु एवं परमाणु बम, कम्प्यूटर के विभिन्न रूप, मोबाइल आदि प्रकार अनुसंधान किये जा रहे है तो दूसरी तरफ चिन्तन क्षेत्र में भी मौलिक शोध के कारण क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तर्क, दर्शन, मनोविज्ञान, भाषा–विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र इत्यादि ज्ञान एवं सृजन के सभी क्षेत्रों में खोजों द्वारा पुराने सिद्धान्तों का खण्डन करके नये सिद्धान्तों की स्थापना की जा रही है। इसके परिणाम स्वरूप सामाजिक संगठन, आर्थिक व्यवस्था राजनैतिक व्यवस्था, कलात्मक सृजन आदि पर एक सकारात्मक प्रभाव पड़ता परिलक्षित होता है।

अतः स्पष्ट है कि मानव जीवन में वर्तमान में अनुसंधान द्वारा आन्तरिक एवं बाह्य पक्ष निरन्तर विकसित हो रहे हैं। भौतिक तथा विचार क्षेत्र के विकास के अनेक दुष्परिणाम होने पर भी अनुसंधान मानव जीवन का अनिवार्य अंग है।

अनुसंधान सामान्यतः दो प्रकार का होता है।

1. विशुद्ध अनुसंधान 2. प्रायोगिक अनुसंधान

1. **विशुद्ध अनुसंधान** – जिसमें जीवन का प्रत्यक्ष भौतिक उपयोग परिलक्षित नहीं होता उसे केवल अनुसंधान कहते हैं। विज्ञान एवं गणित में विशुद्ध सैद्धान्तिक शोध किये जाते हैं। इनमें परिणाम, वस्तुओं की मात्रा, आकार, शक्ति, रूप–परिवर्तन आदि से सम्बन्धित विद्वानों का आविष्कार होता है।

   दर्शन, इतिहास, साहित्य, सौन्दर्यशास्त्र आदि के अधिकांश शोध भी इसी प्रकार के होते हैं। इनमें भी प्रत्यक्ष उपयोग परिलक्षित नहीं होता। किन्तु इनसे सतत एवं समग्र चिन्तन–प्रक्रिया की प्रेरणा मिलती है। चिन्तन प्रक्रिया किस ओर ले जाती है, उसके परिणाम अच्छे हैं या बुरे, इसकी भी परवाह किये बिना दूर दिशा में विशुद्ध अनुसंधान अग्रसर होता है– यही F.L. Whitney ने कहा है।

Pure research is not hampered by considerations of the social use to which discoveries may be put. It is interested first of all in the continuity and integrity of thought process in source, and philosophy.... It permits the thinking process to lead where it will, no matter what erratic angle of direction is indicated.

2. **प्रायोगिक अनुसंधान** – अर्थशास्त्र मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र आदि के कुछ शोधों का प्रायोगिक उपयोग हो सकता है। जैसे अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रयोग कर आर्थिक योजनाऐं आयोजित की जा सकती हैं और मनोवैज्ञानिक शोधों से मनोरोगों की चिकित्सा, शिक्षा–विधानों का निर्माण आदि संभव है।

वैज्ञानिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि विषयों की तरह सभी विषय, प्रयोजनमूलक एवं प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी नहीं होते। अतः मानविकी एवं साहित्य के अनुसंधान पर एक प्रश्नचिह्न लगाया जाता है कि जब इनका कोई उपयोग ही नहीं है तो फिर इन पर अनुसंधान क्यों किया जा रहा है। किन्तु इस समस्या का दूसरा पक्ष भी है कि मानव उन्नति केवल भौतिक विकास पर आश्रित तो नहीं होती, उसका सम्बन्ध दूसरे पक्षों से भी है। आध्यात्मिकता, मूल्यगत शिक्षा, सांस्कृतिक विकास भी इसके आवश्यक अंग हैं जिनकी पूर्ति, कला, दर्शन, साहित्य एवं इतिहास से होती है। वर्तमान समय में नष्ट होते जीवन–मूल्यों, सामाजिक–मूल्यों एवं सम्पूर्ण मानव–मूल्यों को ध्यान में रखते हुये आवश्यक है कि साहित्य, कला, संस्कृति, दर्शन एवं इतिहास जैसे विषयों को बढ़ावा दिया एवं उनमें अधिक से अधिक अनुसंधान किया जाये।

1.3 शोध के पर्याय

एक ही शब्द के बहुत से पर्याय होते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि सभी अर्थ एक समान हों। लगभग समान अर्थ हो सकता है। शोध के भी कई पर्याय हैं। 1. अनुसंधान 2. अन्वेषण 3. गवेषण 4. खोज 5. मीमांसा 6. अनुशीलन 7. सर्वेक्षण 8. आलोचना आदि। परन्तु इस सभी में अनुसंधान शब्द सर्वमान्य रूप से स्वीकृत हो चुका है।

अनुसंधान – अनुसंधान शब्द 'अनु' उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से निष्पन्न है। अनु का अर्थ है पीछे लगना, अनुसरण करना या पुनः करना और संधान का अर्थ है निशाना लगाना, लक्ष्य बांधना या निश्चित करना। अतः अनुसंधान शब्द पूर्ण एकाग्रता एवं धैर्यपूर्ण अनवरत परिश्रम से अपने लक्ष्य प्राप्ति पर्यंत निरन्तर बढ़ने का बोध कराता है। 'रिसर्च' इसका अंग्रेजी रूपान्तरण है जिसके संदर्भ में अंग्रेजी के प्रसिद्ध कोशकार शिरोमणि वेबस्टर ने अपनी Third New International Dictionary में लिखा है–

Careful of diligent search a close searching (as after hidden treasure) studious inquiry or examination : esp. (Critical and exhaustive investigation or experimentation having for its aim the discovery of new facts and their correct interpretation, the revision of accepted conclusious, theories and laws in the light of newly discovered facts or the practical applications of such new or revised conclusions, theories.

अर्थात् सतर्कतापूर्ण एवं श्रमपूर्ण शोध, गुप्त धन के लिये की जाने वाली तलाश की तरह गहरी खोज, अध्ययनपूर्ण परीक्षण, आलोचनात्मक अन्वेषण या प्रयोग जिससे नवीन सत्य उपलब्ध हो और उसकी सही व्याख्या हो सके आदि।

अन्वेषण – पीछे पड़कर खोजना अर्थात् खोई हुई वस्तु की तलाश।

गवेषणा – (गो + एषण) अर्थात् गाय को खोजना। गवेषणा शब्द अन्वेषण के समानार्थी है। पूर्व में गाय को जंगल में चराने हेतु ले जाया जाता था। कभी–कभी गाय जंगल में खो जाती थी। खोई हुई गाय को खोजना एक मुश्किल कार्य होता है। इसी अर्थ में गवेषणा शब्द का प्रयोग किया जाता था किन्तु समय के साथ–साथ शब्द का अर्थ विस्तार हो गया और यह शब्द सामान्य अर्थवाची हो गया। प्रत्येक

खोयी चीज़ की तलाश के लिये इसका प्रयोग किया जाने लगा।

खोज – खोजना शब्द भी तलाशने एवं ढूंढने के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

मीमांसा – मीमांसा दर्शनशास्त्र का शब्द है जो शोध के केवल चिन्तन प्रधान बौद्धिक पक्ष पर बल देता है। तथ्यानुसंधान एवं एकाग्रता का इसमें अभाव है।

अनुशीलन – किसी विषय के विविध पक्षों पर या एक पक्ष पर व्यक्तिगत रूचि के आधार पर या कुछ सैद्धान्तिक निर्णयों के आधार पर अनुशीलन प्रस्तुत किया जाता है। इसमें सामान्य प्रवृत्ति अधिक है।

सर्वेक्षण – इसका सम्बन्ध प्रमुखता से भूगोल जैसे विषयों से है। भूमि मापन एवं विभिन्न प्रकार के तथ्य एवं सामग्री का घूम–घूम कर एकत्रण इसके अन्तर्गत होता है।

आलोचना – आलोचना वह है जिसमें विषय की समग्रता का परीक्षण किया जाता है।

1.4 सत्य और तथ्य

अनुसंधान में तथ्य एवं सत्य की महत्वपूर्ण भूमिका है। अनुसंधान ज्ञान प्रधान है और ज्ञान प्रत्यक्ष तथ्यों के माध्यम से सत्य को स्थापित करके संसार के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। तथ्य इन्द्रिय संवेद्य होता है। तथ्य बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित रहता है। अनुसंधान में सत्य और तथ्य की ठीक वही भूमिका है जो संसार में शरीर और आत्मा की होती है। तथ्य शरीर है और सत्य आत्मारूपी चैतन्य है। अनुसंधाता तथ्यों द्वारा सत्य का अन्वेषण कर उसे प्रतिष्ठित करता है जिसे अनुसंधान कहते हैं। सत्य साध्य है और तथ्य है साधन। तथ्य वस्तुमूलक होता है और सत्य उस पर आश्रित विचारों एवं भावों का जगत् होता है। साहित्यिक अनुसंधान में तथ्य से तात्पर्य है शोध विषय की प्रभावीकृत यथावत् जानकारी। वर्तमान में अनुसंधान के सन्दर्भ में प्रयुक्त सत्य एवं तथ्य दोनों शब्दों के लिये क्रमशः ज्तनजी एवं थ्बज का प्रयोग किया जाता है। इनके अनुसार भौतिक जगत् की घटनाओं, वृत्तांतों एवं कथनों के आधार पर किया गया तर्कसंगत् विवेचन या निर्णय सत्य है। सत्य का सम्बन्ध विशुद्ध कर्म, निर्मल चेतना एवं भावना से होता है। यह सत्य तथ्यों की विभिन्न स्थितियों की आत्मा में प्रविष्ट होकर ही अपना सही रूप धारण करता है।

तथ्य घटना या वक्तव्य का यथा घटित, अवलोकित रूप या विवरण है। यह सत्य की प्रतीति में सहायक भी हो सकता है और विपरीत या बाधक भी हो सकता है। अतः अनुसंधाता का कार्य है कि प्राप्त तथ्यों की भावात्मक एवं संकल्पात्मक अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उद्घाटन करना। सत्य एवं तथ्य के सम्बन्ध में अंग्रेजी के कोशग्रन्थ में भी उल्लेख मिलता है वही आज अनुसंधान के क्षेत्र में सर्वमान्य हो चुका है। वेबस्टर ने Fact (तथ्य) के सम्बन्ध में लिखा है कि–

"Something that has actual existence, even an occurance, an actual happening in time or space (fact in its primary meaning as an object of direct experience, as distinguished (from truth) physical actuality or practical experience as distinguished from imaginations, specutation or theory, an assertion, a statement of information outlining purporting to contain something having objective reality"

अर्थात् कुछ तत्व जिसका वास्तविक अस्तित्व हो, वास्तविक घटना, देशकाल में घटित वास्तविक घटना, प्रत्यक्ष अनुभव (जो मनगढ़ंत धारणा, कल्पना मत आदि से भिन्न हो) जो समय से भिन्ने हो। वक्तव्य या सूचना जो वस्तुमूलक सच्चाई पर आधारित हो।'

इसी कोश में सत्य के सम्बन्ध में लिखा गया है कि –

Sincerity in character action and speech, genuineness in experessing feeling or belief, a judgement, proposition, statement or idea that accords with fact or reality is logically or intuitively necessary or follows by sound reasoning from established or necessary truths.

अर्थात् भाव, क्रिया और भाषण में विश्सनीयता, भावना और विश्वास के प्रकाशन में आन्तरिक पवित्रता (ईमानदारी), निर्णय, मान्यता, वक्तव्य या विचार वास्तविकता एवं यथार्थ से सम्मत हो सत्य है।

उपर्युक्त सत्य एवं तथ्य के कोशगत अर्थों से स्पष्ट होता है कि तथ्य मूलतः वस्तुमूलक अथवा वस्तुपरक है। सत्य यथार्थ के माध्यम से तर्कसम्मत रीति से, ईमानदारी से और निष्ठापूर्वक किया गया किसी घटना, वक्तव्य या कार्य के प्रति निर्णय, विश्वास एवं भावना है। अनुसंधान का लक्ष्य इसी सत्य को प्रतिष्ठित करना है। तथ्य एवं सत्य दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अनुसंधान इन्हीं दो से पूर्ण होता है।

1.5 अनुसंधान एवं आलोचना में अन्तर

अनुसंधान की मुख्यतः तीन दिशायें हैं।

1. अनुपलब्ध तथ्यों का अन्वेषण (तथ्यानुसंधान)
2. अनुपलब्ध तथ्यों या सिद्धान्तों का नवीन आख्यान
3. ज्ञान क्षेत्र का सीमा विस्तार अर्थात् ज्ञान के क्षेत्र में सर्वथा नवीन किसी मत, विचार या गुण की मौलिक स्थापना।

वास्तव में ज्ञान के क्षेत्र में विस्तार ही अनुसंधान का प्रमुख लक्ष्य है। जहां अनुसंधाता तथ्यों के आधार पर नवीन अवधारणायें एवं नवीन संकल्पनायें प्रस्तुत करता है। तथ्यानुसंधान के अंतर्गत किसी विषय से संबंधित साभिप्राय तर्कसंगत विवरण एवं आधारभूत सामग्री आती है। एक तथ्य की पूर्णता अनेक सम्बद्ध एवं अर्द्धसम्बद्ध तथ्यों के योग पर निर्भर करती है। तथ्याख्यान के अन्तर्गत अनेक तथ्यों के अनेकविध सम्बन्धों का विश्लेषण–विवेचन किया जाता है। तथ्यों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ एवं भाव चैतन्य में अनुसंधाता प्रवेश करता है। इसके लिये कभी वह रसदृष्टि तो तो कभी अलंकार दृष्टि, कभी ध्वनिदृष्टि तो कभी औचित्य दृष्टि को आधार बनाता है। शोधार्थी कुछ ज्ञान, कुछ प्राकल्पना और उत्साह के साथ अनुसंधान प्रक्रिया के द्वारा किसी परिणाम तक पहुंचता है। इस परिणाम के लिये शोध की तीन अवस्थायें हैं।

1. प्रतिज्ञानुसार सामग्री संकलन
2. वर्गीकरण विवेचन
3. शोध प्रक्रिया द्वारा प्राप्त निष्कर्ष

अतः स्पष्ट है कि अनुसंधान का उद्देश्य ज्ञान–विस्तारण है। इस विस्तार में मानव का मनोजगत–कल्पना जगत एवं भाव जगत सम्मिलित है।

आलोचना की प्रकृति – आलोचना शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक लुच दर्शने (दर्शन का अर्थ देने वाली) धातु से निष्पन्न होता है। आ समन्तात् (चारों तरफ) लोचनम् अलोचनम्–अवलोकनम् तस्य स्त्रियां टाप् इति आलोचना। अर्थात् सब ओर से देखना परखना। इस प्रकार आलोचना का पूर्णार्थ हुआ किसी वस्तु या कृति को पूर्णतया देखना–समझना। आलोचना में कृति का अर्थ, व्याख्या, निष्कर्ष और मूल्यांकन ये चार सोपान हैं। आलोचना सामान्यतः कृति के प्रति अध्येता की प्रभावपरक प्रतिक्रिया है।

आलोचना का विषय पूर्व में ही ज्ञात होता है। आलोचक का प्रमुख कार्य रचना में व्यक्त विषय एवं उसमें स्थित रचयिता की अनुभूति के मर्म का उद्घाटन करना है। इसमें भाषा शैली एवं रचना का सामाजिक एवं समसामयिक परिवेश भी आ जाता है। आलोचना कार्य के चार सोपान हैं –

1. आलोच्य कृति का मूल भाव समझना
2. कृति में केन्द्रित अर्थ एवं अन्य परिवेशों का परीक्षण एवं विश्लेषण
3. सम्पूर्ण कृति की कलात्मकता का उद्घाटन
4. कृति का सर्वांगीण मूल्यांकन

अनुसंधान एवं आलोचना में अनेक स्तरों पर समानता है वहीं स्वरूप, दृष्टिकोण, पद्धति एवं अभिव्यक्ति के स्तर पर अन्तर भी है। अनुसंधान विज्ञानात्मक, बुद्धिप्रधान एवं तथ्यात्मक है। आलोचना में कला, अभिरूचि, संस्कार एवं भावनात्मक दृष्टिकोण की प्रधानता है। डॉ. नगेन्द्र ने आलोचना और अनुसंधान के लक्ष्य एवं प्रवृत्ति को एक मानते हुये भी उनकी पृथक् सत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार– "मानवीय चिन्तन और अनुभूति – मानव चेतना की समृद्धि और परितोष ही साहित्यिक अनुसंधान का चरम लक्ष्य है। उधर साहित्यिक आलोचना का भी चरम लक्ष्य इसके अलावा और क्या हो सकता है? दोनों में जो भेद है वह लक्ष्य का, बलाबल का है। अनुसंधान में ज्ञान पक्ष प्रबल है और आलोचना में संस्कार। लक्ष्य की यह एकता ही पद्धतियों के साम्य के लिये उत्तरदायी है।"

डॉ. उदयभानु सिंह ने अनुसंधान ओर आलोचना में कुछ साम्य बताते हुये दोनों के अंतर पर ही अधिक बल दिया है।

"अनुसंधान स्वरूपतः विज्ञानप्रधान है, बुद्धिप्रधान है, चिन्तन से ओतप्रोत है। उसकी सम्पूर्ण प्रविधि प्रक्रिया वैज्ञानिक है। आलोचना स्वरूपतः कलाप्रधान होती है। अपने प्रयोजन के स्वरूप की आलोचना भावयोग प्रधान होती है। अनुसंधान ज्ञानयोग प्रधान होता है।"

अनुसंधान में विषय के क्षेत्र एवं उद्देश्य को स्पष्ट किया जाता है। अर्थात् इसके प्रयोजन अथवा कारक की खोज की जाती है। कारण के साथ रचना के आधारभूत मूल स्रोतों का भी पता अनुसंधान में लगाया जाता है। आलोचना का कार्य शोध के द्वारा प्रस्तुत स्थापना के बाद आरंभ होता है। प्राप्त रचना की संवेदना संबंधी सूक्ष्म भावभूमियों का मानवीय चेतना के सन्दर्भ में विवेचना–विश्लेषण आलोचना का कार्य है।

अनुसंधान एवं आलोचना में अन्तर इस प्रकार भी समझाया जा सकता है–

1. अनुसंधान ज्ञान प्रधान, तथ्यप्रधान होता है वहीं आलोचना में ज्ञान एवं तथ्य के माध्यम से प्रभाव एवं चैतन्य का प्रधान्य भी होता है।
2. अनुसंधान में वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है वहीं आलोचना कला प्रधान एवं भाव प्रधान प्रक्रिया के आश्रित होती है।
3. अनुसंधान में तथ्य के प्रति कारण और विषय के मूलस्रोत पर बल दिया जाता है जबकि तथ्य के प्रति कैसे और क्या अर्थात् रचना की राग सम्बद्धता और गांभीर्य का विवेचन आलोचना में किया जाता है।
4. अनुसंधान में मूल वस्तु के अन्वेषण एवं तात्विक प्रस्तुतीकरण का महत्व होता है जबकि आलोचना में शब्दार्थ के अनुरूप प्राप्त विषय या वस्तु के अनुभूति पक्ष के निरीक्षण–परीक्षण का महत्व होता है।
5. अनुसंधान में विषय को प्रमुख माना जाता है जबकि आलोचना में विषय के साथ आलोचक की प्रतिक्रिया भी प्रकट होती है।
6. अनुसंधान में अल्पज्ञात या अज्ञात तथ्य के अन्वेषण का महत्व होता है। इसका क्षेत्र विस्तृत होता है। आलोचना में प्राप्त रचना के विवेचन एवं विश्लेषण का महत्व होता है। इसका क्षेत्र सीमित होता है।
7. अनुसंधान में प्रत्यक्ष बौद्धिकता के वस्तुपरक ज्ञान का महत्व होता है। आलोचना में केवल बौद्धिक एवं भावनात्मक प्रक्रिया का महत्व होता है।
8. अनुसंधान अंगी है। आलोचना अंग है।
9. अनुसंधान में तटस्थता, स्थिरता, निष्पक्षता का ध्यान रखा जाता है जबकि व्यक्तिगत प्रभाव प्रक्षेपण की प्रधानता के कारण आलोचना में तटस्थता, स्थिरता एवं निष्पक्षता की संभावना बहुत

कम है।

1.6 अनुसंधान कला है या विज्ञान

अनुसंधान मूलतः तीन प्रकार के विषयों पर किया जाता है। वैज्ञानिक विषय, मानविकी विषय, साहित्यिक विषय। मानव जाति की ज्ञान वृद्धि एवं सुख समृद्धि के लिये उक्त तीनों शोध क्षेत्र अत्यंत उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है विज्ञान भौतिक जगत् का, साहित्य भाव जगत का तथा मानविकी (इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन, राजनीति एवं मनोविज्ञान आदि) बुद्धि विचार जगत् का प्रतिनिधित्व करती है। अनुसंधान कला है अथवा विज्ञान यह प्रश्न इन्हीं अनुसंधान प्रकारों में समाहित है।

विशिष्ट ज्ञान–विज्ञान है। इस विज्ञान में भौतिक पदार्थ विचार तत्व सम्मिलित है। आज विज्ञान के अन्तर्गत प्राकृतिक विज्ञान एवं भौतिक विज्ञान को भी स्वीकृत किया गया है। इस प्रकार वैज्ञानिक शोध के अन्तर्गत भौतिक विषयों का ही अध्ययन किया जाता है। ये विषय इंद्रिय बोधगम्य एवं परीक्षण योग्य होते हैं। विज्ञान की इस विशिष्ट व्याख्या के आधार पर वैज्ञानिक अनुसंधान के स्वरूप को सहज ही समझा जा सकता है। अपने सैद्धांतिक एवं पारिभाषिक अर्थ में वैज्ञानिक शोध वस्तु मूलक है और उसका परिणाम भी वस्तुपरक है। इस अनुसंधान में ज्ञान वस्तु के माध्यम से प्रतिपादित होता है। इस अनुसंधान में प्रकृति एवं जीव सृष्टि के संघटक तत्वों तथा उनकी शक्तियों का अनुसंधान करके उन्हें प्रतिष्ठित किया जाता है। सामाजिक एवं मानविकी के विषय के अनुसंधान का लक्ष्य मानव की जिजीविषा के विविध स्तरों का उद्घाटन करना है। अर्थात् विज्ञान में शुद्ध वस्तु मूलक एवं मानव संबंध निरपेक्ष एवं यथातथ्य अनुसंधान को ही स्थान है। सामाजिक विज्ञानों में मानव संदर्भ भी जुड़ा है। अतः वस्तुमूलकता एवं वैज्ञानिक दृष्टि वैज्ञानिक शोध की पहली शर्त है। प्रयोग एवं परीक्षण इस शोध की दूसरी अनिवार्य शर्त है। यह शोध तत्व एवं तथ्य परक है।

साहित्यिक अनुसंधान में सांसारिक जीवन के भौतिक एवं व्यावहारिक पक्षों का प्राधान्य है। वैज्ञानिक शोध द्वारा जहां जीवन इच्छा की आरंभिक एवं आंशिक पूर्ति ही होती है वहीं से साहित्यिक अनुसंधान आरंभ होता है अर्थात् भौतिक जिजीविषा की पूर्ति के अनन्तर अनुभूति परक मनोरागात्मक एवं मानव चेतना की समृद्धि के विश्व का प्रारंभ होता है। वैज्ञानिक अनुसंधान का शोध कार्य एवं शोध उद्देश्य पूर्णतः प्रत्यक्ष, निश्चित एवं ठोस होता है अतः एक सतर्क नियमितता के अन्तर्गत व लगातार काम करता रहता है। इसमें उसके भटकने की संभावना प्रायः नहीं है। साहित्यिक अनुसंधान का कार्य प्रकट तथ्यों से प्रारंभ होकर भाव परक एवं अनुभूति जन्य सत्य तक जाता है। तथ्य उसके साधन हैं जिससे उन्हें सत्य साध्य प्राप्त करना होता है। साहित्यिक अनुसंधान वस्तुपरक लक्ष्यों के साथ–साथ देशकाल के अनुरूप परिवर्तित विकसित होती हुयी मानव चेतना को भी साथ लेकर चलता है। इस प्रकार के साहित्यिक अनुसंधान में कला निर्माण की तरह अनुमान एवं कल्पना जगत् का भी समावेश होता है।

अतः उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के अनुसंधानों (वैज्ञानिक व साहित्यिक) से परिलक्षित होता है कि अनुसंधान कला भी है और विज्ञान भी क्योंकि विज्ञान में जिस प्रकार ज्ञान का क्रमबद्ध तथ्यात्मक एवं प्रायोगिक परीक्षण के आधार पर अध्ययन किया जाता है उसी प्रकार अनुसंधान में भी शोध समस्या को पहचान कर उससे संबंधित तथ्यों का संकलन कर उन्हें क्रमबद्ध करके आवश्यकता पड़ने पर प्रयोग परीक्षण करके अनुसंधान किया जाता है। जिस प्रकार कला में कल्पना एवं परिकल्पना के आधार पर अध्ययन एवं प्रक्रिया पूर्ण की जाती है उसी प्रकार कला विषयों (मानविकी सामाजिक विज्ञान आदि) में भी अनुसंधान किया जाता है।

1.7 सारांश

इस इकाई से आपने जाना कि अनुसंधान का अर्थ क्या है। उसका क्या स्वरूप है। अनुसंधान के चार अंगों का उल्लेख भी इस इकाई में किया गया जो अनुसंधान स्वरूप को स्पष्ट करता है। इकाई में

अनुसंधान के प्रकारों का भी वर्णन किया गया है। अनुसंधान के दो प्रकार होते हैं। 1. विशुद्ध अनुसंधान 2. प्रायोगिक अनुसंधान।

इकाई में आपने यह जाना कि शोध से क्या तात्पर्य है तथा शोध का कौन सा पर्याय उसके सर्वाधिक निकट है। इन पर्यायों के नाम – 1. अनुसंधान 2. अन्वेषण 3. गवेषण 4. खोज 5. मीमांसा 6. अनुशीलन 7. सर्वेक्षण 8. आलोचना है। इनमें से अनुसंधान इनमें सर्वाधिक युक्तियुक्त है। इकाई में अनुसंधान और आलोचना के अन्तर पर भी दृष्टिपात किया गया है। आलोचना के स्वरूप, प्रकृति पर भी विचार किया गया अनुसंधान एवं आलोचना में प्रमुखतः 9 अन्तरों को बताया गया। ये अन्तर तथ्यात्मक, वैज्ञानिक प्रक्रिया, विषय क्षेत्र, संरचना, के आधार किये गये। जैसे– अनुसंधान ज्ञान प्रधान, तथ्य प्रधान होता है वही आलोचना में ज्ञान एवं तथ्य के माध्यम से प्रभाव एवं चैतन्य का प्राधान्य भी होता है। अनुसंधान के कई रूप होते हैं, जीवनी, पाठानुसंधान, संदर्भ ग्रन्थ सूची परिशिष्ट, ऐतिहासिकता, भाषा, वैज्ञानिक अध्ययन आदि शुद्ध तथ्य संकलन पर आलोचना में इनमें से किसी भी एक रूप की भूमिका नहीं होती। अनुसंधान में वैज्ञानिक प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता है वहीं आलोचना कला प्रधान एवं भाव प्रधान प्रक्रिया के आश्रित होती है।

इस इकाई में आपने यह भी जाना कि अनुसंधान में सत्य से क्या तात्पर्य है तथा तथ्य का अर्थ है दोनों में क्या अन्तर है।

तथ्य वस्तुमूलक होता है तथा सत्य यथार्थ के माध्यम से तर्कसम्मत रीति से, ईमानदारी से और निष्ठापूर्वक किया गया किसी घटना, वक्तव्य या कार्य के प्रति निर्णय है। अनुसंधान का लक्ष्य इसी सत्य को प्रतिष्ठित करना है। तथ्य एवं सत्य इन्हीं दोनों से अनुसंधान पूर्ण होता है। इस इकाई के अन्तिम भाग में बताया गया कि अनुसंधान के वैज्ञानिक एवं साहित्यिक आयाम हैं जो उसे वैज्ञानिक एवं कलात्मक दृष्टि प्रदान करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त सम्पूर्ण विषयों– अनुसंधान–स्वरूप, शोध के पर्याय, सत्य और तथ्य, अनुसंधान और आलोचना में अन्तर, अनुसंधान कला है या विज्ञान आदि की आपने विस्तार से जानकारी ली।

1.8 बोध प्रश्न

1. अनुसंधान का क्या स्वरूप है?
2. अनुसंधान के कितने अंग होते हैं और वे कौन–कौनसे हैं?
3. अनुसंधान के कौन–कौन से प्रकार हैं?
4. विशुद्ध अनुसंधान एवं प्रायोगिक अनंसंधान में क्या अन्तर है?
5. शोध के कितने पर्याय हैं?
6. अनुसंधान से क्या तात्पर्य है?
7. गवेषणा का क्या अर्थ है?
8. सर्वेक्षण किसे कहते हैं?
9. अनुसंधान में सत्य और तथ्य की क्या भूमिका है? दस पंक्तियों में लिखिए।
10. सत्य एवं तथ्य में क्या अन्तर है?
11. अनुसंधान में आलोचना में कोई तीन अन्तर बताइए।
12. आलोचना से क्या तात्पर्य है?
13. "अनुसंधान कला है या विज्ञान" दस पंक्तियों में बताइए।

1.9 उपयोगी पुस्तकें

1. एस.एन. गणेशन, अनुसंधान–प्रविधि सिद्धान्त और प्रक्रिया, इलाहाबाद, लोक भारती प्रकाशन।
2. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, शोध प्रविधि, पंचकुला, आधार प्रकाशन।
3. राम आहूजा, रिसर्च मैथडोलॉजी, जयपुर, रावत प्रकाशन।

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए भाग–1.2
2. देखिए भाग–1.2
3. देखिए भाग–1.2
4. देखिए भाग–1.2
5. देखिए भाग–1.3
6. देखिए भाग–1.3
7. देखिए भाग–1.3
8. देखिए भाग–1.3
9. देखिए भाग–1.4
10. देखिए भाग–1.4
11. देखिए भाग–1.5
12. देखिए भाग–1.5
13. देखिए भाग–1.6

इकाई–2

अनुसंधान–प्रकार, प्रयोजन, विशेषता, अधिकारी

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 अनुसंधान का अर्थ

2.3 अनुसंधान के प्रकार

2.4 अनुसंधान के प्रयोजन

2.5 विशेषता

2.6 अधिकारी

2.7 सारांश

2.8 शब्दावली

2.9 बोध प्रश्न

2.10 उपयोगी पुस्तकें

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

प्रत्येक कार्य की क्रियान्विति में आने वाली वास्तविक समस्याओं को अनुभूत कर वैज्ञानिक विधि से समाधान करना एवं उपलब्धि स्तर का अंकन करते हुए परिणामों के आधार पर पहुँचना अनुसंधान है। अनुसंधान अनुसन्धाताओं को उद्देश्याधारित उपलब्धि हेतु विभिन्न प्रक्रियाओं को जानने एवं करने हेतु जागरुक करते हैं।

सामाजिक परिवेश द्रुतगति से परिवर्तित हो रहा है, अतः सर्वत्र विकास दिखाई देता है, वहीं विभिन्न समस्याएं भी उभर कर सामने आ रही हैं। शिक्षा क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा है। एतदर्थ अनुसंधान के कौन–कौन से तरीके हो सकते हैं। इसका प्रयोजन क्या है ? अनुसंधान का अधिकारी कौन हो सकता है? इसका अध्ययन प्रस्तुत इकाई में कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

समाज एवं राष्ट्र की प्रगति को शोध के परिणाम द्वारा पहचाना जाता है क्योंकि समाज एव राष्ट्र की मूल समस्याओं का समाधान अनुसंधान कार्यो द्वारा किया जाता है। अनुसंधान कार्यों द्वारा ज्ञान वृद्धि के साथ–साथ मानव विकास तथा कल्याण को महत्व दिया जाता है। अनुसंधान के द्वारा उन मौलिक प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया जाता हैं जिनका उत्तर अभी तक उपलब्ध नहीं हैं। ये उत्तर मानवी प्रयासों पर आधारित होते हैं। अनुसंधान कार्यों द्वारा उन प्रश्नों का उत्तर खोजने का प्रयास किया जाता है जिनके उत्तर साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं अथवा मनुष्य की जानकारी में नहीं हैं। इस इकाई में शिक्षार्थी अनुसंधान के कौन–कौन से प्रकार हो सकते हैं? उत्तम अनुसंधान के क्या–क्या गुण हों? अनुसंधान के क्या–क्या प्रयोजन हों? इन सभी घटकों का परिज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

2.2 अनुसंधान का अर्थ

वर्तमान परिपेक्ष्य में वैज्ञानिक प्रगति के साथ–साथ हमारे जीवन में अनुसंधान की उपयोगिता है क्योंकि

अनुसंधान का प्रयोग अब ज्ञान की प्रत्येक शाखा के गहन अध्ययन के लिए हो रहा है। अनुसंधान एक प्रक्रिया है जिसमें प्रदत्तों के विश्लेषण के आधार पर किसी समस्या का विश्वसनीय समाधान किया जाता है। अनुसंधान एक व्यवस्थित तथा सुनियोजित प्रक्रिया है जिनके द्वारा मानवीय ज्ञान में वृद्धि की जाती है और मानव जीवन को सुगम तथा प्रभावी बनया जाता है। शोध कार्यों से मनुष्यों के तनावों को कम किया जाता है। वैज्ञानिक समस्याओं के समाधान भी एक प्रभावशाली पद्धति है।

शोध में नवीन तथ्यों की खोज की जाती है तथा नवीन तथ्यों का प्रतिपादन किया जाता है। अनुसंधान कार्यों द्वारा प्राचीन प्रत्ययों तथा तथ्यों का नवीन अर्थापन (New Interpretation) किया जाता हैं। ऐसी परिस्थितियों की जानकारी की जाती है जिनमें विशिष्ट तथ्य क्रियाशील होते हैं तथा अन्य क्रियाशील नहीं होते जबकि वे तथ्य समान होते हैं।

अनुसंधान की प्रक्रिया में वैज्ञानिक निरीक्षण तत्व प्रमुख है। वैज्ञानिक निरीक्षण सदैव क्रमबद्ध, सोद्देश्य एवं सुनियोजित होता है। 'अनुसंधान' में भी ऐसा ही निरीक्षण आता है। निरीक्षण के अतिरिक्त 'अनुसंधान' में अगला प्रमुख तत्व समस्या का समाधान खोजना है किन्तु यह समाधान अनुमानित न होकर 'अन्वेषण' का परिणाम होगा। अतः अनुसंधान की प्रक्रिया एक तार्किक प्रक्रिया है जिसमें विशिष्टता और गहनता भी है किन्तु यह तार्किक प्रक्रिया केवल शाब्दिक तर्कों पर आधारित न होकर प्रदत्तों की ठोस भूमि पर आधारित है।

'अनुसंधान' में नवीन तथ्यों की खोज की जाती है तथा नवीन सत्यों का प्रतिपादन किया जाता है। शोध कार्यों द्वारा प्राचीन प्रत्ययों तथा तथ्यों का नवीन अर्थापन किया जाता है। ऐसी परिस्थितियों की जानकारी की जाती है जिनमें विशिष्ट तथ्य विकसित होते हैं। वास्तव में अनुसंधान का उद्‌गम एक ऐसे शब्द से हुआ है, जिसका अर्थ 'सब दिशाओं में जाना' अथवा 'खोज करना होता है' समाज तथा राष्ट्र की समस्याओं के समाधान करने के लिए शोध कार्यों की अत्यधिक आवश्यकता है। वास्तव में शोध कार्यों के परिणामों को जान कर ही समाज तथा राष्ट्र की प्रगति करना संभव हैं। शोध कार्यों के परिणामों को जानकर ही मानव कल्याण तथा ज्ञान की वृद्धि की जा सकती है। वास्तव में अनुसंधान की व्यापक परिभाषा करना कठिन है। अंग्रेजी में अनुसंधान को 'रिसर्च' कहते है जो दो शब्दों से मिलकर बना है –

रिसर्च – रि. सर्च

'रि' का अर्थ होता है 'बार–बार' तथा 'सर्च' का अर्थ है 'खोजना'। अतः सम्पूर्ण 'Research' शब्द से एक ऐसे सम्मिलित अर्थ का बोध होता है जिसका उद्देश्य 'खोज की पुनरावृत्ति' होता है अथवा एक 'अन्वेषण' होता है। किसी तथ्य की बार–बार खोज करना, दूसरे शब्दों में खोज की पुनरावृत्ति कराना रिसर्च है।

अनुसंधान किसी समस्या के समाधान का नवीन ज्ञान प्राप्त करने की एक वैज्ञानिक एवं व्यवस्थित विधि है या किसी अर्थपूर्ण अर्थ प्रश्न का व्यवस्थित सोद्देश्य तथा वस्तुनिष्ठ ढंग से प्राप्त किया गया हल अनुसंधान कहलाता है।

वास्तव में अनुसंधान एक दीर्घकालीन वैज्ञानिक छानबीन है जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम समस्या को चुना जाता है, उसके महत्त्व को देखकर उसे परिभाषित एवं सीमांकित किया जाता है, वैज्ञानिक आधार पर परिकल्पना का निर्माण किया जाता है उसके पश्चात् तथ्यों को एकत्रित किया जाता है, उनका वर्गीकरण करके निष्कर्ष निकाला जाता है और अन्त में समाधान प्रस्तुत किया जाता हैं। अर्थात् अनुसंधान एक वैज्ञानिक खोज हैं जो क्रमबद्ध प्रयासों द्वारा ईमानदारी के साथ बुद्धिपूर्वक पूर्णरूपेण की जाती है।

परिभाषा– अनुसन्धान में सफल व्यक्ति वही कहा जा सकता है जिसने–

(1) किसी नये सत्य की खोज की हो।

(2) पुराने सत्यों को नये ढंग से प्रस्तुत किया हो।

(3) प्रदत्तों में व्याप्त नये सम्बन्धों का स्पष्टीकरण किया हो।

अतः अनुसन्धान में नये सत्य की खोज के साथ–साथ पुराने सत्यों और सिद्धान्तों को नया रूप देना, पुराने नियमों को समयानुरूप नवीनता प्रदान करना, प्रदतों एवं तथ्यों को नये सिरे से स्पष्ट करना, उनके मध्य स्थित अन्तर्सम्बन्धों का विश्लेषण करना भी सम्मिलित है।

इस प्रकार 'अनुसन्धान' शब्द की एक निश्चित परिभाषा करने के लिए कुछ अन्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं पर विचार कर लेना उचित होगा।

मेकग्रेथ तथा वाटसन ने 'अनुसन्धान' की परिभाषा इस प्रकार दी है–'अनुसन्धान एक प्रक्रिया है, जिसमें खोज प्रविधि का प्रयोग किया जाता है। जिसके निष्कर्षों की उपयोगिता हो, ज्ञान प्रगति के लिए प्रोत्साहित करे, समाज के लिए सहायक हो तथा मनुष्य को अधिक प्रभावशाली बना सके। समाज तथा मनुष्य अपनी समस्याओं को प्रभावशाली ढंग से हल कर सके।'

"Research is a process which has utility to the extent that class of enquiry employed as the research activity which is capable of adding knowledge of stimulating progress and man, relates more efficiently and affectively to the problems that society and man perpetuates and creates."

-J.H.Mcgrath and D.E.Watson

रेडमेन एवं **मोरी** के मतानुसार–'नवीन ज्ञान की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित प्रयास ही अनुसन्धान है।'

"Research is a systematised effort to gain new knowledge."

-Redman and Morie

इन परिभाषाओं से परिलक्षित होता है कि अनुसन्धान एक प्रक्रिया है। जिसके द्वारा समस्याओं का समाधान करके ज्ञान में वृद्धि की जाती हैं। वस्तुतः ज्ञान वृद्धि की प्रक्रिया ही अनुसन्धान है। आज के समय में सामाजिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में अनुसन्धान का कार्य चल रहा है जो दिन प्रतिदिन उन्नति की ओर है।

2.3 अनुसन्धान के प्रकार

अनुसन्धान के उद्देश्य, स्थान, प्रतिचयन, नियन्त्रण, विषय–सामग्री की प्रकृति तथा अध्ययन पद्धति के आधार पर अनेक प्रकार के हो सकते हैं। अनुसन्धान से सम्बन्धित कुछ धारणाएं ऐसी होती हैं कि जो अतीत में घटित हो चुकी हैं और कुछ का अध्ययन वर्तमान में उनका यथा स्वरूप अब है, उसी को मध्ये नज़र रखते हुए भावी स्वरूप को जानने के लिए वर्तमान समय में प्रयोग करने होते हैं। अतः अतीत, वर्तमान एवं भावी स्वरूप को ध्यान में रखते हुए अनुसन्धानों को निम्न भागों में बांटा जा सकता है–

1. **ऐतिहासिक अनुसन्धान (Historical Research)–** इस अनुसन्धान के अन्तर्गत अतीत की घटनाओं, संस्थाओं, समूहों, संगठनों परम्पराओं आदि का विवेचन, अन्वेषण तथा विश्लेषण किया जाता है। अनुसन्धानकर्ता को अपनी अध्ययन समस्या को स्पष्ट करना होता हैं, साथ ही उसको सीमाबद्ध करना होता है तथा परिकल्पना की रचना करनी होती है। इस अनुसन्धान का उद्देश्य अतीत की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही नहीं है बल्कि उन घटनाओं के लगातार विकास का विश्लेषण करना है जो कि इतिहास हैं तथा विभिन्न कालों में उदित एवं विकसित हुई है। वैज्ञानिक तन्त्र के कारण इस प्रकार के अनुसन्धानों में न्यूनता आयी है।
2. **सर्वेक्षण अनुसंन्धान (Survey Research)–** सर्वेक्षण अनुसन्धान का स्वरूप अन्वेषणात्मक होता है तथा अनुसन्धान की प्रारम्भिक स्थिति में यह अत्यधिक उपयोगी होता है। इस अनुसन्धान में साधारण घटनाओं से सम्बन्धित चरों का अध्ययन किया जाता है जैसे– अध्ययनरत विधार्थियों की पर्यावरण चेतना में लिंग तथा आयु के चरों में क्या सम्बन्ध है? सर्वेक्षण सामाजिक तथा शैक्षिक क्षेत्र की समस्या से सम्बन्धित आंकड़ों के संकलन का प्रमुख साधन एवं

उपकरण हैं। Survey शब्द Sur तथा Vey से मिलकर बना है। जिसका अर्थ ऊपर से देखना, अवलोकन तथा अन्वेषण होता है। सर्वेक्षण जनसंख्या सम्बन्धित, सामाजिक पर्यावरण सम्बन्धी, सामाजिक क्रिया से सम्बन्धित तथा विचार एवं अभिव्यक्ति सम्बन्धि अनेकविध होते हैं। इस अनुसंन्धान में सर्वप्रथम अध्ययन सम्बन्धी सामान्य तथा विशिष्ट समस्याओं का स्पष्टीकरण व निश्चय करना होता है। साथ ही सर्वेक्षण के उद्देश्य का विवरण प्रस्तुत करना होता है।

3. **विवरणात्मक अनुसन्धान–** विवरणात्मक अनुसन्धान के अन्तर्गत वर्तमान की घटनाओं, तथ्यों तथा सम्बन्धों के अध्ययन को अधिक बल तथा महत्व दिया जाता हैं एवं यह ज्ञात किया जाता है कि उनका वर्तमान स्वरूप कैसा है? विवरणात्मक अनुसन्धान में प्रायः क्षेत्र अध्ययन, साक्षात्कार, अनुसूची, प्रश्नावली, अन्तर्वस्तुविश्लेषण आदि अध्ययन विधियां शामिल रहती हैं।

4. **प्रायोगिक अनुसन्धान (Experimental Research)–** प्रायोगिक अनुसन्धान में चरों के कार्यात्मक सम्बन्धों का अध्ययन कठोर वैज्ञानिक मापदण्डों पर नियन्त्रित स्थितियों के अन्तर्गत किया जाता है और यथासम्भव चरों के पारस्परिक सम्बन्धों में कार्यकारण के सम्बन्ध की खोज की जाती है।

5. **क्रियात्मक अनुसन्धान (Action Research)**–स्थानीय क्षेत्र परिवेश से सम्बन्धित क्रियात्मक अनुसन्धान एक ऐसा व्यवहारपरक प्रायोगिक अनुसन्धान है जिसके अन्तर्गत किसी एक संस्था, विभाग, संगठन एवं कारखाने आदि की वर्तमान दैनिक एवं व्यवहारिक समस्याओं के वस्तुनिष्ठ आधार पर तत्कालिक समाधान खोजने के लिए सम्बन्धित संस्था के कर्मचारियों द्वारा संस्था के स्तर पर विधिवत् रूप वस्तुनिष्ठ तरीके से किया जाता है। इस अनुसन्धान में अनुसन्धानकर्ता का उद्देश्य कोई एक अनुसन्धान उपाधि को प्राप्त करना नहीं बल्कि एक स्थानीय परिवेश में ही आवश्यक सुधार लाना होता हैं।

इसके अतिरिक्त अनुसन्धानों को दो और भागों में बांटा जा सकता है –

1. **मूलभूत अनुसंधान (Fundamental Research) –** मूलभूत अनुसन्धान में प्रायः व्यापक रूप से वैज्ञानिक तथ्यों, नियमों तथा सिद्धान्तों की खोज होती है। ऐसे अनुसंन्धान में सैद्धान्तिक ज्ञान की खोज पर अधिक बल दिया जाता तथा इस प्रकार के सैद्धान्तिक ज्ञान की अनुप्रयुक्ति भविष्य में ही हो सकती है। वर्तमान की समस्याओं से ऐसे अनुसन्धान का सम्बन्ध नहीं होता है।

2. **अनुप्रयुक्त अनुसन्धान (Applied Research)–** प्रकृत के अनुसन्धान का सम्बन्ध प्रायः व्यवहारिक समस्याओं के वर्तमान समय के समाधान से रहता है। इसका ध्येय स्पष्टतः उपयोगितावादी होता है तथा उसके परिणामों को तत्काल ही उपयोग में लाया जाता है। क्रियात्मक अनुसन्धान इसी के अन्तर्गत आता है।

2.4 अनुसन्धान का प्रयोजन

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" अथवा "प्रयोजनं विना मन्दोऽपि न प्रवर्तते" के अनुसार अनुसन्धानों का प्रयोजन प्रगति तथा श्रेष्ठ जीवन का निर्माण करना है। अनुसन्धान का प्रयोजन समस्याओं का वैज्ञानिक ढंग से विश्वस्त उत्तर ज्ञात करना है। प्रत्येक अनुसन्धान के अपने प्रयोजन होते हैं तथापि लक्ष्यों के दृष्टिकोण से वर्णनात्मक, निर्माणात्मक, निदानात्मक एवं परिकल्पनात्मक अनुसन्धान माने जाते हैं।

जिस सीमा तक व्यक्ति को उपयुक्त बनाने के लिए तथा सम्पूर्ण समाज का विकास करने के लिए अच्छी शिक्षा को एक सबल आधार के रूप में मान्यता प्रदान की जा रही है, उसी सीमा तक शैक्षिक प्रथाओं और नीतिओं को समुन्नत बनाने के लिए आजकल शिक्षा–क्षेत्र में अनुसन्धान की आवश्यकता भी उत्तरोत्तर स्वीकार की जा रही है। श्रेष्ठतर एवं प्रभावकारी अध्यापन–पद्धतियों, अधिक सन्तोषजनक मूल्यांकन प्रविधियों, अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न अधिगम–सामग्रियां, उपयुक्त सुखद भौतिक सुविधाओं एवं प्रशासनात्मक संगठन की अधिक कुशल व्यवस्थाओं आदि की खोज के लिए हमारे शिक्षाशास्त्री निरन्तर

अन्वेषण कार्य में संलग्न हैं। इन दिशाओं में अन्वेषण इसलिए और भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि विगत कुछ ही दशाब्दियों में सम्पूर्ण संसार में शिक्षा का अत्यन्त तीव्र गति से प्रसार हुआ है। शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति के पूर्णतम विकास के अधिकार को सभी जगह मान्यता प्राप्त हो चुकी है। अतः प्रत्येक देश अब कम से कम समय के अन्दर अपनी जनता को सार्वलौकिक शिक्षा प्रदान करने का लक्ष्य निर्मित कर रहा है। परिणामस्वरूप, ऐसी अनेक नवीन शैक्षिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं, जिनकी अब तक कल्पना भी नहीं की गई थी। यही नहीं शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में पुरानी समस्याओं के सफल समाधान के लिए और साथ ही आधुनिक युग द्वारा विकसित शैक्षिक उद्देश्यों को उनके यथार्थ रूप में समझने के लिए यह अनुभव किया गया है कि प्रशिक्षित अनुसंधनकर्त्ताओं द्वारा ऐसे अनुसंधान कार्य सम्पन्न होने चाहिए जो गुण तथा मात्रा दोनों ही में उपयुक्त एवं पर्याप्त हों। निम्नांकित उद्धरण इसी तथ्य को अत्यन्त प्रभावकारी रूप से स्पष्ट करता हो।

मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के अनुच्छेद 26 (i) में कहा गया है – प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। कम से कम प्रारम्भिक तथा आधारभूत स्तरों पर शिक्षा निःशुल्क होगी। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य होगी। प्रावैधिक तथा व्यवसायिक शिक्षा अधिकांश लोगों को सामान्य रूप से प्राप्त होगी और उच्चतर शिक्षा भी सभी को योग्यता के आधार पर समान रूप से उपलबध होगी।

प्रयत्न एवं भूल से कितना ही सीखा जाय, वास्तविक व्यवहार द्वारा कितना ही अनुभव अर्जित किया जाय, आकस्मिक अवलोकनों, परम्पराओं अथवा समूहों या व्यक्तियों द्वारा की गई संस्तुतियों द्वारा कितनी ही बुद्धिमत्ता अर्जित की जाय, किन्तु यह सब आज संसार भर के शिक्षा–क्षेत्र के अन्तर्गत जितनी तीव्र प्रगति व सुधार की आवश्यकता है, उसे ला सकने की संभावना प्रस्तुत नहीं कर सकते। शिक्षा में क्रमबद्ध अनुसंधान पर आधारित निर्णय लेकर, निश्चय रूप से समय, धन व शक्ति की बचत करके और बहुत–सी असफलता तथा भग्नाशा से रक्षा करके, हमें प्रगति का पथ प्रदर्शित करना है।

पब्लिक एजुकेशन की अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस ने अपनी बहुत सी सिफारिशों में किसी भी शिक्षा सम्बन्धी कार्यकलाप को आरंभ करने से पहले बालक को मनोवैज्ञानिक शैक्षिक रूप से जानने की आवश्यकता पर बल दिया है। यह भी सिद्ध है कि राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा के संगठन के लिए अनुसंधान अनिवार्य आधार है, विशेषतया पाठ्यचर्चा, पाठ्यक्रम, पाठन–विधि, शिक्षा की व्यवस्था, उसकी योजना और विद्यालयों की इमारतों सम्बन्धी बातों में।

भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा प्रणाली सब ओर से दोषपूर्ण ठहराई जाती है। राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री, सामान्य नागरिक सभी लगभग सर्वदा इसको निरर्थक, असंगत, अनुपयुक्त, अनुपयोगी, अव्यवहार्य, एकांगी आदि दुर्गुणों से पूर्ण कहते हैं।

प्रयोजन के आधार पर अनुसंधान चार वर्गो में विभाजित हो सकते हैं –

1. खोजी अथवा निर्माणात्मक – किसी विषय पर जानकारी एकत्रित करना।
2. वर्णनात्मक – वर्ग, व्यक्ति, स्थिति के गुणों की सही अभिव्यक्ति।
3. निदानात्मक – किसी तथ्य की तथा उसके अन्य वस्तुओं, तथ्यों से सम्बन्धों की आवृत्ति।
4. परिकल्पना–परीक्षण – चरों के कार्य–कारण सम्बन्धों की उपकल्पनाओं को जाँचना।

2.5 विशेषता

अनुसंधान एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा समस्याओं का समाधान करके ज्ञान में वृद्धि की जाती है। ज्ञान वृद्धि की प्रक्रिया ही अनुसंधान है। यह प्रक्रिया ईमानदारी से कर, गहन अध्ययन किया जाता है, साथ ही विवेक तथा समझदारी से काम लिया जाता है। समस्या के संदर्भ में तथ्यों की खोज के प्रामाणिक निष्कर्ष प्राप्त किये जाते हैं। समस्त अनुसंधान समस्या केन्द्रित होते है।

अनुसंधान की प्रमुख विशेषताऐं निम्न हैं –

1. अनुसंधान सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समस्याओं का समाधान कर प्रगति का पथ प्रशस्त करता है।
2. अनुसंधान एक वैज्ञानिक अन्वेषण पद्धति है अतः अनुसंधान एक व्यवस्थित नियंत्रित, निरपेक्ष, वस्तुनिष्ठ, गहन तथा आनुभाविक अध्ययन होता है।
3. अनुसंधान अत्यन्त उद्देश्यपूर्ण, धैयपूर्ण तथा विवेकपूर्ण होता है।
4. अनुसंधान में समस्या से सम्बन्धित परिकल्पना का निर्माण करना होता है जिनसे आनुभाविक तथा मात्रात्मक अध्ययन में सुविधा होती है।
5. अनुसंधान में आंकडों का विश्लेषण वैज्ञानिक तथा सांख्यिकीय पद्धति से किया जाता है इसलिए अनुसंधान का स्वरूप कुशल, विशिष्ट तथा वस्तुनिष्ठ होता है।
6. अनुसंधान में प्राप्त परिणामों तथा सम्बन्धों की पुनरावृत्ति बार–बार की जाती है जिससे सुनिश्चित तथा सुसंगत निष्कर्ष प्राप्त हो सकें।
7. अनुसंधान तार्किक तथा वस्तुनिष्ठ प्रक्रिया है।
8. अनुसंधान द्वारा प्राप्त ज्ञान में क्रमबद्धता, निरन्तरता तथा एकता रहती है तथा यह ज्ञान वैध तथा विश्वसनीय होता है।
9. अनुसंधान द्वारा निष्कर्षों को नियमबद्ध रूप से एक प्रतिवेदन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है ताकि उस क्षेत्र में भविष्य में होने वाले अनुसंधानों में उनका सन्दर्भ सहज रूप से उपलब्ध हो सके।
10. अनुसंधान में व्यक्तिगत पक्षों, भावनाओं तथा विचारों का महत्व नहीं दिया जाता है।
11. अनुसंधान में गुणात्मक तथा परिमाणात्मक प्रदत्तों की व्यवस्था की जाती है और उनका विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं।
12. अनुसंधान में व्यक्तिगत पक्षों, भावनाओं तथा विचारों को महत्व नहीं दिया जाता है। इन प्रभावों के लिए सावधानी रखी जाती है।
13. प्रत्येक अनुसंधान कार्य की अपनी विधि तथा प्रविधियां होती है जो अनुसंधान के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होती हैं।
14. अनुसंधान में मनुष्य का ज्ञान दिन–प्रतिदिन बढता रहता है क्योंकि अनुसंधान के आधार पर नवीन वैज्ञानिक तथ्यों, सामान्य नियमों तथा सिद्धान्तों की रचना होती रहती है।

2.6 अधिकारी

अनुसंधान की सफलता अनुसंधानकर्ता पर निर्भर करती है। समाज विज्ञान अमूर्त तथा व्यक्तिगत समस्याओं से सम्बन्धित होता है। वह खुद भी तो समस्या का एक अंग होता है। अतः उसको निष्पक्ष एवं उदासीन रखना कठिन होता है और निष्कर्षों में भूल या त्रुटि आना स्वाभाविक होता है। ऐसे में विभिन्न पहलूओं के मध्य सामंजस्य स्थापित कर निष्कर्षों तक पहुंच जाने वाला ही अनुसंधान का अधिकारी है। एक श्रेष्ठ अनुसंधान अधिकारी में निम्न गुण होने चाहिए।

(क) विशेष गुण – जो प्रस्तुत अनुसंधान के विषय से सम्बन्धित है।

(ख) साधारण गुण – जो अनुसंधान अधिकारी के चरित्र से सम्बन्धित है।

(क) विशेष गुण –

(1) **विशेषज्ञता** – अनुसंधान अधिकारी को प्रस्तुत विषय का पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसे अपने अनुसंधान से सम्बन्धित साहित्य का भी अध्ययन करना चाहिए। इससे उसे

उपकल्पना के निर्माण में सहायता मिलेगी तथा अनुसंधान का संचालन करने में सहायता मिलेगी। विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किए बिना कभी–कभी भ्रमपूर्ण निष्कर्ष भी प्राप्त हो जाते हैं अथवा ऐसे काम की पुनरावृत्ति हो जाती है जिस पर पहले ही कार्य हो चुका है।

(2) **अनुभव** – अनुसंधान अधिकारी को ज्यों–ज्यों अनुसंधान का अनुभव होता जाता है उसकी मेधा तथा संगठन शक्ति का विकास होता जाता है। उसे अनुभव द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि अनुसंधान कार्य में कौन–कौन सी कठिनाइयां आ सकती हैं? अतः उसके निराकरण के लिए वह पहले से ही तैयार रहता है। अनुसंधान कार्य से उसे विभिन्न अनुसंधान पद्धतियों का ज्ञान हो जाता हैं। वह सहज ही अनुसंधान की रूपरेखा बना लेता है तथा प्राप्त सामग्री से वास्तविक तथ्य की खोज कर सकता है। अनुभवजन्य ज्ञान यथार्थ के निकट होता है।

(3) **अनुसंधान पद्धति का ज्ञान** – अनुसंधानकर्त्ताओं को अनुसंधान से संबंधित प्रणालियों का ज्ञान होना चाहिए। उसे समस्त पद्धतियों का तथा उसकी सीमाओं का ज्ञान होना चाहिए तभी वह अपने अनुसंधान के लिए उचित प्रणाली का चुनाव कर सकेगा इसके अभाव उससे विधि सम्बन्धी भूलें हो सकती हैं जिससे भ्रमपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं। जो अनुसंधान की दिशा बदल सकते हैं।

(4) **निष्पक्षता** – अनुसंधानकर्ता को पक्षपातरहित होना चाहिए। इस संबंध में युंग का कथन इस प्रकार है – "वैज्ञानिक को सामग्री से व्यक्तिगत अथवा भावनात्मक निष्कर्ष निकालने से बचना चाहिए। वह कोई वाद–विवादकर्ता नहीं होता जो पक्ष या विपक्ष का समर्थन करे। वह अपने मन को मुक्त रखता है तथा अपनी धारणाओं एवं निष्कर्षों की जाँच करता हैं वह सदैव ऐसे तथ्यों की तलाश करता है जो सिद्धान्त को नया अर्थ एवं जीवन प्रदान कर सकें। अनुसंधान के न्यादर्श यादृच्छिक विधि से अपनाने चाहिए।"

(5) **अनुसंधान में व्यक्तिगत रुचि** – अनुसंधानकर्ता को अध्ययन में व्यक्तिगत रूचि होनी चाहिए जिससे उसे सदैव प्रेरणा मिलती रहेगी तथा कठिनाई के समय भी उत्साह कम नहीं होगा। व्यक्तिगत रुचि से जो निष्कर्ष प्राप्त होंगे वे समस्या के समाधान में महनीय भूमिका प्राप्त करेंगे।

(ख) सामान्य गुण

अनुसंधान अधिकारी में शोध सम्पादन के कुछ साधारण गुण भी होने चाहिए जो निम्नलिखित हैं –

(1) **अज्ञात के प्रति जिज्ञासा** – सर फ्रांसिस गाल्टन और जॉन ड्यूवी के अनुसार – "वैज्ञानिक प्रवृत्ति का सम्बन्ध तीव्र जिज्ञासा, उर्वर कल्पना तथा प्रायोगिक खोज के प्रति प्रेम से है।" दोनों विद्वानों ने कहा है कि वैज्ञानिक प्रवृति के लिए जिज्ञासा होनी चाहिए। जिज्ञासा की पूर्ति तभी हो सकती है जब उसकी इच्छा हो और साथ ही शक्ति भी हो।

(2) **आत्म–नियंत्रण** – अनुसंधान में आत्मनियंत्रण की भी अत्यधिक आवश्यकता है। विपरीत परिस्थितियों में भी उसका आत्मसंयम भंग नहीं होना चाहिए अर्थात् आत्म नियंत्रण उसकी सबसे बडी विशेषता है। अतएव अनुसंधानकर्ता को अपने आप पर इतना अधिक नियंत्रण होना चाहिए कि वह यंत्रवत् घटना का अत्यन्त उदासीन भाव से अध्ययन कर सके तथा अपने विचारों से उसे प्रभावित न होने दे।

(3) **संगठन शक्ति** – अनुसंधान अधिकारी को अनेक कार्यों में अनेक लोगों की सहायता

लेनी पड़ती है अतः उसे संगठन अधिक करना पड़ता है इसीलिए उसमें संगठन शक्ति अधिक होनी चाहिए।

(4) **कल्पना तथा सूझ–बूझ** – अनुसंधानकर्त्ता की कल्पना शक्ति तथा सुझबूझ अत्यन्त प्रबल होनी चाहिए जिससे वह जटिल सामाजिक समस्याओं को गहराई से समझ सके और उसके अन्दर निहित सत्य को समझ सके। वर्तमान सामाजिक ढ़ांचे को समझने के साथ–साथ यह भी समझ सके कि भविष्य में इस समाज का क्या रूप होगा। जितनी प्रबल कल्पना होगी उतनी ही तीव्र उसकी सूझ–बूझ होगी और जितनी सूझ–बूझ होगी उतनी ही आसानी से सामाजिक घटना के रहस्य को समझ जायेगा और समस्या का समाधान भी सोच सकेगा।

(5) **बौद्धिक ईमानदारी** – अनुसंधानकर्त्ता के लिए बौद्धिक ईमानदारी होना अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक समस्याओं के संबंध में स्पष्ट तथा सही निर्णय देना अत्यन्त कठिन होता है क्योंकि वह उसी समाज का सदस्य है अतः समाज में प्रचलित धारणाओं से मेल खाते हों। इसके लिए उसमें उच्च बौद्धिक ईमानदारी होनी चाहिए।

(6) **लगन** – अनुसंधानकर्ता में अत्यधिक धैर्य व लगन होनी चाहिए। यदि वह अपने प्रयत्न को नहीं छोडता है तो कठिनतम कार्य को भी पूरा कर लेगा।

(7) **विचारों की स्पष्टता** – अनुसंधानकर्ता की बुद्धि विवेचनात्मक होनी चाहिए। उसके विचारों में स्पष्टता होनी चाहिए। सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन तथा उसका मनन विषय की स्पष्टता उत्पन्न करता है।

(8) **साधन सम्पन्नता** – अनुसंधानकर्ता के पास अनुंधान सम्बन्धी उचित साधनों का होना भी आवश्यक हैं। साधनों की आवश्यकता विषय पर निर्भर है। विषय जितना विस्तृत ओर जटिल होगा, साधन भी उतने ही विस्तृत ओर जटिल होने चाहिए। सर्वप्रथम उसे समस्त सम्बन्धित साहित्य प्राप्त होना चाहिए। वह धन का भी उचित प्रबंध कर सके। वे सभी साधन उसे प्राप्त होने चाहिए जो अनुसंधान पूर्ण करने के लिए चाहिए। यदि उचित साधन उसके पास नहीं है तो उसमें यह योग्यता होनी चाहिए कि वह दूसरे साधन सम्पन्न व्यक्तियों को प्रभावित कर सके।

2.7 सारांश

प्रकृत इकाई में अनुसंधान के मालिक एवं क्रियात्मक अनुसंधान, आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान पर चर्चा हुई है। वास्तव में अनुसंधान शब्द एक प्रक्रिया का द्योतक है जिसमें शोध तथा गवेषणा की उपक्रियाएं भी सम्मिलित है जिसमें अनेक प्रकार के तथ्यों का एकत्रीकरण तथा उनके विश्लेषण के आधार पर किसी समस्या का विश्वसनीय समाधान ज्ञात किया जाता है।

अनुसंधान एक व्यवस्थित तथा सुनियोजित प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानवी ज्ञान में वृद्धि की जाती है। शोध कार्यों में मानवी असंगतियों और तनावों को भी कम किया जाता है। उत्तम अनुसंधान अधिकारी अनुसंधान के प्रयोजनों को समझकर अनुभव एवं निष्पक्षता से कार्य सम्पन्न करता है।

2.9 बोध प्रश्न

1. Research शब्द किन दो शब्दों से मिल कर बना हैं ?
2. Research का क्या अर्थ हैं ?
3. ऐतिहासिक अनुसन्धान क्या हैं ?
4. Survey शब्द किन दो शब्दों से मिलकर बना हैं ?

5. क्रियात्मक अनुसन्धान क्या हैं ?
6. अनुसन्धान के दो भेद लिखिये।
7. अनुसंधान का प्रयोग क्या है ?
8. वर्णनात्मक अनुसंधान क्या है ?
9. अनुसंधान किस बिन्दु पर केन्द्रित होता है?
10. अनुसन्धान किस प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है ?
11. अनुसंधान की प्रमुख चार विशेषताएं लिखिए।
12. समाज विज्ञान का क्षेत्र क्या है ?
13. अनुसंधान अधिकारी के सामान्य गुण लिखिए।
14. अनुसंधान अधिकारी के विशेष गुण (कोई चार) लिखिए।

2.10 शब्दावली

दत्त (Data) – अनुसंधान हेतु एकत्रित आंकड़े ।

न्यादर्श – थोड़े से समग्र का प्रतिनिधित्व करने वाले तथ्य।

प्रश्नावली – उद्देश्य एवं तर्कसंगत आकर्षण के आधार पर वर्गीकृत संवृत प्रश्नों या पदों की टंकित या मुद्रित सूची।

अनुसूची – अनुसंधान की समस्या से संबंधित तर्क–संगत प्रश्नों की ऐसी सूची होती है जिसके आधार पर अनुसंधानकर्ता उतरदाता से प्रायः पूर्व निर्धारित सम्पर्क के अनुसार उत्तर प्राप्त करता है तथा सूची को स्वयं अपने हाथ से भरता है।

पर्यवेक्षण – व्यक्तियों अथवा संस्थानों के कतिपय पहलुओं का अध्ययन एवं चैक लिस्ट प्रणाली द्वारा अभिलेखन ।

अधिकारी – अनुसंधान को सम्पन्न करने वाला अनुसन्धाता।

जिज्ञासा – अनुसंधान के संबंध में जानने की इच्छा।

समस्या – आवश्यकता की सन्तुष्टि के साधन या मार्ग में बाधा ही समस्या है।

परिकल्पना – संभावित कथन जो समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है।

2.11 उपयोगी पुस्तक

1. Kapil H.K., Reading in Research Methodology, U.G.C. Publication, RBS College Agra.
2. Kapil H.K.-Research Methods (In Behavioral Science) H-P. Bhargava Book, Agra.
3. Bhattacharya S. Foundation of Education and Education Research,Baroda.
4. Sharma R.A.- Fundamental of Education Research Loyal Book Depot Meerut.
5. Dr. R.P. Singh & Dr. O.P. Sharma - Educational Research and Statistics-Agarwal Publicatin Agra.

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. रि सर्च
2. देखिए भाग 2.3

3. देखिए भाग 2.4

4. Sur + Vey

5. देखिए भाग 2.5

6. (1) मूलभूत अनुसंधान (2) अनुप्रयुक्त अनुसंधान

7. देखिए भाग 2.5

8. देखिए भाग 2.5

9. देखिए भाग 2.6

10. देखिए भाग 2.6

11. देखिए भाग 2.6

12. अमूर्त तथा व्यक्तिगत समस्याओं से सम्बन्धित

13. देखिए भाग 2.7

14. देखिए भाग 2.7

इकाई–3

अनुसंधान रूपरेखा निर्माण, अनुबंध योजना, उद्धरण, संदर्भ, उल्लेख, सामग्री संकलन का वर्गीकरण, पाद टिप्पणी

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 विषय चयन

3.3 रूपरेखा निर्माण एवं अनुबंध योजना

3.4 उद्धरण तथा संदर्भोल्लेख

3.5 सामग्री संकलन का वर्गीकरण

3.6 पाद टिप्पणी

3.7 सारांश

3.8 बोध प्रश्न

3.9 उपयोगी पुस्तकें

3.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप अनुसंधान के अतिविशिष्ट पक्ष रूपरेखा निर्माण, अनुबंध योजना, उद्धरण, संदर्भोल्लेख के विषय में जान सकेंगे। साथ ही शोध विषय से सम्बन्धित सामग्री संकलन के वर्गीकरण एवं पाद टिप्पणी लेखन के विषय की जानकारी ले सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

मानव की जानने की इच्छा सदा से ही अनुसंधान का कारण रही है। यही जिज्ञासा युग–युगान्तर से मनुष्य को नवीन खोज और ज्ञान की उपलब्धियों की ओर प्रेरित करती रही है। इसी कारण विश्व में ज्ञान–विज्ञान का निरन्तर विकास होता रहा है।

यही अनुसंधान अथवा शोध अंग्रेजी के Research शब्द के पर्याय के रूप में स्वीकार किया गया है जिसका अर्थ है नवीन अनुमानों, प्रमाणों, प्रयोगों और व्याख्याओं के द्वारा तथ्यों में निहित सत्यों को विहित बनाने की प्रक्रिया।

शोध प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण पक्ष है विषय चयन, तदनन्तर रूपरेखा निर्माण व अनुबंध (प्रबन्ध) योजना। प्रस्तुत अध्याय में आज उपर्युक्त विषयों का विस्तार से अध्ययन कर सकेंगे।

3.2 विषय चयन

शोध के व्यावहारिक पक्ष में विषय चयन श्रमसाध्य एवं कष्टसाध्य कार्य है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि शोधार्थी में शोध करने की चाह होती है, कार्य करने का उत्साह भी होता है किन्तु वह स्वयं की क्षमता एवं अभिरूचियों का ज्ञान नहीं रखता है। इसी कारण जब वह निर्देशक के समीप जाता है तब उसके पास कोई ऐसा विषय, साहित्यिक समस्या आदि न हीं होती जिस पर वह शोध करना चाहता है।

परिणामस्वरूप वह कहने लगता है कि आप ही कोई विषय बता दें, मैं तो कार्य करने का इच्छुक हूँ। यह उत्तर इतना भ्रामक होता है कि यदि निर्देशक शिक्षक होने के नाते सहानुभूति कर भी ले तो वह साक्षात्कार में उसकी छंटनी कर देता। अतः जिज्ञासु शोध छात्र को स्वयं की अभिरुचि और क्षमता का ज्ञान रखना चाहिए। यदि वह यह जान लेगा कि किस क्षेत्र में उसकी गति है, कौनसा विषय उसे रूचिकर लगता है, किस पहलू पर उसे कार्य करना चाहिए तो शोध विषय चयन करना उसके लिए सुविधाजनक होगा।

3.3 रूपरेखा निर्माण एवं अनुबंध योजना

रूपरेखा में यह आधार निहित रहता है, जिसके अन्तर्गत शोध कार्य किया जाना है और सामग्री संकलन के लिए भी इससे आधार मिलता है। रूपरेखा अनुसन्धान की मानसिक पृष्ठभूमि का निर्माण करती है। रूपरेखा–निर्माण की अनेक प्रविधियाँ हैं–

- रूपरेखा का आरम्भ भूमिका से किया जाता है।
- रूपरेखा से प्रारम्भ न कर विषय से ही प्रारम्भ की जाती है।
- रूपरेखा में केवल स्थूल रूप से अध्याय ही दिये जाते हैं और यह बहुत संक्षिप्त होती है।
- रूपरेखा विस्तृत होती है और अध्यायों को उपशीर्षकों में भी विभाजित किया जाता है।

रूपरेखा का प्रारम्भ भूमिका से किया जाना चाहिए। रूपरेखा तैयार करने से पूर्व विषय पर प्रकाशित आलोचनात्मक या शोधपरक साहित्य का भी अध्ययन कर लिया जाय, जिससे उन विषय पर हुए कार्य का ज्ञान हो सके और उसके सन्दर्भ में शोध के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए रूपरेखा कर रचना की जा सके।

शोध कार्य हेतु विषय का चयन होने के पश्चात् शोध कार्य की रूपरेखा तैयार की जाती है। प्रबन्ध लेखन के चार प्रमुख विभाग हैं।

1. रूपरेखा
2. ग्रन्थ सूची पत्र का विधान
3. सामग्री संकलन एवं
4. संकलित सामग्री का वर्गीकरण

इन चारों में सर्वप्रमुख है रूपरेखा निर्माण। किसी भी विषय के व्यवस्थित अध्ययन और अधीत सामग्री के व्यवस्थित उपस्थापन के लिए रूपरेखा निश्चित करना अत्यावश्यक है। सम्पूर्ण प्रबन्ध में किस कम से सामग्री का उपयोग, विवेचन एवं विश्लेषण किया जाना है, इसका उल्लेख रूपरेखा में कर दिया जाता है। शोधार्थी को चयनित विषय पर किये जाने वाले कार्य का स्वरूप एवं दिशा स्पष्ट होनी चाहिए तभी वह विषयानुरूप रूपरेखा निर्माण कर अनुसन्धान कार्य को आगे बढ़ा सकता है। शोधकार्य के लिए रूपरेखा निर्माण आवश्यक है। उसके अभाव में कार्य की दिशा निश्चित करना मुश्किल होगा लेकिन रूपरेखा शोधकार्य का स्थायी आधार न होकर अस्थायी प्रकल्पना होती है। विषय का व्यवस्थित ज्ञान होने व सामग्री संकलन का कार्य पूर्ण होने पर ही उसका वास्तविक स्वरूप सामने आता है।

रूपरेखा निर्माण से पूर्व शोधकर्ता को कुछ शोध प्रबन्धों का अध्ययन करना चाहिए। रूपरेखा का एक निश्चित प्रारूप नहीं है, विषयानुकूल उसका स्वरूप बदलता रहता है। भाषा विज्ञान, समीक्षात्मक, विवेचनात्मक एवं आलोचनात्मक विषयों की रूपरेखा से पाठालोचन या सम्पादन कार्य की रूपरेखा पृथक् होती है। भूमिका, अध्याय विभाजन, उपसंहार आदि सभी रूपरेखाओं में समान रूप से विद्यमान रहते हैं। रूपरेखा निर्माण करते समय अनुसन्धेय विषय के शीर्षक की सार्थकता प्रतिपादित कर देनी चाहिए। ग्रहीत विषय के समानान्तर विषय को देखकर, क्षतिपूर्ति के लिए अर्थात् किसी विषय विशेष पर कार्य नहीं

हुआ हो उसे प्रकाश में लाने के लिए, तथा नवीन विषय पर भी कार्य किया जा सकता है। रूपरेखा का प्रारम्भ में प्राक्कथन के अन्तर्गत शोधार्थी को शोध विषय के महत्त्व, उपयोगिता एवं इतिहास का उल्लेख करते हुए अब तक इस विषय पर हुए कार्य की समीक्षा, अब तक इस विषय पर हुए कार्य की समीक्षा, अब तक के कार्य की उपलब्धि तथा अब तक के कार्य की न्यूनताओं का प्रकाशन कर नवीन अनुसन्धान में पूर्व की न्यूनताओं के समाधान का प्रकार स्पष्ट कर देना चाहिए। साथ ही यह अनुसन्धान प्रकृत विषय के ज्ञान के सम्बन्ध में कितनी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा, कार्य किस स्तर व दिशा में होगा यह सब रूपरेखा के प्राक्कथन में ही स्पष्ट कर देना चाहिए। रूपरेखा में ही किये जाने वाले अनुसन्धान की सीमाओं का उल्लेख भी कर देना चाहिए।

रूपरेखा शोध प्रबन्ध का कच्चा चित्र उपस्थित करने में समर्थ होती है। रूपरेखा में शोध विषय के ऐतिहासिक पक्ष को उद्घाटित करते हुए वर्तमान कार्य से उसका सम्बन्ध स्पष्ट करना चाहिए। शोध विषय को ग्रहण करने का कारण स्पष्ट कर शोधार्थी अनुसन्धान के माध्यम से किन तथ्यों को प्रकाश में लाना चाहता है। इसका उल्लेख भी किया जाना चाहिए।

विषय के महत्त्व, उद्देश्य एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करने के पश्चात् शोधकार्य का अध्यायगत विभाजन भी रूपरेखा में ही स्पष्ट कर देना चाहिए। शोध कार्य के क्रमिक व व्यवस्थित विवेचन के लिए अध्याय विभाजन में पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए। किस अध्याय में कौनसे विषयों का विवेचन किया जाना है, इसका उल्लेख रूपरेखा में किया जाना चाहिए। अध्यायों का विभाजन इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि किसी विषय की पुनरावृत्ति न हो तथा सम्पूर्ण कार्य एकसूत्र में बंधता चला जाय तथा परस्पर पौर्वापर्य का भाव बना रहे। रूपरेखा में अध्ययन के प्रमुख बिन्दुओं का उल्लेख किया जाना चाहिए यदि कार्य के दौरान कुछ नए बिन्दु जोड़ने पड़े या सामग्री अथवा आवश्यकता के अभाव में कुछ बिन्दु छोड़ने पड़े तो छोड़े जा सकते हैं। रूपरेखा कभी स्थायी नहीं होती अतः आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। वस्तुतः रूपरेखा विषय के शीर्षक के अनुसार होनी चाहिए। विषय के शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसे अध्यायों में विभाजित किया जाना चाहिए। अध्याय के शीर्षक से विषयवस्तु का स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

रूपरेखा में जिन बिन्दुओं पर चर्चा की जानी चाहिए वे निम्नानुसार है–

1. अनुसन्धेय विषय के शीर्षक की सार्थकता व सम्प्रेषणीयता।
2. विषय का महत्त्व, विषय की स्पष्टता।
3. विषय का महत्त्व रूपरेखा में केन्द्रित आधार को ही महत्त्व उपलब्ध हो, इसका अभिप्राय यह है कि विषय के केन्द्र में रूपरेखा निर्माण हो, जिससे कि रूपरेखा के शीर्षक विषय का ही विवेचन उपलब्ध कराया।
4. विषय का इतिहास।
5. विषय पर हुए पूर्व कार्यों की समीक्षा।
6. पूर्व हुए कार्यों से ग्रहीत अनुसन्धान कार्य का वैशिष्ट्य।
7. विषय अथवा अनुसन्धान का उद्देश्य।
8. अनुसन्धान कार्य की दिशा।
9. अनुसन्धान की सीमा।
10. विषय का क्रमिक विकास क्रम।
11. अध्यायों का आनुपातिक विभाजन। कोई अध्याय न अधिक छोटा हो और न अधिक बड़ा। छोटे बड़े अध्यायों में अधिकाधिक 50 पृष्ठों का ही अन्तर हो। इससे अधिक लम्बा होने पर बड़े

अध्याय को एक से अधिक शीर्षकों में विभाजित करना वैज्ञानिक रहेगा।

12. विषय के अनुरूप जो भी मुख्य बिन्दु हैं, सभी के अलग–अलग अध्याय बनाना आवश्यक है।

13. विषय का कमिक विकास कम।

14. सामग्री संकलन के लिए उपयोगी स्थल, ग्रन्थ आदि।

विवेचन, विश्लेषण एवं आलोचनात्मक शोधकार्यों में अध्यायगत विभाजन अधिक प्रचलित हैं, लेकिन **'व्यक्तिगत कृतित्त्व'** सम्बन्धी कार्य एवं सम्पादन सम्बन्धी कार्यों को हम खण्डों में विभाजित कर प्रस्तुत कर सकते हैं। यथा **'हिन्दू संस्कार' : एक विवेचन'** शोध विषय में संस्कारों के प्राचीन इतिहास, महत्त्व, उपयोगिता, अब तक हुए कार्यों का उल्लेख और नये कार्य का वैशिष्ट्य प्रतिपादित कर जब अध्यायगत विभाजन करेंगे तो अध्यायों का कमिकरूप इस प्रकार हो सकता है।

1. प्रथम अध्याय : संस्कार सामान्य परिचय

(1) संस्कार का अर्थ

(2) संस्कार के भेद

(3) संस्कारों का महत्त्व

(4) संस्कारों का प्रयोजन

2. द्वितीय अध्याय : प्राग्जन्म संस्कार

(1) गर्भादान

(2) पुंसवन व अनवलोभन

(3) सीमन्तोन्नयन

3. तृतीय अध्याय : बाल्यावस्था के संस्कार

(1) जातकर्म

(2) नामकरण

(3) निष्क्रमण

(4) अन्नप्राशन

(5) चूडाकरण

4. चतुर्थ अध्याय : शैक्षणिक संस्कार

(1) विद्यारम्भ

(2) उपनयन

(3) वेदारम्भ

(4) समावर्तन

5. पंचम अध्याय : गृहस्थ संस्कार

(1) विवाह

(2) पंच महायज्ञ

(3) अन्त्येष्टि

6. षष्ठ अध्याय : उपसंहार

(1) संस्कारों का सामाजिक महत्त्व।

(ङ) संस्कारों का सांस्कृतिक महत्त्व

सम्पादन व समीक्षा से सम्बन्धित शोध कार्य का विभाजन इससे कुछ पृथक् रहेगा। यथा –

'शूद्रकमलाकर का सम्पादन व समीक्षण' विषय को खण्डों में बांटा जा सकता है। यथा –

प्रथम खण्ड (परिचय खण्ड)

1. लेखक परिचय
2. ग्रन्थ परिचय
3. पाण्डुलिपि परिचय

द्वितीय खण्ड (सम्पादन खण्ड)

1. मूल पाण्डुलिपि का सम्पादन

तृतीय खण्ड (समीक्षा खण्ड)

1. ग्रन्थ के सम्पादन कार्य की समीक्षा।
2. विषय वस्तु की समीक्षा (इसमें कई उपशीर्षक हो सकते हैं)

प्रदत्त उदाहरणों से समझा जा सकता है कि विषय की प्रकृति के अनुसार रूपरेखा निर्माण करते हुए अध्यायगत विभाजन किया जाना चाहिए। लेकिन जो भी प्रकिया अपनायी जाय वह विषय के विश्लेषण में समर्थ होनी चाहिए।

अध्यायगत विभाजन के पश्चात् रूपरेखा के अन्तर्गत ही सन्दर्भग्रन्थ सूची भी देनी चाहिए। रूपरेखा के अन्तर्गत दी जाने वाली सन्दर्भग्रन्थसूची भी सम्भावित होती है। इसके अन्तर्गत उन सभी ग्रन्थों को सम्मिलित करना चाहिए। जो शोध कार्य में साक्षात् या परोक्ष रूप से सहायक हो सकते हैं।

अनुबन्ध योजना

जो विषय को परस्पर पौर्वापर्य सम्बन्ध से बांधे रखता है या जिससे विवेच्य विषय में कसावट आती हैं, वह अनुबन्ध कहलाता है। ये अनुबन्ध अधिकारी, विषय, सम्बन्ध व प्रयोजन रूप से चतुर्विध कहे गये हैं। अनुसन्धान के क्षेत्र में अनुबन्ध का उद्देश्य है पाठक एवं लेखक को विषय एवं उसकी सीमाओं से अवगत कराना। जब तक कोई यह नहीं जानेगा कि यह ग्रन्थ किस विषय का है, मैं इसे समझ सकता हूँ कि नहीं, इसके पढ़ने का उद्देश्य क्या है? तब तक वह पढ़ने में प्रवत्त नहीं हो सकता।

विषयानुक्रमणिका

शोधप्रबन्ध को कितने अध्यायों में एवं किन–किन बिन्दुओं के आधार पर विवेचित किया गया है उन सब बिन्दुओं का क्रमशः उल्लेख विषयानुक्रमणिका में किया जाना चाहिए। विषयानुक्रमणिका संक्षिप्त एवं विस्तृत भेद से दो प्रकार की होती है। संक्षिप्त विषयानुक्रमणिका में केवल अध्याय का नाम दिया जाता है, लेकिन संक्षिप्त विषयानुक्रमणिका शोध प्रविधि की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं कही जाती क्योंकि पाठक को इसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। उसे अपना अभीष्ट बिन्दु खोजने के लिए प्रबन्ध के सम्पूर्ण पन्नों को पलटना पड़ता है।

विस्तृत विषयानुक्रमणिका के भी दो भेद किये जा सकते हैं–

1. विस्तृत
2. अतिविस्तृत

ग्रन्थ सूची

अनुसन्धान कार्य के दौरान जिन–जिन ग्रन्थों का सहयोग लिया गया हो या जो ग्रन्थ अनुसन्धान कार्य में सहयोगी हों, उनकी सूची शोध प्रबन्ध के अन्त में प्रस्तुत करनी चाहिए। शोध प्रविधि के अनुसार ग्रन्थ

सूची शोध प्रबन्ध का आवश्यक अंग है। यहा जहाँ शोध प्रबन्ध को प्रामाणिक बनाती है, वहीं आगे आने वाले अनुसन्धाताओं के मार्गदर्शन का कार्य भी करती है।

शोधप्रबन्ध में जिन–जिन ग्रन्थों का सन्दर्भ लिया हो, जिनके मतों को उद्धृत किया हो अथवा जिनके मतों का खण्डन किया हो, या जिनके अध्ययन मनन ने अनुसन्धाता की विचार सरणी को पुष्ट किया हो उन सभी का उल्लेख ग्रन्थ सूची में किया जाना चाहिए। रूपरेखा निर्माण के समय जिन ग्रन्थों का नामोल्लेख ग्रन्थ सूची में किया था उन ग्रन्थों में से यदि कोई ग्रन्थ अनुसन्धान में उपयोगी न रहा हो तो शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करते समय ऐसे ग्रन्थ को ग्रन्थ सूची से हटाकर ऐसे ग्रन्थों को शामिल करना चाहिए जो अनुसन्धान कार्य के उपकारी रहे हों।

ग्रन्थसूची के आधार पर मूल ग्रन्थ के सम्पादन में सहायकता मिलती है अतः ग्रन्थसूची अवश्य संलग्न करनी चाहिए। ग्रन्थसूची प्रस्तुत करने का प्रयोग सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों ने किया और ग्रन्थानुक्रमणिका बनायी। ग्रन्थसूची में सभी ग्रन्थ, पुस्तिकाएं, पत्र–पत्रिकाएं, रिपोर्ट आदि को सम्मिलित करना चाहिए, जिनसे प्रत्यक्ष सहायता मिली हो।

3.4 उद्धरण तथा सन्दर्भोल्लेख

शोध प्रबन्ध का लेखन करते हुए प्रायः शोधार्थी को सम्बन्धित विषय के प्रतिष्ठित विद्वानों के विचारों और विषय सम्बन्धी टिप्पणियों को आवश्यकतानुसार उद्धृत करना पड़ता है। विद्वानों के विचार जब उन्हीं की भाषा में ज्यों के त्यों प्रस्तुत किए जाते हैं तो उन्हें उद्धरण कहते हैं। प्रत्येक उद्धरण के लिए पाद टिप्पणी में संदर्भोल्लेख करना पड़ता है।

सामान्यतः उद्धरण मूल आलेख के अन्तर्गत अलग अनुच्छेद में उद्धरण चिह्न (" ") लगा कर दे सकते हैं। यदि उद्धरण संक्षिप्त है तो आलेख के बीच में ही जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है....." के रूप में लिखा जा सकता है।

यदि उद्धरण विस्तृत हो तो उसे पृथक् अनुच्छेद बनाना उचित होता है। अलग अनुच्छेद के रूप में लम्बा उदाहरण प्रत्येक पंक्ति में कम से कम तीन वर्णों का स्थान रिक्त छोड़कर लिखा जाना चाहिए। आरम्भ व अन्त में एक पंक्ति का रिक्त स्थान बना रहना चाहिए। ऐसा करने पर उद्धरण चिह्न की अपेक्षा नहीं होती है। उद्धरण के अंतिम शब्द पर संख्यावाची अंक लगाकर पाद टिप्पणी में संदर्भोल्लेख होना चाहिए। पद्यबद्ध उद्धरणों को मूल आलेख के मध्य में उद्धरण चिह्न देकर प्रस्तुत करना चाहिए। यथा मानव जीवन में विद्या का महत्त्व इतना है– "विद्या ददाति विनयं विनयात याति पात्रताम्" यदि पद्यात्मक उद्धरण विस्तृत हो तो गद्य की ही तरह पृथक पद्यांश देते हैं तथा मूल कविता पृष्ठ संख्या सहित संदर्भ रूप में पाद–टिप्पणी में लिखते हैं।

यदि किसी विद्वान के भाषण अथवा साक्षात्कार करते हुए टीप लिये हुए किसी वैचारिक अंश को प्रस्तुत करता हो तो उद्धरणीय अंश पर विद्वान् की पूर्ण स्वीकृति लेना आवश्यक है।

3.5 सामग्री संकलन का वर्गीकरण

शोध विषय की रूपरेखा तैयार हो जाने पर शोध सामग्री संकलन का कार्य प्रारम्भ होता है। सामग्री निम्न स्रोतों से प्राप्त हो सकती है–

(1) प्रकाशित ग्रन्थ– विषय से सम्बन्धित प्रकाशित ग्रन्थों की सर्वप्रथम सूची तैयार कर लेनी चाहिए। पुस्तकालयाध्यक्षों एवं निर्देशक की सहायता इस कार्य में लाभप्रद होती है। नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता एवं बम्बई में दुर्लभ ग्रन्थ प्राप्त हो सकते हैं।

(2) अप्रकाशित ग्रन्थ– अप्रकाशित (हस्तलिखित) ग्रन्थों की सूची अच्छे पुस्तकालयों में उपलब्ध रहती है। हिन्दी के ग्रन्थों की सूची नागरी प्रचारिणी सभा काशी में उपलब्ध है। 'हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का

विवरण' इस नाम से वह कई भागों में प्रकाशित हुआ है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा आगरा, ब्रज साहित्य मण्डल मथुरा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना आदि संस्थाओं ने भी अपने अप्रकाशित ग्रन्थों की सूचियाँ छापी हैं। राजस्थान के जैन मंदिरों में हस्तलिखित ग्रन्थों का भण्डार है। हैदराबाद का सालारजंग पुस्तकालय सूफी साहित्य और दखिनी हिन्दी के शोधार्थियों/जिज्ञासुओं को प्रचुर सामग्री प्रदान कर सकता है। इनके अतिरिक्त कई विश्वविद्यालयों में भी हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह रहता है। उकने 'कैटलॉग' प्राप्त किए जा सकते है।। *धार्मिक संस्थाओं में भी हस्तलिखित* पाण्डुलिपियाँ संगृहीत रहती है। नाथद्वारा कांकरोली (राजस्थान) में वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियों के हस्तलिखित पुस्तकों का अम्बार है।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर का ग्रन्थालय संस्कृत साहित्य के शोधार्थियों के लिए सहायक सिद्ध हो सकता है।

कई साम्प्रदायिक संस्थाएं अपने सम्प्रदाय के व्यक्तियों के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति को ग्रन्थ स्पर्श भी नहीं करने देती। ऐसी स्थिति में शोधकर्ता का असत्य बोलकर भी अपना काम निकालना पड़ता है या किसी सम्प्रदायी व्यक्ति का सहारा लेना पड़ता है। दुर्लभ पाण्डुलिपियों की माइक्रोफिल्म तैयार की जा सकती है। लंदन के ब्रिटिश म्यूजियम तथा इण्डिया लाइब्रेरी में भी पाण्डुलिपियों और दुर्लभ (प्रकाशित) ग्रन्थों का संग्रह है। वहाँ के पुस्तकालयाध्यक्ष उनकी 'माइक्रोफिल्म' तैयार कर भेजने की व्यवस्था भी कर देते हैं। पाण्डुलिपियाँ पढ़ना भी स्वयं में एक कला है। कई प्राचीन प्रतियों में अक्षर की आकृति वर्तमान अक्षरों की आकृति से भिन्न मिलती है। तिथि, संवत् आदि उल्टे लिखे मिलेंगे– "अंकों नाम वामतो गतिः"।

(3) रिपोर्ट– प्रतिवर्ष प्रत्येक प्रान्तीय सरकार अपने प्रान्त की प्रगति सूचक रिपोर्ट प्रकाशित करती है। उसकी सामग्री प्राप्त की जा सकती है।

(4) संस्मरण– डायरी, आत्मकथा, यात्रा विवरण, लेखकों के पत्रादि से भी शोध सामग्री प्राप्त हो सकती है। जैसे–मुगलकालीन इतिहास की सामग्री अकबरनामा, जहाँगीरनामा आदि से प्राप्त हो सकती है। आधुनिक आत्मकथाओं में महात्मा गाँधी की आत्मकथा काफी प्रसिद्ध है। हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा भी प्रकाशित हो चुकी है।

(5) गजेटियर– ब्रिटिशकाल में भारत सरकार ने इम्पीरियल तथा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर प्रकाशित किए थे, जिनमें ऐतिहासिक सामाजिक, धार्मिक, भाषिक, साहित्यिक आदि सामग्री विस्तार के साथ दी गई। स्वराज्य प्राप्ति के उपरान्त पुराने गजेटियरों के संशोधित संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। इनसे भी शोधकर्ता अभीष्ट सामग्री ले सकता है।

(6) पत्र–पत्रिकाएं– पत्र–पत्रिकाओं के विभिन्न अंकों में भी सामग्री बिखरी पड़ी है। जैसे 'छायावाद' नामकरण के सम्बन्ध में पं. मुकुटधर पाण्डेय का लेख जबलपुर से प्रकाशित 'श्रीशारदा' में छपा था। द्विवेदी युग की साहित्यिक गीत विधियों के लिए 'सरस्वती' पत्रिका के विभिन्न अंक पढ़ने चाहिए।

(7) व्यक्ति– लोक साहित्य, इतिहासादि विषयों की सामग्री, जीवित व्यक्तियों से प्राप्त हो सकती है। जैसे– सन् 1857 की जन–क्रांति का जिसे अंग्रेज सिपाही विद्रोह और जनता स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध कहती है, बहुत कुछ वृद्धों के मुख से प्राप्त हुआ है। स्व0 वृन्दावनलाल वर्मा ने 'झांसी की रानी' नामक उपन्यास में वर्णित बहुत सी घटनाएँ व्यक्ति स्रोतों से प्राप्त की थी।

3.6 पाद टिप्पणी

शोध प्रबन्ध में पाद–टिप्पणियाँ शोधकर्ता अपने मत के समर्थन या दूसरे मत के विरोध के प्रसंग में देता है। ये टिप्पणियाँ या तो पृष्ठ के नीचे या अध्याय के अन्त में दी जाती है। पृष्ठ के नीचे देना अधिक सुविधाजनक होता है। इससे पाठक को 'उद्धरण' के स्रोत को जानने के लिए सम्पूर्ण अध्याय के पृष्ठों को पलटने का श्रम नहीं उठाना पड़ता। उद्धरण देते समय उद्धरण–चिह्न (' ') अवश्य देने चाहिए और

उसकी समाप्ति पर पाद–टिप्पणी को इंगित करने के लिए ऊपर अंक दे देना चाहिए। उद्धरण विषय–विशेषज्ञों की कृतियों से लिये जाते हैं क्योंकि विशेषज्ञ के समर्थन से ही लेखक के मत को बल मिलता है। सामान्य लेखक के मत का समर्थन अधिक विश्वसनीय नहीं माना जाता। उद्धरण प्रकाशित और अप्रकाशित (हस्तलिखित) ग्रन्थ, शोधपत्र–पिका, शिलालेख, दानपत्र आदि स्रोतों से लिये जाते हैं।

अन्य भाषा का उद्धरण प्रबन्ध में भाषा में लिखा जाये और पृष्ठ के मुख्य भाग में दिया जाये। पाद–टिप्पणी में उद्धरण की भाषा को यथावत दिया जाये। प्रबन्ध के पृष्ठ में बीच–बीच में दूसरी भाषा के उद्धरणों को देने से उसके साथ ही कोष्ठक में उसका प्रबन्ध की भाषा में अनुवाद देना पड़ता है। अतः मूल उद्धरण को पाद–टिप्पणियों में देना अधिक उचित है। यही क्रम मनोविज्ञान तथा शोध प्रबन्ध के लेखन–तंत्र के अनुरूप है।

अध्याय का प्रारम्भ, जहाँ तक सम्भव हो, किसी उद्धरण से न हो। कई शोधार्थी प्रबन्ध को उद्धरणों से भर देते हैं यह उनके विचारों के दीवालियेपन को प्रकट करता है और उनकी विषय के अध्ययन की कमी को भी।

एक ही पृष्ठ पर जब एक ही लेखक के एक से अधिक विचार उद्धृत किए जाये तो प्रथम बार तो पृष्ठ में चिह्नित अंक देकर लेखक का नाम, ग्रन्थ का नाम, संस्करण और पृष्ठ संख्या दे दी जाये और दूसरी बार केवल 'वही' लिखकर पृष्ठ संख्या दे देनी चाहिए।

मान लीजिए, यदि पृष्ठ के मूलभाग में लिखा गया है: 'तुलसी ने काव्य के लिए कवित्त और भणिति का प्रयोग एक ही पृष्ठ में किया है', तो कविता ओर भणिति के ऊपर 1 और 2 अंक देकर पाद–टिप्पणियों में दीजिए–

1. 'निज व वित्त केहि लाग न नीका' –रामचरितमानस (गीताप्रेस, प्रथम संस्करण, पृ0 766)
2. 'पर भणिति सुनत हरषाहीं' वही

(यहाँ ग्रन्थ और पृष्ठ पूर्व टिप्पणीवत् है)। यदि लेखक के नाम को देकर उद्धरण दिया गया है तो पाद–टिप्पणी में अंकित चिह्न के साथ ग्रन्थ और पृष्ठ संख्या मात्र दी जानी चाहिए। जैसे, यदि पृष्ठ के मुख्य भाग में लिखा गया हो– 'भरत के पश्चात् भामह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की व्याख्या करते हुए लिखा है– शब्दार्थो सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा?' तो नीचे पाद टिप्पणी में लिखिए–

1. काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद, सूत्र 1,6।

(यहाँ संस्करण, पृष्ठ आदि लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि किसी भी संस्करण में ग्रंथ के परिच्छेद और सूत्र–संख्या में अन्तर नहीं आयेगा।)

यदि पृष्ठ के मुख्य भाग में लेखक तथा ग्रन्थ का नाम भी उद्धरण के पूर्व दिया गया हो तो पाद–टिप्पणी में ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या देना ही पर्याप्त होगा। जैसे–कविता के लिए कवित्त शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'बिहारी–सतसई' (पुस्तक भण्डार–संस्करण) के दोहों में यह प्रयुक्त है–

"तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे जो बूड़े सब अंग।।"

क्योंकि पृष्ठ में लेखक और पुस्तक का नाम उद्धरण दिया गया है। इसलिए नीचे पाद–टिप्पणी में केवल 'पृष्ठ 142' देना पर्याप्त होगा।

जहाँ अंग्रेजी भाषा से मत उद्धृत करना होता है वहाँ पृष्ठ के मुख्य भाग में प्रबन्ध की भाषा और नीचे पाद–टिप्पणी में मूल अंश देना चाहिए। यदि पृष्ठ के मुख्य भाग में लिखा गया हो– मलयालम में कवियों की रूझान प्रबन्ध काव्य लेखन की ओर अधिक रही है। उन्होंने महाभारत और श्रीमद्भागवत के आधार

पर उनकी रचना की है। 'मलयाली विष्णु, शिव, भागवत या राम के अनुयायियों में कोई भेद नहीं करते। वे नाम के अतिरिक्त एक–दूसरे में भेद नहीं मानते।'

(ऊपर का उद्धरण अंग्रेजी में लिखे एक विद्वान् के मत का अनुवाद है।) अतः उसे अंक देकर नीचे पाद–टिप्पणी में इस प्रकार दिया जाना चाहिए–

1. **The Malyalis make no difference among the followers of Vishnu, Siva Bhagwath or Rama. They do not know one from the other except in name.**

- Padmanathan Menon, History of India, Vol. Iv (First Edition); page-4

यदि पृष्ठ के मुख्य भाग में मूल भाषा का उद्धरण दिया जाये तो उसके साथ ही कोष्ठक में प्रबन्ध की भाषा का अनुवाद भी दिया जाना चाहिए। अनुवाद पाद–टिप्पणी में नहीं दिया जाना चाहिए। यदि पृष्ठ भाग में लिखा गया– वाल्मीकि मुनि का स्थान अयोध्या से 'गंगायास्तु परेपारे'। (गंगा के उस पार था)।– तो नीचे पाद–टिप्पणी में उद्धृत अंश का स्रोत देना होगा–

1. वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड 45/16

शोधार्थी प्रायः पाद–टिप्पणियों में एकरूपता नहीं बरत पाते। वैज्ञानिक प्रविधि क्रम और व्यवस्था चाहती है। अतः पाद–टिप्पणियाँ भी किसी एक क्रम के अनुरूप पूरे प्रबन्ध में दी जानी चाहिए।

3.7 सारांश

शोध छात्र द्वारा विषय निर्धारण कर लेने पर विषय से सम्बन्धित अध्ययन योजना बनानी होती है। इसी क्रम में रूपरेखा निर्माण, उद्धरण, सन्दर्भोल्लेख, पाद टिप्पणी आदि का सम्यक ज्ञान अपेक्षित है। साथ ही सामग्री संकलन भी करना होता है। सामग्री संकलन का कार्य अत्यधिक परिश्रम से करना पड़ता है।

3.8 बोध प्रश्न

(1) निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए

1. उद्धरण तथा संदर्भोल्लेख
2. विषय चयन
3. पाद टिप्पणी

(2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर निबन्धात्मक शैली में लिखिए

1. रूपरेखा निर्माण एवं अनुबंध योजना पर प्रकाश डालिए
2. सामग्री संकलन के विभिन्न स्रोतों के विषय में निबन्ध लिखिए?

3.9 उपयोगी पुस्तकें

1. डॉ. सत्येन्द्र– अनुसंधान
2. डॉ. सावित्री सिन्हा– अनुसंधान की प्रक्रिया
3. विश्वनाथ प्रसाद– अनुसंधान के मूल तत्त्व
4. डॉ. विनय मोहन शर्मा– शोध प्रविधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली।
5. डॉ. मनमोहन सहगल– हिन्दी शोध तन्त्र की रूपरेखा, पंचशील प्रकाशन, फिल्म कॉलोनी, जयपुर

3.10 बोध प्रश्नोत्तर

1. (1) इकाई सं. 3.4 में देखिए
   (2) इकाई सं. 3.2 में देखिए
   (3) इकाई सं. 3.6 में देखिए
2. (1) इकाई सं. 3.3 में देखिए
   (2) इकाई सं. 3.5 में देखिए

इकाई 4

अनुसंधान : विषय चयन की आवश्यकता एवं क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 अकादमिक अनुसंधान का विशिष्ट स्वरूप

4.2.1 तथ्यानुसंधान

4.2.2 तथ्याख्यान

4.3 अनुसंधान कार्य का सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

4.3.1 अनुसंधान

4.3.2 भाषा–साहित्य और अनुसंधान

4.4 अनुसंधान–विषय का चयन

4.4.1 शोधार्थी की वैयक्तिक अभिरूचि

4.4.2 अनुसंधान की विभागीय योजना प्रणाली

4.4.3 कतिपय विभागों में अनुसंधान योजना

4.5 विषय–चयन की श्रेणियाँ

4.5.1 वस्तुगत तथ्यानुसंधान–संबंधी विषय

4.5.2 भावानुसंधान संबंधी विषय

4.5.3 विचारानुसंधानपरक विषय

4.5.4 प्रवृत्तिपरक अनुसंधान के विषय

4.5.5 कलारूप विषयक अनुसंधान

4.5.6 भाषा संबंधी अनुसंधान

4.5.7 पाठानुसंधान संबंधी विषय

4.5.8 ऐतिहासिक अनुसंधान–संबंधी विषय

4.5.9 साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुसंधान

4.5.10 लोक साहित्य–संबंधी अनुसंधान का क्षेत्र

4.6 सारांश

4.7 उपयोगी संदर्भ ग्रन्थ

4.8 बोध प्रश्न

4.0 उद्देश्य

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'

उपनिषद्कार के अनुसार सत्य अथवा ज्ञान आवरण में छिपा रहता है। तत्वदर्शी अन्वेषक अपनी मेधा और अपने विवेक के बल पर उसे अनावृत करता है। वह पूर्वोक्त सत्य को निष्क्रिय रूप से आप्तवचन मानकर

स्वीकार नहीं करता। उसकी जिज्ञासुवृत्ति सत्य को पुनः आविष्कृत करने के लिए प्रेरित करती है। यही जिज्ञासावृत्ति अन्य प्राणियों से मनुष्य की भिन्नता का मूल कारण है। बुद्धिसम्पन्न प्राणी होने के कारण मनुष्य अपने आसपास के परिवेश, प्रकृति, जीवन–जगत् के प्रति निरंतर जिज्ञासु बना रहा है। पंचनेन्द्रियों से अनुभव किये जाने वाले इस दृश्यमान जगत् और प्राकृतिक शक्तियों के रहस्यों को जानने–समझने की जिज्ञासा ने मानव की ज्ञान सम्पदा में निरंतर अभिवृद्धि की है। यह ज्ञान ही साहित्य, दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष आदि बहुविध रूपों में व्यक्त हुआ है। चिंतन क्रम में प्राप्त–ज्ञात तथ्यों की पुष्टि और समर्थन, नवीन आविष्कृत तथ्यों के प्रकाश में उनका संशोधन और परिवर्धन तथा नवीन व्याख्याएं सभी के जरिए मानवीय ज्ञान की परम्परा अबाध रूप से प्रवाहित होती रही है। नवीन तथ्यों के अन्वेषण, तथ्यों की नवीन व्याख्या और मौलिक उद्‌भावनाओं की संभावना से युक्त अकादमिक अनुसंधान कार्य भी, भले ही समिति अर्थों में, इसी ज्ञान परम्परा में अपना योगदान करते हैं।

4.1 प्रस्तावना

अनुसंधान, खोज, शोध, गवेषणा हिन्दी में पर्यायवाची रूप में स्वीकृत हैं। मराठी में इसे संशोधन और अंग्रेजी में रिसर्च कहा जाता है। वस्तुतः शोध या रिसर्च आधुनिक ज्ञान–पद्धति की देन है। पुराने जमाने में शास्त्रनिष्णात बनने की इच्छा थी वह आधुनिक अनुसंधान, शोध या रिसर्च से थोड़ी भिन्न है। आधुनिक काल में विज्ञान के विकास के साथ कार्य–कारण आधारित विशेष अध्ययन ने जिस तथ्यपरक वस्तुनिष्ठ अनुसंधान पद्धति का विकास किया उसका आनुषंगिक विकास अकादमिक शोध के रूप में दिखाई देता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अनुसंधान के अंग्रेजी पर्यायवाची 'रिसर्च' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है– 'रिसर्च' में 'रि' उपसर्ग भृशार्थक आधिक्य वाची साथ ही पुनः–पुनः का अर्थ भी देने वाला है और गंभीर अभिनिवेशार्थक भी। स्थूल अर्थों में वह नवीन और विस्मृत तत्त्वों का अनुसंधान है, जिसे अंग्रेजी में डिस्कवरी ऑफ़ फैक्ट्स कहते हैं और सूक्ष्म अर्थों में वह ज्ञात साहित्य के पुनर्मूल्यांकन और नयी व्याख्याओं का सूचक है। दोनों ही अर्थों में वह मनुष्य के बाह्य और अन्तर्विकास की कड़ियों का अनुसंधान है। कड़ियाँ खोई हुई और विस्मृत भी हो सकती हैं और अपख्यात और व्याख्यात भी हो सकती है''। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि अनुसंधान अथवा शोध में सर्वथा नूतन उद्‌भावना ही नहीं अपितु अज्ञात को जानने तथा ज्ञात को पुनः व्याख्यायित करने की भावना विद्यमान रहती है। तथापि अकादमिक क्षेत्र में किसी विषय–विशेष के संदर्भ में तथ्यपरक और व्यवस्थित विश्लेषण–पद्धति को अपनाकर, तार्किक व्याख्या के द्वारा सारगर्भित निष्कर्षों तक पहुँचने की प्रविधि को शोध का नाम दिया गया है। इसलिए अकादमिक शोध की पद्धति स्पष्टतः ही सामान्य अध्ययन से प्रकृत्या भिन्न होती है। मनुष्य अपने दैनिक जीवन क्रम में अनेकानेक घटनाओं का भोक्ता–कर्त्ता होता है। तद्‌नुरूप उसका मन अनजाने में ही इन घटनाओं का निरीक्षण–परीक्षण करता चलता है। इस क्रम में कई बार अचानक कोई विचार उसके मस्तिष्क में कौंध उठता है। आर्कमिडीज ने नहाने के लिए पानी के टब में बैठने पर एक दिन अचानक पानी के दाब और भारहीनता की स्थिति का अनुभव किया था। बाद में उन्होंने कार्य–कारण के तार्किक विश्लेषण और परीक्षण के पश्चात् इसे वैज्ञानिक सिद्धान्त रूप दिया था। यह शोध का एक विशिष्ट रूप है।

4.2 अकादमिक अनुसंधान का विशिष्ट स्वरूप

अकादमिक अनुसंधान की प्रक्रिया इससे भिन्न रूप में चलती है। शोधकार्य में अध्येता अपनी अभिरूचि के अनुरूप एक विषय–क्षेत्र चुन लेता है फिर एक धुंधली सी रूपरेखा निर्धारित करके संदर्भ–सामग्री का संकलन और अध्ययन शुरू कर देता है। इस दौरान वह विषय की धुँधली रूपरेखा को संशोधित–परिमार्जित भी करता चलता है और उस पर आधारित अपने अध्ययन–विश्लेषण को कतिपय निष्कर्षों तक ले जाता है। अनुसंधान की एक पद्धति पूर्वनिर्धारित शास्त्रीय नियमों अथवा सिद्धांतों की कसौटी पर किसी विषय–विशेष को कसने–परखने की भी रही। जिसमें सृजनात्मक व्याख्या अथवा मौलिक उद्‌भावनाओं की संभावनाएं अत्यन्त सीमित होती हैं। इस प्रकार देखें तो अकादमिक अनुसंधान में उक्त पद्धतियों के मेल से शोध प्रविधि का जो स्वरूप निर्मित किया जाता है उसमें मूलतः दो उपबन्ध होते हैं।

4.2.1 तथ्यानुसंधान – प्रचलित मान्यताओं के अनुसार तथ्यानुसंधान अथवा अन्वेषण प्राचीन साहित्य–विषयों के शोध में ही संभव हो सकता है। परन्तु यह एकपक्षीय सत्य है क्योंकि प्राचीन अथवा अर्वाचीन हर विषय में अनेक तथ्य अनिवार्यतः निहित होते हैं। इसलिए तथ्यानुसंधान के दो रूप हो सकते हैं– एक तो काल प्रवाह में लुप्त हुए तथ्यों का अन्वेषण और विषय–विशेष में निहित तथ्यों का अन्वेषण। उदाहरण के लिए कालिदास अथवा तुलसीदास के युग की परिस्थितियाँ, उनके जीवन की घटनाएं, उनकी रचनाएं, उनका रचनाकाल आदि अनुसंधान के बाह्य तथ्य हैं लेकिन उन के काव्य में निहित आत्मकथन, दार्शनिक विचार, तत्कालीन धर्म, समाज और शासन व्यवस्था संबंधी उनके विचार, उनकी भाषा, काव्यशैली आदि आन्तरिक तथ्य हैं जो अनुसंधान का विषय हो सकते हैं। ये दोनों अन्वेषण–प्रक्रियाएं तथ्यानुसंधान के अन्तर्गत ही आएंगी। इसलिए तथ्यानुसंधान पद्धति का प्रयोग प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक साहित्य सभी के लिए किया जा सकता है।

4.2.2 तथ्याख्यान – तथ्याख्यान का अर्थ है तथ्यों के पारस्परिक अन्तः संबंधों की खोज करना, उनकी व्यञ्जना के द्वारा अभिव्यक्त जीवन सत्य अथवा मानव सत्य का उद्घाटन करना। तथ्य अपने आप में निष्क्रिय है, मानव चेतना का स्पर्श पाकर ही उनमें नयी अर्थदीप्ति भरती है। अतः तथ्यों के अभिधा रूप तक सीमित रहना तथ्यान्वेषण है लेकिन उसकी व्यंजनाओं को प्रकाशित करना तथ्याख्यान है। सुधी और मर्मज्ञ विद्वान् यही कार्य करते हैं। संस्कृत में साहित्य, भाषा, दर्शन के क्षेत्र में पूर्ववर्ती विद्वानों के कथनों और सिद्धान्तों की नवीन व्यंजनाएं और नयी अर्थछायाएं उद्घाटित करने की समृद्ध परम्परा रही है भले ही उसका उद्देश्य अपने मत का समर्थन करना रहा हो। बादरायण के ब्रह्मसूत्रों की शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने अपने मत का समर्थन करना रहा हो। बादरायण के ब्रह्मसूत्रों की शंकराचार्य, रामानुजाचार्य आदि ने अपने मतवाद के अनुरूप व्याख्याएं की थी। व्याकरण के क्षेत्र में पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखे गए वार्तिक भी इस परम्परा में आते हैं। भरत के एक सूत्रवाक्य 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः' की व्याख्याओं ने काव्यशास्त्र में रससिद्धान्त की पूरी परम्परा विकसित की। भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त, आचार्य विश्वनाथ और जगन्नाथ पंडितदास से लेकर आधुनिक काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक सभी ने अपने–अपने दृष्टिकोण, मतवाद के अनुरूप ओर समय सापेक्ष व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, जो इस तथ्य का अकाट्य प्रमाण है कि भारतीय चिन्तन–परम्परा 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' की अपेक्षा, अर्जित ज्ञान को नित–नयी कसौटियों पर कसने और उनकी युगानुकूल व्याख्याएं करने की हिमायती रही। वर्तमान में शोधार्थी अपनी समृद्ध साहित्यिक परम्पराओं से तथ्यों के निर्भीक, विश्लेषण और मूल्यांकन का मनोबल प्राप्त कर सकते हैं।

4.3 अनुसंधान कार्य का सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य

वैसे तो ज्ञान के क्षेत्र में कोई भी विषय अनुपयोगी नहीं है परन्तु अनुसंधान कार्य में लगने वाले मानवीय श्रम और शक्ति को ध्यान में रखते हुए उसके सामाजिक–सांस्कृतिक महत्व को अवश्य ही ध्यान में रखा जाना चाहिए। शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो अनुसंधान कार्य का बौद्धिक संज्ञानात्मक मूल्य, सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में ही निर्धारित किया जा सकता है क्योंकि मानवीय अनुभूतियों का प्रकाशन करने वाले साहित्य को जीवनरस इन्हीं संदर्भों से मिलता है। किसी भी शोध–विषय की उपयोगिता, सूचना और ज्ञानवृद्धि, दोनों ही दृष्टियों से हो सकती है। लेकिन इस बात से कदापि इनकार नहीं किया जा सकता कि वैचारिक दृष्टि से अत्यंत संकुचित दायरे से बँधा शोध कार्य एक उपाधि दिलवाने का कारक तो हो सकता है पर उसका सामाजिक मूल्य शून्य ही रहेगा। अकादमिक अनुसंधान की विशिष्टता को स्वीकार करते हुए भी यह बात स्वीकार्य नहीं हो सकती कि अपने समय और युग यथार्थ से निरपेक्ष होकर सम्पन्न किया गया शोध ऐसा सार्थक योगदान दे सकता है जो अपने समय के सांस्कृतिक जीवन को गति अथवा वैचारिक उत्तेजना दे सके।

4.3.1 अनुसंधान – भारतीय इतिहास के अनुसंधान क्षेत्र में समसामयिक परिदृश्य की माँग के अनुरूप

शोध की प्रवृत्ति प्रबल रही है। भारत के नवजागरणकाल में और स्वाधीनता आंदोलन के दौरान प्राचीन भारत के इतिहास, दर्शन और साहित्य के ज्ञानभण्डार, समृद्ध वैभव और बौद्धिक सम्पदा को अनुद्घाटित करने का भगीरथ प्रयत्न, भारतीय जनमानस में आत्म गौरव का भाव जाग्रत करने के महत् उद्देश्य से किया गया था। राधामुकुद मुखर्जी, काशीप्रसाद जायसवाल, आर.जी. भण्डारकर, वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे उद्भट विद्वानों ने इस दिशा में गहन अनुसंधान कार्य किया था। पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों को काव्यात्मक कल्पना विलास का ऐसा नमूना बताया था जिसका ऐतिहासिक–सामाजिक सत्यता से कोई लेना देना नहीं है, परन्तु पार्जीटर जैसे प्राच्यविदों ने ही नहीं अपितु भारतीय इतिहास वेत्ताओं ने सिद्ध किया कि पुराणों की प्रतीकात्मक और आलंकारिक शैली में ऐतिहासिक व्यक्तियों के जीवन–चरितों का समावेश है। यही स्थिति वेदों के बारे में रही। भारतीय वाङ्मय के इन प्राचीनतम ग्रंथों के आधार पर तत्कालीन जीवन शैली, धर्म, समाज–व्यवस्थ, शासन प्रणालीसंबंधी विशद जानकारियाँ उपलब्ध कराई गईं ताकि भारत के गौरवपूर्ण अतीत एवं समृद्ध मेधा का परिचय विश्व को दिया जा सके।

4.3.2 भाषा–साहित्य और अनुसन्धान – भाषा, साहित्य, धर्म और दर्शन में किया जाने वाला अनुसंधान कार्य भी अपने सामाजिक–सांस्कृतिक उत्तरदायित्व से कट कर सार्थक नहीं हो सकता। साहित्यिक कृतियों, प्रतीकों, वादों और आन्दोलनों को व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य एवं ऐतिहासिक संदर्भों के बीच रखकर देखना साहित्यिक अनुसंधान की सही दिशा हो सकती है क्योंकि अंततः साहित्य अपने समाज और संस्कृति के बीच पल्लवित–विकसित होता है। इसलिए साहित्यिक अनुसंधान के विषयों का निर्धारण करते समय इस तथ्य को अनदेखा करना घातक होगा कि समय के जिस बिंदु पर शोध किया जा रहा है उसके साथ उसका रिश्ता क्या है, इतिहास के जिस चरण विशेष में संस्कृति और ज्ञान का जो विस्तृत ढाँचा विकसित हो रहा है उसके साथ इस शोध की कोई संगति बैठ पा रही है या नहीं। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए साहित्य और भाषा के विस्तृत भारतीय परिप्रेक्ष्य का उदाहरण लेना उचित होगा क्योंकि विगत एक हजार वर्षों में भारतीय समाज की सर्वोत्तम प्रतिभा का निदर्शन और सामाजिक संघर्ष की अभिव्यक्ति भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य में हुई है। राष्ट्रीय चिन्तन भी विकसित हुआ।

19वीं सदी का नवजागरण देश के बुद्धिजीवी वर्ग की सक्रियता का प्रमाण है। ये बुद्धिजीवी अपनी परम्परा को नये दृष्टिकोण से देखने के लिए कृतसंकल्प थे। राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित साहित्यकार अपनी सांस्कृतिक धरोहर का भलीभाँति अवगाहन करना चाहते थे। इसी कालखण्ड में संस्कृत पत्रकारिता का विकास हुआ, संस्कृत में सर्जनात्मक विधाएं पनपीं जिनमें आधुनिक उपन्यास, लघुकथाएं, यात्रावृत्त, निबन्ध आदि गिनाए जा सकते है। इसलिए इन सामाजिक सांस्कृतिक अनुषंगों को समझे बिना तत्कालीन साहित्य की प्राणधारा को पकड़ पाना कठिन होगा। आज के साहित्यिक अनुसंधान के विस्तृत परिदृश्य में बहुभाषाव्यापी साहित्यिक आंदोलनों या विचारों से निर्मित अखिल भारतीय साहित्यिक चरित्र को सदैव ध्यान में रखना साहित्येतिहास के अध्ययन और तुलनात्मक शोध के लिए भी अपरिहार्य होगा क्योंकि आधुनिक भारतीय भाषाएं और उनमें लिखा जाने वाला साहित्य, लगभग एक सी सामाजिक–आर्थिक संदर्भों की उपज है और उसका सांस्कृतिक फलक भी समान ही है भले ही उसके भीतर अलग–अलग सांस्कृतिक उपधाराएं भी विद्यमान हैं। इस साहित्यिक परिदृश्य में आधुनिकतावाद, स्वच्छंदतावाद, प्रतिशील साहित्य की अवधारणाएं अखिल भारतीय स्वरूप के साथ प्रकट हुई है।

भारत के स्वाधीनता आंदोलन से ऊर्जा ग्रहण करके ही भारत के तत्कालीन साहित्यिक आंदोलनों की अन्तर्वस्तु प्राणवान हुई है। आधुनिक काल को ही लें तो हम देख सकते हैं कि 19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर आज तक भारतीय अस्मिता की तलाश का संघर्ष, भारत की हर भाषा और उसके साहित्य में अभिव्यक्त हुआ है। संवेदना के धरातल पर परस्पर संवाद सभी भाषाओं में चलता रहा है। बहुत से अभिप्राय, प्रतीक और रूपक किसी एक स्रोत से चलकर अन्य भारतीय भाषाओं में पहुँचते रहे हैं। स्वच्छंदतावादी आंदोलन को बतौर उदाहरण लिया जा

सकता है। सन् 1920 के आसपास हिन्दी में स्वच्छंदतावाद का आरम्भ माना जाता है। सन् 1882 में महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'निर्झर स्वप्नभंग' शीर्षक कविता लिखी थी।

इतिहास में इसके पूर्व 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम लड़ा जा चुका था। भले ही अंग्रेज इतिहासकारों ने इसे गदर या सिपाही विद्रोह का नाम दिया था परन्तु यह वास्तव में वर्षों से गुलामी की नींद में सोए भारतीय जनमानस के जागरण का उद्घोष था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उक्त कविता प्रथम स्वच्छंदतावादी रचना मानी गयी है। इस कविता में कवि का मनरूपी निर्झर अंधगुफा के कारागार में आबद्ध रहने के पश्चात् प्रबल वेग से उमड़ता हुआ मुक्त आलोक में प्रवाहित हो रहा है "निर्झर प्रतीकात्मक रूप में सारे सामंती बंधनों को तोड़कर बह जाने वाली नयी मुक्ति चेतना, व्यक्तित्व चेतना की कथा है, जिसमें निर्झर आत्मप्रसार की कल्पना से पुलकित हो रहा है। आज वह करुणधारा ढालेगा, पाषाण कारा तोड़ेगा। उसके पास अनन्तप्राण हैं, अनन्त साधें हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्नशील हो उठा है...।" निर्झर का यह जुझारू प्रतीक अपने समकालीन मुक्तिकामी भारतीय जनमानस की अप्रतिम अभिव्यक्ति है।

हिन्दी में जयशंकर प्रसाद ने 1914 में 'झरना' कविता लिखी थी जिसमें आंतरिक उत्साह से भरे झरने के बह चलने का वर्णन किया गया है। उक्त दोनों कविताओं के भाव एवं प्रतीक–साम्य को महज संयोग अथवा अनुकरण कहना अनुचित होगा क्योंकि निर्झर अथवा नदी की सतत् प्रवाहमयी धारा के प्रतीक तत्कालीन भारतीय साहित्य में सर्वत्र मिलते हैं। बाधाओं को पार करते, सीमाओं को तोड़ते गत्यात्मक प्रतीकों को युगीन संदर्भों के बिना नहीं समझा जा सकता। वस्तुतः स्वाधीनता आंदोलन का वह दौर ऐसा समय था जब मुक्ति की स्वतंत्रता की कामना जनसाधारण के लिए काम्य हो गयी थी। राजनीतिक परिवर्तनों के कारण नयी परिस्थितियाँ एक नया विश्वास जगा रही थीं। उसी सामयिक चेतना की अभिव्यक्ति ऐसी कविताओं में हुई थी। ठीक ऐसी ही बात सन् 1936 के प्रगतिशील आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप के बारे में कही जा सकती है। प्रेमचंद ने जब कहा था कि 'हमें सौंदर्य के मानदंड बदलने होंगे' तो यह कोई शुद्ध शास्त्रीय विचार नहीं था अपितु सामाजिक यथार्थ की तार्किक संगति में प्रस्तुत किया गया साहित्यिक दृष्टिकोण था। अवांछित विस्तार से बचते हुए इस प्रसंग को इस निष्कर्ष के साथ ही विराम देना उचित होगा कि साहित्यिक अनुसंधान को व्यापक सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक संदर्भों के बीच स्थापित करना ही सार्थक पहल हो सकती है। अतः यह कहना उचित होगा कि सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन के लिए जो विषय उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हों उन पर अनुसंधान को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। विषय की उपयोगिता सूचना और ज्ञानवृद्धि दोनों ही दृष्टियों से हो सकती है। सामाजिक और सांस्कृतिक उपयोगिता से प्रेरित शोध–विषय के चयन से जीवन और ज्ञान का विकास होता है और जब शोधकार्य का परम लक्ष्य भी ज्ञान का विस्तार करना ही है तो शोध–विषय के निर्वाचन में पर्याप्त जागरूकता बरतने की आवश्यकता है।

अनुसंधान में मौलिक प्रस्थापना – अनुसंधान विषय के चयन के सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र के विचार विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उन्होंने शोधग्रन्थ के अंग्रेजी पर्याय 'थीसिस' की व्याख्या करते हुए लिखा है 'थीसिस संस्कृत न्यायशास्त्र के प्रतिज्ञा शब्द का निकटवर्ती है। इसका अर्थ है– कोई मौलिक प्रस्थापना विशेष को (शोध की) अनुगमन या निगमन विधि से सिद्ध किया जाता है। अनेक विद्वानों के अनुसार, शोध–प्रबन्ध का प्राण यह प्रतिज्ञा और इसकी सिद्धि ही है। इसलिए अंग्रेजी में शोध प्रबन्ध के लिए थीसिस शब्द रूढ़ हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि उत्तम शोध प्रबन्ध में किसी ने किसी प्रकार की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि होनी चाहिए। उससे अनुसंधित्सु विषय का सूत्र और इसी अनुपात से उपलब्ध सत्य का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।" इस शोध–प्रतिज्ञा को हम अनुसंधान के संभावित निष्कर्ष अथवा दिशासूचक मंतव्य भी कह सकते हैं। अनुसंधान किस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए किया जा रहा है, इसकी अवधारणा प्रारंभ में (भले ही वह धुँधली ही हो) ही स्पष्ट किये बिना अनुसंधान में प्रवृत्त होना अंधेरे में भटकने के समान होगा। निष्कर्षों का पूर्वानुमान हमें सिद्धान्त तक पहुँचाने की दिशा का

संकेतक बनेगा। तथापि अनुसंधेय विषय के निष्कर्ष संबंधी पूर्वानुमान को शोधार्थी का पूर्वाग्रह नहीं मानना चाहिए इसके लिए जरूरी है कि शोधार्थी शोधविषय में विपरीत तथ्यों के विद्यमान रहते हुए भी दुराग्रही न बना रहे और तथ्यों की वस्तुगतता के दृष्टिगत अपनी शोध परिकल्पना और पूर्वानुमानों में संशोधन करने के लिए तत्पर रहे। डॉ. नगेन्द्र मूल प्रतिज्ञा को प्रस्थापित करके शोध करने की पद्धति के खतरे से भी अवगत कराते हैं– "इस प्रकार के अनुसंधान में यह आशंका सदा रहती है कि कहीं मूल प्रतिज्ञा ही अशुद्ध न हो या शोधक प्रतिज्ञा के प्रति दुराग्रही होकर तथ्यों को विकृत रूप से पेश न करे या उनकी विकृत व्याख्या न करने लगे। ऐसी उत्साही व्याख्याओं और दुराग्रहों के बल पर तुलसीदास को हिन्दूधर्म का रक्षक घोषित करने वाले शोधकार्यों से सुधी पाठक अपरिचित नहीं है। अतः शोध करते समय शोधार्थी को यह आलोचनात्मक विवेक बराबर जाग्रत रखना चाहिए कि वह तथ्यों पर शासन नहीं करे अपितु तथ्यों द्वारा अनुशासित बना रहे। नवीन तथ्यों की खोज हो अथवा उपलब्ध तथ्यों अथवा सिद्धान्तों की युगानुरूप व्याख्या और अर्थविस्तार सभी का परम लक्ष्य ज्ञान का विस्तार करना ही है लेकिन आलोचनात्मक विवेक के अभाव में अनुसंधान के अन्तर्गत न तो वस्तुगत तथ्यान्वेषण संभव होगा न तार्किक तथ्याख्यान। शोध के अनेक विषय ऐसे हो सकते हैं जिनके अन्तर्गत मात्र तथ्यान्वेषण से काम चल सकता है लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि तथ्यान्वेषण अनुसंधान का आधार मात्र है और अध्ययन का प्रारम्भिक स्तर होने के नाते अपेक्षाकृत निम्नतर रूप भी है। शोधार्थी की प्रतिभा का निदर्शन तथ्यों के सारगर्भित विश्लेषण के जरिए विषय की नयी अर्थछवियों के उद्घाटन में ही निहित होता है। अतः अनुसंधान के तथ्यान्वेषण को नवीन मौलिक उद्भावनाओं की ओर उन्मुख करना चाहिए।

4.4 अनुसंधान विषय का चयन

अनुसंधान कार्य का यह पहला चरण ही शोधार्थी की पहली व्यावहारिक कठिनाई है क्योंकि उसके समक्ष न तो अपनी अभिरूचि का क्षेत्र पूर्णतः स्पष्ट होता है न शोध की कोई योजना उसके मन में होती है। ऐसा अगर हो भी तो प्रस्तावित शोध–परिकल्पना पर शोध कराने की सहमति देने वाले शोध–निर्देशक को पाना भी सहज नहीं होता। कई बार शोधार्थी को विषय–निर्वाचन के लिए शोध–निर्देशक की इच्छा–अनिच्छा का भी अनुमान करना पड़ता है। वर्तमान में विषय–निर्वाचन के लिए दो तीन–प्रणालियाँ अपनायी जा रही हैं–

4.4.1 शोधार्थी की वैयक्तिक अभिरूचि से संचालित स्वच्छंद दृष्टि, जिसमें शोधार्थी अपनी पसंद और क्षमता आदि के दृष्टिगत एकाधिक विषयों का प्रस्ताव निर्देशक के समक्ष प्रस्तुत करता है। अब यह निर्देशक पर निर्भर करता है कि वे शोधार्थी की अध्ययन क्षमता, संदर्भ सामग्री की उपलब्धता आदि बातों का वस्तुगत आकलन करके किसी एक विषय का निर्धारण करें। यदि कोई शोधार्थी दो भाषाओं के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहता है तो अभिरूचि के साथ–साथ यह भी अनिवार्य है कि उसे दोनों भाषाओं का सम्यक् ज्ञान हो और प्रस्तावित विषय से संबंधित अनुवाद भी सुलभ हो। भाषा और बोलियों पर काम करने वाले शोधार्थी से अपेक्षा की जाती है कि उसे व्याकरण का पर्याप्त ज्ञान हो। यह शोध–विषय के निर्धारण की व्यक्तिसापेक्ष प्रणाली कही जा सकती है।

4.4.2 **अनुसंधान की विभागीय योजना प्रणाली** – देश के कुछ विभागों में अपने यहाँ उपलब्ध विद्वान् शिक्षकों की क्षेत्र–विशेष में दक्षता, स्थान विशेष की माँग, समसामयिक साहित्यिक परिदृश्य के अनुरूप विषयों की व्यापक रूपरेखा बना ली जाती है। फिर शोधार्थी की क्षमता और अभिरूचि के अनुरूप विषय का निर्धारण कर दिया जाता है।

4.4.3 कतिपय विभागों में अनुसंधान योजना निर्धारित करके शोधार्थियों को विषय–चयन के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। किसी रचनाकार अथवा उद्देश्य–विशेष से स्थापित किये गए अध्ययन केन्द्रों/पीठों में यह पद्धति अधिक अपनायी जाती है।

शोध–सम्बंधी विभागीय योजना के अनुरूप विषय निर्धारण की सबसे बड़ी समस्या यही है कि शोधार्थी

की अभिरूचि को प्रायः अनदेखा कर दिया जाता है इसलिए शोधार्थी चाह कर भी अपेक्षित उत्साह से अनुसंधान कार्य सम्पन्न नहीं कर पाता। दूसरे विभाग–प्रमुखों की निजी पसंद–नापसंद भी विषय–निर्वाचन का आधार बन जाती है। कतिपय विभाग प्रमुखों के दृष्टिकोण के चलते एक मान्यता प्रचलन पा गई थी कि शोधकार्य मुख्यतः प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्यिक विषयों पर किया जाना चाहिए क्योंकि समसामयिक साहित्य हमारे इतना समीप होता है कि उसका तटस्थ मूल्यांकन नहीं किया जा सकता और इसमें शोधार्थी के व्यक्तिगत दुराग्रहों के प्रबल रहने की आशंका अधिक रहेगी। इसी मताग्रह के कारण लम्बे समय तक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में न केवल छायावादोत्तर काव्य अपितु जीवित रचनाकारों की कृतियाँ भी साहित्यिक शोध के दायरे से बाहर रहीं। संस्कृत साहित्य में भी काव्यशास्त्र की परिसीमा जगन्नाथ पंडितराज के रसगंगाधर तक ही मानरखी जाती थी। आधुनिक काल में भी गद्य पं. अम्बिका दत्त व्यास के शिवराज विजय से आगे नहीं बढ़ा था, ऐसा लगना रहा।

उक्त तीनों प्रणालियों की क्षमता–सीमाओं के दृष्टिगत बेहतर यही होगा कि शोधार्थी की अभिरूचि और विभागीय शोध–योजना के बीच समुचित संतुलन बनाते हुए अनुसंधान के क्षेत्र और विषय निर्धारित किये जाए। इसका पहला लाभ तो यह होगा कि अनुसंधानकार्य सामाजिक–साहित्यिक महत्त के दृष्टिकोण से संचालित होगा और अनुसंधान निष्कर्षों की प्रासंगिकता बनेगी। दूसरे, इससे अन्य विश्वविद्यालयों में हुए अथवा हो रहे शोध विषयों की पुरावृत्ति पर रोक लगेगी। तीसरे शोधविषय परस्पर पूरक के रूप में कार्य कर रस सकेंगे और साहित्य, इतिहास तथा दर्शन आदि क्षेत्रों में एक निश्चित और नियमित प्रगति की संभावना बढ़ेगी। तथापि योजनाबद्ध अनुसंधान की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि शोधार्थी की योग्यता, क्षमता और रूचि को भी समुचित महत्व दिया जाए। शोधार्थी की अभिरूचि को अनदेखा किये जाने पर अनुसंधान, श्रमसाध्य कवायद बनकर रह जाएगा।

इस सबके साथ ही इस बात से कौन इनकार कर सकता है कि शोधार्थी की अभिरूचि, बौद्धिक क्षमता को उपयुक्त विषयक्षेत्र में नियोजित करके वांछित लक्ष्य तक पहुँचाने में सुयोग्य शोध–निर्देशन की भूमिका अपरिहार्य होती है। 'बिन गुरु ज्ञान को निरगुन पावा'। सुयोग्य निर्देशक, शोधार्थी को लक्ष्य को प्रेरित बाण की तरह साधकर सार्थक अनुसंधान कार्य सम्पन्न करवा सकते हैं। अतः विभागीय अनुसंधान–योजना में उपलब्ध विद्वानों की विशेषज्ञता के अनुरूप शोधकार्य का आबंटन किया जाना चाहिए ताकि शोध–कार्य सार्थक परिणतियों/निष्कर्षों तक पहुँच सके।

अनुसंधान विषयों के निर्वाचन संबंधी महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विस्तृत चर्चा की पृष्ठभूमि में विषय निर्वाचन की प्रमुख श्रेणियों का वर्णन करना उपयुक्त होगा।

4.5 विषय चयन की श्रेणियाँ

मानवीय ज्ञान और अनुभूतियों का निदर्शन लिखित और अलिखित अथवा लोक साहित्य के रूप में हुआ है। लिखित साहित्य में काव्य, शास्त्र, दर्शन और इतिहास मुख्य रहे हैं। यहाँ काव्य और साहित्य को समानार्थी मानकर प्रयोग किया जा रहा है इसलिए विषय–निर्वाचन के संदर्भ में भाषा–विशेष तथा उस भाषा में मानवीय अनुभूतियों और विचारों से पूर्ण काव्यात्मक अथवा गद्यात्मक रूपों को लिया जा रहा है। विभिन्न साहित्य रूपों के प्रमुख तत्त्व हैं– विषयवस्तु, भाव, विचार, भाषा और कला। शोधकार्य हेतु इनमें से किसी एक को अथवा कृति–विशेष के संदर्भ में सभी को शोध का विषय बनाया जा सकता है। इन तत्त्वों की प्रमुखता के आधार पर विषय निर्वाचन की निम्न श्रेणियाँ हो सकती है।

4.5.1 वस्तुगत तथ्यानुसंधान संबंधी विषय – इसके अन्तर्गत किसी कृति विशेष के वर्ण्य विषय का विवरण एवं उसके तथ्यों का आकलन किया जाता है। साहित्य के विषय, जीवन के विविध क्षेत्रों और कार्य–व्यापारों से संबंध रखते हैं। इसलिए वस्तुगत तथ्यानुसंधान का संबंध, विचारात्मक क्षेत्रों यथा– सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक आदि से घनिष्ठ रूप से हो सकता है और वस्तु–तथ्यों के प्रकार भेद भी इन्हीं क्षेत्रों के आधार पर हो सकते हैं–जैसे तुलसीदास कृत रामचरितमानस की कथावस्तु और उसके आधारस्रोत। इसमें शोधार्थी रामकथा के विभिन्न स्रोतों का तथ्यगत आकलन और विश्लेषण कर सकता है। ध्यातव्य है कि रामकथा के उद्भव और विकास तथा भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में उपलब्ध रामकथा के विभिन्न रूपों

का अध्ययन फादर कामिल बुल्के ने अपने शोधग्रन्थ में किया था। तथ्यानुसंधान में शोधार्थी दो भिन्न भाषाओं में एक मूलकथा को आधार बनाकर रचे गए ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन भी कर सकता है, यथा– रामचरितमानस और कम्ब रामायण की अन्तर्वस्तु और शिल्प का तुलनापरक अध्ययन। इसी प्रकार कालिदास के रघुवंश में दिलीप से लेकर अग्निमित्र तक के राजाओं के वर्णनों में विभिन्न पुराणों, वाल्मीकीय रामायण आदि का तथ्यगत अनुसरण कितना हुआ है, कवि की मौलिक उद्भावना कितनी है इनका अध्ययन होता रहा है।

4.5.2 भावानुसंधान संबंधी विषय – इसके अन्तर्गत किसी भी साहित्यिक विधा में नीहित भावधारा का अध्ययन–अनुशीलन किया जाता है। साहित्यिक शोध में काव्य को सर्वाधिक प्रमखंता मिली है। उसमें भी काव्य के भावपक्ष, काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप कृति–विशेष का विवेचन लम्बे समय तक शोध का प्रिय विषय रहा है। साहित्य के भावपक्ष के शास्त्रीय विवेचन के अनेक सिद्धान्त रहे हैं। रस, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति अपनी मूल भावना में काव्य के भाव पक्ष को सिद्ध करने वाले सिद्धान्त ही रहे हैं। इन काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के अध्ययन का एक ऐतिहासिक पहलू है अर्थात् किस सिद्धान्त का आरम्भ कब हुआ उसके प्रवर्तक कौन थे, किन विद्वानों–शास्त्रकारों ने इसके विकास एवं संवर्धन में योगदान दिया। ये सब बिंदु स्वयं अनुसंधान विषय हो सकते हैं। इसका दूसरा पक्ष सिद्धान्त के विभिन्न पक्षों का समग्र और तात्विक अध्ययन से जुड़ा है जिसमें इस सिद्धान्त के साहित्यिक विश्लेषण के उपकरण–पद्धति–क्षमता का विश्लेषण किया जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के अनुरूप नायक, नायिका षडऋतु वर्णन, रस, अलंकार योजना आदि पर आधारित अनुसंधान कार्य कराए जाते रहे हैं। यही नहीं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्तों (त्रासदी, उदात्त काव्य की अवधारणा आदि) के दृष्टिगत काव्यकृतियों का अनुशीलन भी अनुसंधान क्षेत्र में स्वीकार्य रहा है। तथापि आधुनिक काव्य, विशेषतः प्रगतिशील एवं परवर्ती काव्य के बाद शुद्ध काव्यशास्त्रीय पद्धति से किए जाने वाले शोध–कार्यों पर किंचित् रोक लगी है क्योंकि सामाजिक यर्थाथ की ठोस जमीन पर निर्मित और आधुनिक भाव एवं युगबोध से सम्पन्न साहित्य की भावधारा को खींचतान कर शास्त्रीय खाँचे में फिट करना शोधार्थियों के लिए कष्टकर और श्रमसाध्य कार्य बन गया।

4.5.3 विचारानुसंधानपरक विषय – कृति–विशेष को किसी विचार–प्रणाली अथवा सम्प्रदाय विशेष के शास्त्रीय मतों की दृष्टि से देखना परखना विचारानुसंधान की श्रेणी में आता है। यथा–संस्कृत के कौन से ग्रन्थों का काव्यों में वैदिक कर्मकांड का अधिक प्रभाव दिखता है, कौन से में भक्ति आन्दोलन का, किन में शैव संप्रदाय का, किनमें वैष्णव संप्रदाय का, यह शोध का विषय रहा है, हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य में वल्लभ संप्रदाय के विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुरूप सूरसाहित्य का अध्ययन अथवा आनन्दवादी दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकाश में जयशंकर प्रसाद की कामायनी का अध्ययन। आधुनिक दौर में मार्क्सवादी, रूपवादी और मनोविज्ञान विषयक सिद्धान्तों के अनुरूप साहित्य के शोध की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्रीय, संरचनावादी, उत्तर आधुनिकता संबंधी विचारात्मक अवधारणाओं के प्रकाश में भी साहित्यिक कृतियों पर शोध किया जाने लगा है।

4.5.4 प्रवृत्तिपरक अनुसंधान के विषय – साहित्य के एक युग–विशेष में अथवा एक विशेष भाषिक क्षेत्र में समान साहित्यिक भावधारा और प्रवृत्तियाँ प्रमुखता से परिलक्षित होने लगती है। ऐसे में प्रवृत्ति विशेष के दृष्टिगत किसी एक रचनाकार अथवा युग विशेष की विभिन्न कृतियों का प्रवृत्तिपरक अनुशीलन भी अनुसंधान का विषय बन सकता है। यथा–गद्य में कौन से ग्रन्थ बाणभट्ट की कादम्बरी की अलंकृत शैली से प्रभावित रहे, कौन से प्रसादगुण युक्त शैली से, यह अध्ययन किया गया है। हिन्दी काव्य में रहस्यवाद, अस्तित्ववाद आदि का अध्ययन प्रचुर मात्रा में किया गया है। इसी तरह आधुनिक हिन्दी कविता, कहानी अथवा उपन्यासों की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन, अनुसंधान का प्रिय क्षेत्र रहा है। हम चाहें तो इसे वादों और सम्प्रदायों के अध्ययन को एक श्रेणी बनाकर प्रवृत्तिपरक शोध से अलग भी रख सकते हैं। वादों का

अध्ययन मुख्यतः भावपक्ष से और सीमित अर्थों में कलापक्ष से संबंध रखता है। वाद साहित्यिक भी होते हैं और वैचारिक तथा दार्शनिक भी। इसलिए वादों का अध्ययन करते समय उनकी मूल दार्शनिक प्रपत्तियों को जानने से पहले यह जाँच लेना चाहिए कि क्या इस मत अथवा दर्शन से साहित्य सृजन को नयी दिशा मिली है या साहित्य के मूल्यांकन–अध्ययन के नये मानदण्ड मिले है अथवा नहीं। साहित्यिक अनुसंधान को वादों के साहित्यिक अवदान तक सीमित रखना उपयुक्त होगा। वाद–विशेष की दार्शनिक प्रपत्तियों का अध्ययन साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में अवांछित हस्तक्षेप ही माना जाएगा।

4.5.5 कलारूप विषयक अनुसंधान– साहित्य अपने कलागत कौशल, शैलीगत भिन्नता के बल पर ही सामान्य वार्ता से अपना वैशिष्टय स्थापित करता है। इसलिए साहित्यिक कृतियों के कलारूप अथवा शैलीगत वैशिष्टय का अध्ययन अनुसंधान का विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध कराता है। प्रत्येक काव्यविधा अथवा गद्यविधा के उद्भव एवं क्रमिक विकास का अनुशीलन भी शोध का विषय रहा है क्योंकि किसी कलारूप का विकास विशिष्ट समाजिक एवं भाषिक परिस्थितियों के बीच होता है और वह अपने युगानुरूप परिवर्धित होता जाता है। जैसे आधुनिक युग में संस्कृत में गीतियों, गजलों आदि की रचना होने लगी। लघुकथाओं की अनेक विधाएं पनपीं। पत्रकारिणी के विकास के फलस्वरूप यात्रावृत्त, लालित निबंध आदि भी लिखे जाने को हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग में खड़ी बोली के साथ–साथ उपन्यास का उदय एक विशिष्ट साहित्यिक परिघटना है जिसका सम्यक् अनुशीलन पर्याप्त शोध के अवसर उपलब्ध कराता है। ऐसा ही अध्ययन अन्य विधाओं के संबंध में भी किया जा सकता है।

4.5.6 भाषा संबधी अनुसंधान – भाषा, साहित्य के अभिव्यक्ति पक्ष का मूलाधार है। इसलिए किसी कृति में प्रयुक्त भाषा का भाषाशास्त्रीय एवं काव्यात्मक अभिव्यंजना की दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है। साहित्यिक कृतियों से इतर भाषिक विकास का अध्ययन भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान के विपुल अवसर प्रस्तुत करता है। भाषा संबंधी शोधकार्य शब्दानुशासन पर निर्भर करता है क्योंकि शब्द भाषा का मूलतत्व है उसी से भाषा की रूपरचना होती है, उसके विभिन्न घटकों का निर्माण होता है। शब्दों की व्युत्पत्ति के साथ ही शब्दों के रूप परिवर्तन, अर्थपरिवर्तन उसकी प्रकृति और प्रक्रिया, भाषा के विभिन्न पदों–संज्ञा, सर्वनाम, कारक आदि से सम्बन्धित शोधविषय निर्धारित किये जा सकते हैं। आधुनिक संस्कृत में नई अभिव्यक्तियों के लिए नए शब्द किस प्रकार उद्भुत हुए इस पर अध्ययन किया जा सकता है। इतना ही नहीं मुख्य भाषा (यथा हिन्दी) और उसकी बोलियों का अध्ययन अनुसंधान का व्यापक क्षेत्र है। किसी सीमित क्षेत्र की बोली का ध्वनि, अर्थ, संरचना आदि की दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है। यही नहीं एक विकसित भाषा के रूप में ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी के रूपवैविध्य के अनुसार अध्ययन भी अनुसंधान का विषय हो सकता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि साहित्यिक भाषा और स्वतंत्र इकाई के रूप में भाषा अध्ययन में अनुसंधान के असंख्य विषय मिल सकते हैं।

4.5.7 पाठानुसंधान संबंधी विषय – अनुसंधान का यह क्षेत्र मुख्यतः प्राचीन कृतियों के पाठनिर्धारण से सम्बन्धित होता है। किसी प्राचीन कृति की उपलब्ध अनेक प्रतियों के समुचित अध्ययन और अनुसंधान के बाद उसका प्रामाणिक पाठ निर्धारित करना महान परिश्रम की माँग करता है। इसके लिए शोधकर्ता को कृति–विशेष में प्रयुक्त भाषा के व्याकरणिक और प्रचलित रूपों, तत्कालीन साहित्यिक–सांस्कृतिक परम्पराओं और प्रवृत्तियों से भी भलीभाँति परिचित होना होगा तभी वह अर्थ की आंतरिक संगति बिठाते हुए पाठ का निर्धारण कर सकेगा।

4.5.8 ऐतिहासिक अनुसंधान–संबंधी विषय – इसमें किसी कृति में वर्णित तथ्यों, घटनाओं, चरित्रों के साथ–साथ सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का वस्तुगत साक्ष्यों के प्रकाश में अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन में अन्य ग्रन्थों के साक्ष्य जुटाने के साथ–साथ, तत्कालीन ऐतिहासिक शिलालेखों, पट्टों, प्राचीन पांडुलिपियों आदि का गहन अध्ययन किया जाना अपेक्षित है। इसलिए ऐतिहासिक अनुसंधानपरक विषय अत्यंत श्रमसाध्य होते हैं और शोधार्थियों को प्रायः कम आकर्षित कर पाते हैं।

4.5.9 साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुसंधान – हिन्दी में तथा संस्कृत में भी पिछले कुछ वर्षों से साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति बढ़ी है जिसमें आधुनिक भारतीय भाषाओं की साहित्यिक साहित्यिक कृतियों, साहित्यकारों और साहित्यिक प्रवृत्तियों का अध्ययन प्रमुख रहा है। इससे भाषाओं के बीच संवाद का पथ प्रशस्त हुआ है। पूर्व में उल्लेख किया गया है कि आधुनिक काल में कतिपय साहित्यिक अवधारणाओं का विकास अखिल भारतीय चरित्र लेकर हुआ है, ऐसे में तुलनात्मक अध्ययन के जरिए उनकी एकरूपता और वैशिष्ट्य दोनों का रेखांकित किया जा सकता है। यही नहीं तुलनात्मक शोध में विभिन्न साहित्यिकारों, रचनाओं, प्रवृत्ति और शैलियों की तुलना में दो भाषाओं, दो जातियों के सांस्कृतिक सम्पर्क, संघर्ष और समन्वय का चित्र उभरता है और साहित्य के व्यापक प्रभाव, उसकी लोकप्रियता के कारकों का भी अध्ययन किया जा सकता है। यहाँ यह संकेत करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि तुलनात्मक साहित्य के शोधार्थी को बहुभाषा ज्ञान का अतिरिक्त दायित्व स्वीकारना पड़ेगा। उसे न केवल भाषा बल्कि सम्बद्ध भाषिक संस्कृति से भी परिचत होना पड़ेगा। अनुवाद की अनुपलब्धता तो एक बाधा है ही उससे आगे अनुवाद एक सीमा तक हमारी मदद कर सकते हैं। प्रसिद्ध कथन है **Poetry is that what is hot lost in translation** अर्थात् साहित्य की भाषा में जो सृजन तत्त्व है–शब्दों की संधियों में छिपा जो अर्थ है, उसे पकड़ने के लिए भाषा और भाषिक संस्कृति का सीधा और गहरा ज्ञान ही मददगार हो सकता है। भारत जैसे बहुभाषा भाषी देश में विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य में अन्तर्निहित भारतीय परिप्रेक्ष्य के उद्घाटन और समग्र भारतीय साहित्य के इतिहास के निर्माण में तुलनात्मक अनुसंधान की भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी।

4.5.10 लोक साहित्य–संबंधी अनुसंधान का क्षेत्र – जनसामान्य में प्रचलित अलिखित साहित्य को लोकसाहित्य कहा जाता है, जो वस्तुतः अंग्रेजी के **Folk Literature** का पर्याय है। लोकसाहित्य के अन्तर्गत लोकगीत, लोककाव्य, लोकगाथाएं, कहावतें, मुहावरे, लोकनाटकों, जनश्रुतियों आदि का समावेश किया जाता है। यद्यपि संस्कृत साहित्य सम्बन्धी अनुसंधान में इस क्षेत्रों का उतना स्पर्श नहीं हो पाया है जितना संभावित है किन्तु विश्वविद्यालयों में साहित्य एवं भाषा के विविध रूपों में लोक–साहित्य सम्बंधी अनुसंधान कराए जाते हैं। जैसे हिंदी की बोलियों के रूप में परिगणित ब्रज, कौरवी, अवधी आदि के अलावा, मालवी, गढ़वाली, कुमाऊँनी, बुंदेली, कन्नौजी आदि बोलियों के लोकगीतों, कहावतों, लोकनाटकों, गाथाओं आदि से संबंधित शोध कार्य करवाए जाते हैं। बोलियों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन तो शोध का पृथक क्षेत्र है ही। इस क्रम में प्राकृत साहित्य का, गाथाओं का तथा लोकमानस की अभिव्यक्ति करने वाले संस्कृत काव्यों एवं कथाओं आदि का अनुशीलन संस्कृत क्षेत्र के अनुसंधान में भी नई दिशाएं दे सकता है।

उपर्युक्त वर्णित विषय–क्षेत्र अनुसंधान के व्यापक फलक के कतिपय परिदृश्यों के संकेतक मात्र हैं इन्हें किसी भी रूप में निर्धारक अथवा नियामक नहीं माना जाना चाहिए। शोधार्थी, विभागीय शोधनीति और योजना के दृष्टिगत ही नहीं अपितु साहित्य के समसामयिक परिदृश्य, नयी वैचारिक उद्भावनाओं, वैश्विक अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में अनुसंधान के नए–नए क्षेत्र खोजे जा सकते हैं। मसलन भूमण्डलीकरण के फलस्वरूप हिन्दी, संस्कृत तथ अन्य भारतीय भाषाओं के समक्ष अंग्रेजी के बढ़ते वर्चस्व से उत्पन्न चुनौतियों का अध्ययन भाषा और साहित्य में अनुसंधान का रोचक विषय हो सकता है।

अनुसंधान के विषय चयन संबन्धी विश्लेषण के समाहार मे विषयगत अतिव्याप्ति एवं अस्पष्टता विषयक आशंकाओं की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए ताकि अनुसंधान विषय के निर्धारण को दोषमुक्त किया जा सके। हम अपनी बात की शुरूआत डॉ. नगेन्द्र के कथन से करना चाहेंगे– "साहित्यिक अनुसंधान, साहित्य की परिधि के भीतर ही रहना चाहिए। ऐसी सामग्री को, जो साहित्य के अन्तर्गत नहीं आती अर्थात् लो अपनी विषयवस्तु और प्रतिपादन शैली द्वारा सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने में सर्वथा अक्षम है, साहित्य के अनुसंधान क्षेत्र के अन्तर्गत संग्राह्य नहीं मानना चाहिए। आज हिन्दी के अनुसंधाता आदिकाल, भक्तिकाल और आधुनिक हिन्दी–साहित्य

के पूर्वाद्ध आदि से सम्बद्ध ऐसी प्रचुर सामग्री का ढेर लगाते जा रहे हैं जो साहित्य नहीं है... उनका ऐतिहासिक सांस्कृतिक मूल्य है– ठीक है, मैं इसे मानता हूँ लेकिन जो स्पष्टतः अकाव्य है उस सामग्री का उपयोग पृष्ठभूमि आदि का निर्माण करने के लिए कीजिए परन्तु काव्य शीर्षक के अन्तर्गत उनका अनुसंधान करने की कृपा न कीजिए।'' डॉ. नगेन्द्र के क्षोभ के औचित्य के लिए एक उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। भक्ति साहित्य की अखिल भारतीय स्तर पर एक समृद्ध परम्परा रही है जिसके अन्तर्गत आने वाले संतों की वाणियों, रचनाओं का सांस्कृतिक एवं साहित्यक अवदान निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका है। लेकिन वर्तमान में संत साहित्य के नाम पर विभिन्न धार्मिक मठों, सम्प्रदायों और गद्दियों में उपलब्ध पोथियों, धार्मिक ग्रंथों को भी साहित्यिक अनुसंधान के दायरे में लाया जा रहा है। राजस्थान में दादूपंथी गद्दियों और विश्नोईयों की शिष्य–परम्परा और उनकी काव्य गुणहीन वाणियों (जिनकी रचना शुद्ध सम्प्रदाय विशेष के मतानुसार की गई थी) को भी हिन्दी–साहित्य में समाहित करके शोध कराए जा रहे हैं।

लगभग ऐसी ही अराजकतापूर्ण स्थिति लोकसाहित्य के अनुसंधान क्षेत्र में व्याप्त है। लोकसाहितय में लोककथाओं और लोकप्रचलित गप्पों, लोकगीतों और तुकबंदियों का अंतर भुला दिया जाता है। हर छोटे बड़े जनपद में नामकरण, शादी–ब्याह के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों को संकलित करने के कार्य को शोध का नाम दे दिया जाता है। उसमें क्षेत्र–विशेष के सांस्कृतिक वैशिष्टय को रेखांकित करने का कोई प्रयास नहीं होता। ऐसे शोधग्रंथ, लोकगीतों, कथाओं, लोकोक्ति या मुहावरों के उथले संकलन भर होते हैं। तात्पर्य यह है कि लोकसाहित्य के किसी भी रूप को समाहित करने की अपेक्षा मानवीय भावनाओं और लोकहृदय की मधुर–करुण अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने वाले लोककला रूपों को ही साहित्यिक अनुसंधान के दायरे में लाना चाहिए। ऐसा ही एक उदाहरण बोलियों के विषय में दिया जा सकता है। आजकल राजस्थानी को संविधान की अनुसूची में शामिल किये जाने के लिए बाकायदा आंदोलन चलाया जा रहा है। वर्तमान में राजस्थान बागड़ी, मेवाती, ढूँढाड़ी, हाड़ौती और मारवाड़ी आदि अनेक बोलियाँ प्रचलन में हैं। अब राजस्थानी के नाम पर किस बोली को संविधान सूची में शामिल करवाया जाएगा या इनके घालमेल से राजस्थानी के नाम पर एक नयी बोली रची जाएगी इस बारे में कोई स्पष्ट सोच नहीं दिखाई दी है। कोई आश्चर्य नहीं कल कोई अति उत्साही अनुसंधानकर्ता राजस्थानी को ही अपना शोध–विषय बना ले। एक भाषा के रूप में राजस्थानी भाषा के वस्तुगत अस्तित्व की अनुपस्थिति को रेखांकित करने का हमारा अभिप्राय मात्र इतना ही है कि हम साहित्यिक अनुसंधान के नाम पर असाहित्यिक सामग्री के संकलन और काल्पनिक मान्यताओं की साहित्यिक पुष्टि जैसे निरर्थक प्रयासों से बच सकें।

इस दृष्टि से संस्कृत क्षेत्र इस प्रकार की अराजकता से प्रायः मुक्त रहा है, यह कहा जा सकता है। संस्कृत में किसी काल विशेष में विभिन्न स्मृतियों आदि के वचन इकठ्ठे कर आसानी से संकलित किये हुए तथाकथित धर्मशास्त्र ग्रन्थों पर भी यद्यपि शोधकार्य हो रहा है किन्तु उसका भी शास्त्रीय अनुसंधान की दृष्टि से शोधात्मक महत्त्व है। यहाँ लोकसाहित्य का वह स्वरूप नहीं मिलता जो पूर्णतः असाहित्यिक हो, जैसा कि हिन्दी आदि जनभाषाओं से मिलता है। कारण स्पष्ट है।

4.6 सारांश

साहित्यिक अनुसंधान का चरम लक्ष्य साहित्य के काव्य–सत्य की खोज करना है, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक तथ्य इस काव्य–सत्य से जुड़कर ही सार्थक हो सकते हैं। आलोचनात्मक विवेक ही वह दीपक है, जिसके प्रकाश में अनुसंधानकर्ता तथ्याख्यान और तथ्यान्वेषण की अंधेरी गलियों से गुज़रकर

काव्य–सत्य रूपी लक्ष्य तक पहुँचता है। आखिर तो साहित्यिक अनुसंधान का लक्ष्य भी तो हमारे ज्ञान का विस्तार करना और प्राप्त ज्ञान की मौलिकता और उपादेयता को स्थापित करना ही है।

4.7 उपयोगी संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. विनयमोहन शर्मा– शोध प्रविधि, नेशनल पेपर बैक्स, नई दिल्ली
2. संपादक– डॉ. सावित्री सिन्हा एवं डॉ. विजयेन्द्र स्नातक – अनुसंधान प्रक्रिया, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।
3. सं. गिरिराज शरण अग्रवाल डॉ. मीना अग्रवाल – शोध दिशा (पत्रिका), शोध अंक 6, अक्टुबर–दिसम्बर, 2008।
4. Journal of Indian Languages - Centre of Indian Languages, School of Languages, J.N.U. New Delhi, Vol. I No. 2, May 1979.

4.8 बोध प्रश्न

1. अकादमिक शोध की विशिष्टता रेखांकित करते हुए शोध प्रविधि में अपनायी जाने वाली विभिन्न पद्धतियों का वर्णन करें।
2. 'युग सापेक्ष शोधकार्य ही ज्ञानवृद्धि में सहायक हो सकता है' इस कथन को सोदाहरण सिद्ध करें।
3. प्रवृत्ति परक अनुसंधान का विवेचन कीजिए।
4. शोध–विषय के चयन की प्रमुख प्रणालियों का उल्लेख करते हुए निर्वाचन के संबंध में अपने मत को तर्कसहित प्रस्तुत करें।
5. शोध–विषय के प्रमुख क्षेत्रों का सोदाहरण विवेचन करें।

इकाई– 5

भाषावैज्ञानिक शोध, तुलनात्मक शोध एवं समीक्षात्मक शोध के विभिन्न प्रकार

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 अनुसन्धान के प्रकार

5.3 स्वरूप की दृष्टि से अनुसन्धान के प्रकार

5.4 भाषावैज्ञानिक शोध

5.5 तुलनात्मक शोध

5.6 समीक्षात्मक शोध

5.7 निष्कर्ष

5.8 बोध प्रश्न

5.9 उपयोगी ग्रन्थ

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

अब तक आप अनुसन्धान के अर्थ, स्वरूप व प्रकृति को समझ चुके हैं। यह अनुसन्धान अज्ञात तथ्यों की खोज व ज्ञात तथ्यों के नवीन दृष्टि से समीक्षण आदि रूप में कई प्रकार का हो सकता है। विषय के अनुसार भी अनुसन्धान का स्वरूप व प्रकार भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। वैज्ञानिक शोध अपने आप में अलग विधा है उसी प्रकार साहित्यिक शोध का भी अपना अलग स्वरूप है। इस इकाई में हम साहित्यिक शोध के विविध पक्षों का सामान्य परिचय प्राप्त करते हुए भाषा वैज्ञानिक, तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक शोध के स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे। इस इकाई में आप निम्नलिखित बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

- शोध के प्रकार
- भाषावैज्ञानिक शोध
- तुलनात्मक शोध
- समीक्षात्मक शोध

इस इकाई के अध्ययन से आप शोध के विविध प्रकारों को जान सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

मानव मन में स्वभावतः नई–नई जिज्ञासाओं का उदय होता रहता है। तर्कशील और विवेकशील प्राणी होने से मनुष्य अपनी जिज्ञासाओं से सम्बद्ध क्षेत्रों में नित्य नये प्रयोगों के द्वारा नवीन अन्वेषणों में प्रवृत्त रहता है। ऐसे नवीन अन्वेषणों के पीछे मनुष्य का मूल उद्देश्य जीवन को अधिक सुखमय तथा उदात्त, विराट और सांस्कृतिक बनाना होता है। किसी भी संस्कृति व समाज के लिए अपनी संस्कृति के समुचित विकास के लिए ज्ञान– विज्ञान के ज्ञान, दर्शन और साहित्य क्षेत्रों में शोध मूलभूत अनिवार्यता है।

अनुसन्धान में हमारे पूर्व अर्जित ज्ञान के आधार पर किसी विषय के सम्बन्ध में उसके अभी तक अप्रकाशित और अप्राप्त तथ्यों का अन्वेषण किया जाता है। इसके साथ ही किसी विषय से सम्बद्ध उपलब्ध ज्ञान के आधार पर विषय के सम्बन्ध में गलत तथ्यों के निवारण के लिए उनका नवीन ढंग से विवेचन और स्थापन आवश्यक है। अनुसन्धान में प्रस्तावित विषय से सम्बद्ध मौलिकता की उद्‌भावना अत्यन्त आवश्यक है। जिस विषय पर कार्य हो चुका है उस पर नवीन उद्‌भावना किए बिना ज्ञान का विस्तार सम्भव नहीं है। अनुसन्धान में संरचना का व्यापक महत्त्व है। अनुसन्धान में ज्ञात से अज्ञात की ओर जाते हैं। नवीन तथ्यों के अन्वेषण द्वारा प्रचलित तथ्यों का संशोधन अनुसन्धान का कार्य है।

अनुसन्धान का क्षेत्र व्यापक है और साहित्यिक व वैज्ञानिक अनुसन्धान में अन्तः सम्बन्ध है। साहित्य का अनुसन्धान विज्ञान है क्योंकि तर्क और व्यवस्था के आधार पर संवेदनात्मक प्रक्रिया को अन्वेषित किया जाता है। अनुसन्धान के माध्यम से सिद्धान्त का निर्माण एवं सिद्धान्त के आधार पर अनुसन्धान होता है। सिद्धान्त अनुसन्धान को व्यापक सामग्री प्रदान करता है। अनुसन्धान में किसी भी अवधारणा को अस्वीकृत करने की बजाय उसे फिर से निर्मित किया जाता है। अनुसन्धान 'विज्ञान' है लेकिन भौतिक विज्ञान के समान नहीं है। इसे हम सृजनात्मक विज्ञान के अन्तर्गत रखेंगे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शोध विश्वसनीय समाधानों और निष्कर्षों तक पहुँचने की वह प्रक्रिया है, जिसमें योजनाबद्ध कार्य और तत्सम्बन्धी प्राप्त सामग्री का विधिवत् संकलन, विश्लेषण और व्याख्यान समाविष्ट होते हैं। साहित्यिक अनुसन्धान विविध प्रकार से हो सकता है। उसके स्वरूप के आधार पर उसके विविध प्रकार हो सकते हैं। यहाँ हम अनुसन्धान के प्रकारों को संक्षेप में जानने का प्रयास करेंगे।

5.2 अनुसन्धान के प्रकार

अनुसन्धान सामग्री के आधारभूत तथ्य दो प्रकार के होते हैं– ज्ञात और अज्ञात। ज्ञात तथ्य के भी दो रूप हैं– आख्यात और अनाख्यात। आख्यात तत्त्वों के पुनराख्यान में आलोचना शक्ति की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता होती है। अनाख्यात तत्त्वों के आख्यान में उससे कम और अज्ञात तथ्यों के अनुसन्धान में उससे भी कम तत्त्वों के विवेचन से काम चल सकता है। साहित्यिक अनुसन्धान सामाजिक और वैज्ञानिक अनुसन्धान से भिन्न होता है, क्योंकि उसके रचनात्मक परिवेश में साहित्यिक संवेदना की अभिव्यक्ति होती है।

अनुसन्धान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। साहित्यिक अनुसन्धान के रचनात्मक परिवेश में केवल बिम्बात्मक भाषा का प्रयोग ही नहीं सृजनात्मक संवेदना की भी अभिव्यक्ति होती है। अनुसन्धान के विभिन्न आयामों से जुड़कर इसकी अनेक प्रणालियों का विकास होता है। इस आधार पर ही अनुसन्धान के विविध प्रकारों का विवेचन किया जाता है।

साहित्य का यह अनुसन्धान वस्तुतः वैज्ञानिक आधार लेकर ही होता है, क्योंकि अनुसन्धान शब्द विशेष रूप से विज्ञान के क्षेत्र में ही प्रयुक्त किया जाने लगा है। शोध प्रक्रिया साहित्य के क्षेत्र में भी वैज्ञानिक ही होती है। **क्रोचे** ने सैद्धान्तिक अर्थ में अभिव्यंजना के दो रूपों का आख्यान किया है– एक, स्वयं प्रकाश्य अभिव्यंजना है जो कल्पना को प्रमुख स्थान देती है और जिसका सम्बन्ध सहजानुभूति से है, दूसरी अवधारणात्मक अभिव्यंजना है जिसका सम्बन्ध बौद्धिक एवं वैज्ञानिक अभिप्राय से होता है।

शोध के दूसरे प्रकार में व्यावहारिक ज्ञान भी आता है। इस प्रकार शुद्ध शोध और कार्यशील शोध के रूप में इसे विभाजित किया जा सकता है। काल की दृष्टि से ऐतिहासिक शोध और वर्णनात्मक शोध इन दोनों रूपों में शोध का विभाजन तर्कसंगत है। वस्तुतः शोध तीन ज्ञानों के लिए प्रयुक्त होता है–

1. साहित्यिक शोध
2. मानविकी शोध
3. वैज्ञानिक शोध।

साहित्यिक शोध में किसी भी भाषा के साहित्य और साहित्य की भाषा का अनुसन्धान किया जाता है। मानविकी शोध का सम्बन्ध समाज विज्ञान के शोध से होता है, जिसमें साहित्य के अलावा कला के सभी विषय आते हैं। इस शोध सर्वेक्षण का भी अत्यन्त महत्त्व है। वैज्ञानिक शोध प्रयोगात्मक होता है और इसे प्रयोगात्मक शोध के रूप में देखा जाता है।

जिस प्रकार वैज्ञानिक शोध के लिए सृजनात्मक कल्पना की भी आवश्यकता है उसी प्रकार साहित्यिक शोध के लिए वैज्ञानिक तथ्यानुसन्धान और विश्लेषण भी अनिवार्य है। वास्तव में शोध की परिधि का आधार वैज्ञानिक प्रणाली है अतएवं साहित्यिक अनुसन्धान की विश्वसनीयता भी वैज्ञानिक प्रणाली के प्रयोग के बिना सम्भव नहीं है।

अनुसन्धान के प्रकारों में हमारा विषय साहित्यिक अनुसन्धान ही है। प्राचीन मनीषियों ने ज्ञान को जिस रूप में अर्जित और संचित किया है वह तीन रूपों में सुरक्षित है–

1. काव्यरूप में।
2. शास्त्ररूप में।
3. पुराण और इतिहास रूप में।

अतएव इन आधारों पर अनुसन्धान के तीन रूप हो सकते हैं–

1. काव्य अथवा साहित्य सम्बन्धी अनुसन्धान।
2. शास्त्र सम्बन्धी अनुसन्धान।
3. पुराण और इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान।

इन सभी अनुसन्धानों का विषय साहित्यिक अनुसन्धान ही हो सकता है, क्योंकि काव्य ज्ञान के लिए शास्त्र का अध्ययन और इतिहास का ज्ञान दोनों आवश्यक हैं, उसी प्रकार शास्त्र और इतिहास काव्य के परिवेश होते हैं। काव्य व्यक्तिगत चेतना और अनुभूति की अभिव्यक्ति है। अतएव साहित्यिक अनुसन्धान का विभाजन तीन भागों में किया जा सकता है– 1. शुद्ध साहित्यिक अन्वेषण 2. शास्त्रपरक साहित्यिक अन्वेषण 3. ऐतिहासिक तथ्यपरक साहित्यिक अन्वेषण।

वास्तव में यह विभाजन केवल सुविधा के लिए ही है, वैसे साहित्य का शास्त्र साहित्य की ही वैज्ञानिक व्याख्या है, जिसके पास एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी होती है।

5.3 स्वरूप की दृष्टि से अनुसन्धान के प्रकार

साहित्यिक अन्वेषण के लिए सैद्धान्तिक आधार पर ही तथ्यात्मक रूप प्रदान किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त काव्य की वस्तु योजना में ऐतिहासिक पीठिका का भी प्रमुख स्थान होता है। शुद्ध साहित्य के प्रतिमान ही उसके शास्त्र का निर्माण करते हैं। अतएव साहित्यिक अनुसन्धान स्वयं ही अनुसन्धान का एक प्रकार है, जिसे साहित्यिक शोध के विभिन्न आयामों के सन्दर्भ में विभाजित किया जाना वैज्ञानिक होगा। स्वरूप की दृष्टि से अनुसन्धान के तीन प्रकार हैं–

1. तथ्यशोध प्रधान 2. आलोचना प्रधान 3. उभय प्रधान।

1. तथ्यशोध प्रधान

प्रतिपाद्य वस्तु का गुणदोष विवेचन मूल्यांकन आदि न कर यथार्थ के स्वरूप का अन्वेषण वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक खोज ही तथ्यशोध प्रधान अनुसन्धान होता है। इसमें विशेषतः पाठालोचन के विषय आते हैं। पारिभाषिक शब्दावलियां भी ऐसी ही खोज हैं।

2. आलोचना प्रधान

जिसमें अनुसन्धित (अनुसंहित) वस्तु से गृहीत प्रभावों के आकलन, उसके गुणदोष विवेचन,

मूल्यांकन आदि को महत्त्व दिया जाय, वह आलोचना प्रधान शोध है। जैसे वाल्मीकीय रामायण के विशिष्ट सन्दर्भ में वाल्मीकि के शिल्प (शैली) की शिल्पकला का अध्ययन, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, कालिदास की नाट्यकृतियों का शास्त्रीय विवेचन आदि ऐसे ही विषय हैं।

3. उभयात्मक शोध

तथ्यशोध प्रधान अनुसन्धान में भी किसी न किसी अंश में आलोचना का अस्तित्व रहता ही है और आलोचना के लिए भी तथ्याधार आवश्यक है। जिसमें इन दोनों रूपों का समन्वय होता हो, दोनों को समान महत्त्व दिया जाता हो, वह उभयात्मक अनुसन्धान है। जैसे कालिदास अथवा नाटककार भवभूति आदि। अपनी व्यापकता के कारण और अनुसन्धान एवं आलोचना दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करने के कारण यह तीसरा रूप अधिक प्रभावशाली एवं महत्त्वपूर्ण है।

कुछ आलोचक इसी कारण अनुसन्धान के दो ही रूप मानते हैं। एक तथ्यपरक दूसरा तत्त्वपरक। कुछ स्वरूप की दृष्टि से अनुसन्धान के छः प्रकार मानते हैं।

1. लोक तात्त्विक शोध
2. साहित्येतिहास का शोध
3. तुलनात्मक शोध
4. विकासवादी सिद्धान्त और शोध प्रक्रिया
5. पाठशोध या पाठानुसन्धान
6. रूपात्मक और प्रवृत्त्यात्मक शोध।

1. लोक तात्त्विक शोध

लोकतात्त्विक शोध से अभिप्राय ऐसे साहित्य के शोध से है जो लोकतत्त्व से अनुप्राणित रहता है। इसमें ऐसे साहित्य का संकलन और शोध किया जाता है। जो लोक क्षेत्र में मौखिक रूप में सुरक्षित रहता है। इसी में अन्य लिखित साहित्य में निहित लोक तत्त्व का उद्घाटन और अध्ययन किया जाता है। ऐसा साहित्य लोकवार्ता कहलाता है।

2. साहित्येतिहास का शोध

साहित्यिक शोध के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूपों से इतर साहित्य के इतिहास विषयक शोध का अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस शोध का अर्थ साहित्य की आलोचना और मूल्यांकन नहीं, बल्कि उसमें अन्तर्निहित तत्त्वों के आधार पर उसके विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करना होता है। इतिहास का अर्थ घटनाक्रम का संकलन मात्र न होकर सांस्कृतिक विकास के समानान्तर है।

3. विकासवादी सिद्धान्त और शोध प्रक्रिया

जीव विज्ञान, भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में विकास प्रक्रिया की अपने–अपने ढंग से व्याख्या की है। इनका सर्जन, शक्ति, परम्परा, वातावरण, द्वन्द्व और सन्तुलन के आधार पर विकास की प्रक्रियाओं को अनुसन्धान द्वारा समझा जा सकता है।

4. रूपात्मक और प्रवृत्त्यात्मक शोध

इतिहास विषयक विकास प्रक्रिया का अध्ययन रूपात्मक और प्रवृत्त्यात्मक आधारों पर भी किया जा सकता है। रूपात्मक शोध विषयवस्तु से सम्बद्ध तत्त्वों की विविधता एवं केन्द्रीयता, भावात्मक प्रवृत्तियों की सुसम्बद्धता, विधाओं या रूप भेदों का निश्चय और विस्तार, शैलीगत नव्यता, साहित्यादर्शों एवं मानदण्डों की व्यवस्था के आधार पर की

जा सकती है।

5. तुलनात्मक शोध

किन्हीं दो या कभी दो से अधिक रचनाओं, लेखकों, काव्यान्दोलनों या अन्य किन्हीं साहित्यिक पक्षों को लेकर एक ही भाषा अथवा दो भाषाओं के स्तर पर किया जाने वाला शोध है। अंग्रेजी में इसे **Comparative Research** कहा जाता है।

6. पाठानुसन्धान या पाठ–शोध

पाठानुसन्धान शब्द पाठ और अनुसन्धान शब्दों से मिलाकर बनता है, जिसका अर्थ है, रचना के मूलपाठ के सहीपन का अनुसन्धान। अंग्रेजी में इसे **Textual Criticism** कहा जाता है। इसका उद्देश्य रचना के मूल स्वरूप को प्राप्त करना होता है। पाठशोध की आवश्यकता निश्चय ही प्राचीन ग्रन्थों को लेकर होती है, जो कि ज्यादातर हस्तलिखित होते हैं।

5.4 भाषा वैज्ञानिक शोध

भाषाविज्ञान भाषा की संरचना और उसके स्वरूप का विश्लेषक विज्ञान है। कवि अथवा लेखक की भाषा की संरचना का विश्लेषण उसकी मानसिक संरचना का पता देता है। साहित्यकार की भाषा में शब्द और अर्थ परस्पर सम्पृक्त रहते हैं। साहित्य में प्रयुक्त भाषा में निहित इन अर्थों के जानने के लिए साहित्य का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित रहता है।

शोध की दृष्टि से हम साहित्य को मोटे तौर पर दो भागों में बांट सकते हैं–

1. भाषा 2. अभिव्यक्त विषय। इन दोनों की अन्योन्याश्रितता को देखते हुए इस विभाजन को आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। यह तो केवल साहित्य को समझने के लिए सुगमता की दृष्टि से किया गया विभाजन है। फिर भी इन दोनों वर्गों को पृथक् रूप में प्रधानता देते हुए साहित्य का अध्ययन करने पर हमें जो विशिष्ट जानकारी प्राप्त होती है, उसका महत्त्व भी अक्षुण्ण है। अभिव्यक्त विषय या अर्थ को प्रधान मानकर किए गए अध्ययन अथवा शोध से हमें साहित्य की प्रवृत्तियों, विचारधाराओं, भाव भंगिमाओं का पता चलता है। इसी प्रकार भाषा या शब्द को प्रधान बनाकर ही हमें कवि विशेष की मानसिक संरचना और उसके अभिव्यक्ति पक्ष की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ– छायाओं का पता चलता है। इस प्रकार के अध्ययन अथवा शोध को साहित्य का भाषावैज्ञानिक शोध कहते हैं।

भाषाविज्ञान एक स्वतन्त्र विषय है। इसके अध्ययन क्षेत्र को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। (1) बोली, विभाषा, भाषा तथा भाषाओं का अध्ययन (2) लोक साहित्य का अध्ययन (3) साहित्य का अध्ययन।

बोली, विभाषा, भाषा तथा भाषाओं के अध्ययन के अन्तर्गत किए जाने वाले अध्ययन की दिशा में भाषाविज्ञान के द्वारा भाषाओं के ऐतिहासिक अध्ययन के अतिरिक्त उसे दो प्रकार के अध्ययन का क्षेत्र माना जा सकता है। (1) वर्णात्मकता या संरचनात्मक (2) व्यावहारिक।

1. वर्णात्मकता या संरचनात्मक

इस क्षेत्र के अन्तर्गत शास्त्रीय दृष्टि से भाषा की संरचना में सहायक सभी शाखाओं को आधार बनाकर अध्ययन किया जाता है। ये शाखायें हैं (1) स्वन (Phone) विज्ञान (2) स्वनिम (Phoneme) विज्ञान (3) रूपिम (Morphone) विज्ञान (4) शब्द रूप प्रक्रिया (5) वाक्य विज्ञान।

2. व्यावहारिक

इसमें भाषा को व्यावहारिक रूप देने वाली भाषा विज्ञान की सभी शाखा प्रशाखाओं को स्थान मिलता है, यथा: अर्थविज्ञान, लेखविज्ञान, शब्दार्थविज्ञान, शब्दकोश विज्ञान, भाषा भूगोल, समाज भाषाविज्ञान, भाषाशिक्षण, अनुवाद शैली विज्ञान, पाठालोचन आदि।

भाषा के इस प्रकार के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की चार पद्धतियाँ हैं। (1) वर्णनात्मक (2) ऐतिहासिक (3) तुलनात्मक (4) अनुप्रयुक्त (Applied)। वर्णनात्मक पद्धति के अन्तर्गत भाषा की रचना प्रक्रिया का समकालिक विश्लेषणात्मक विवेचन किया जाता है। ऐतिहासिक पद्धति में किसी एक भाषा का समकालिक भाषा या भाषाओं के साथ संरचनागत विशेषताओं का तुलनात्मक आधार पर विश्लेषण किया जाता है। अनुप्रयुक्त भाजिकी की प्रयोगात्मक पद्धति में भाषा के अन्यत्र उपयोग जैसे– यांत्रिक उपकरणों, शब्दकोश निर्माण, लिपि सुधार इत्यादि पर विचार किया जाता है।

कोष निर्माण का कार्य भाषा विज्ञान का अंग है। लोक साहित्य का अध्ययन लोकभाषा के परिचय के अभाव में सम्भव नहीं है। भाषा के अंगों में शब्द की प्रधानता है। एक शब्द के दो तीन या अधिक पर्याय हो सकते हैं। कोषकार को शब्द संग्रह का कार्य क्षेत्र के प्रत्येक जीवन से सम्बद्ध व्यक्तियों के सहयोग से करना चाहिए।

भाषाविज्ञान के इस प्रकार के अध्ययन को उसका स्वतन्त्र क्षेत्रीय अध्ययन ही कहा जायेगा लेकिन शोध के स्तर पर भाषा का इस प्रकार का अध्ययन जब साहित्य को आधार बना कर किया जाता है, तब उसमें पर्याप्त अन्तर आ जाता है। उस समय अध्ययन का लक्ष्य प्रत्यक्षतः भाषा का अध्ययन न होकर कवि अथवा कृति का अध्ययन होता है या लोकसाहित्य के अंग विशेष का अध्ययन होता हैं। इस प्रकार के अध्ययन द्वारा भाषा का विश्लेषण व अभिव्यक्त विषय की अर्थ–छवियों का उद्‌घाटन होता है, जिसके द्वारा कवि की मानसिक संरचना का पता लगाया जाता है। लोक साहित्य के सन्दर्भ में इस प्रकार का पता सामूहिक आदिम लोक मानस की संरचना के बारे में लगाया जाता हैं इस प्रकार भाषा वैज्ञानिक शोध के इस रूप के द्वारा सांस्कृतिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक रूपों का उद्‌घाटन होता है।

5.5 तुलनात्मक शोध

तुलनात्मक शोध जैसा कि इस शब्द से ही पता चलता है कि किन्हीं दो रचनाओं, लेखकों, काव्यान्दोलनों या अन्य किन्हीं साहित्यिक पक्षों को लेकर एक ही भाषा अथवा दो भाषाओं के स्तर पर किया जाने वाला शोध है। अंग्रेजी में इसे **Comparative Research** कहा जाता है। सामान्यतः संसार की प्रत्येक दो वस्तुएं भिन्नता लिए हुए होती हैं। प्रत्येक दो व्यक्तियों में भी न केवल आकृति के आधार पर अन्तर लक्षित होता है, बल्कि उनकी प्रकृति, विचारधारा और चिन्तन–मनन में भी यह अन्तर स्थूल से लेकर सूक्ष्म स्तर तक दिखाई पड़ता है। यह अन्तर भावगत भी होता है। साहित्य भी मानव की भाव और विचारगत एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। इसलिए किन्हीं दो साहित्यकारों का साहित्य सर्वथा एक जैसा नहीं हो सकता। अलग–अलग संस्कृतियों, परिवेशों और भाषाओं तथा भिन्न कालों के लेखकों में तो ऐसा होना सम्भव ही नहीं है परन्तु सूक्ष्म स्तर पर समानता फिर भी मिलती है।

प्रायोगिक दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि इस संसार में वस्तुओं, चिन्तन–मनन इत्यादि के सम्बन्ध में एक प्रकार का सापेक्षवाद कार्य करता है। इसी सापेक्षता के आधार पर साहित्यिक स्तर पर तुलना की जा सकती है और इस प्रकार का शोध तुलनात्मक शोध ही कहलायेगा। तुलनात्मक स्तर पर मौलिक दृष्टि से साहित्यकारों में वैषम्य ही दिखाई पड़ता है, लेकिन इस वैषम्य में आंशिक सत्य के रूप में साम्य भी दिखाई पड़ता है। तुलनात्मक शोध का उद्देश्य इसी साम्य और वैषम्य का विवेचन और विश्लेषण होता है– 'अविभक्तं विभक्तेषु'।

तुलनात्मक शोध अन्ततः सैद्धान्तिक शोध में परिवर्तित हो जाता है। यदि हम दो वस्तुओं में तुलना करेंगे, तो तुलना का आधार सैद्धान्तिक ही होगा। यदि किन्हीं दो कृतियों की तुलना करते हैं तो यह तुलना कृतियों के शास्त्रीय आधार पर ही की जायेगी। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन व्यावहारिक रूप में एक प्रकार से सैद्धान्तिक व तात्त्विक अध्ययन हो जाता है।

तुलनात्मक अध्ययन में इस प्रकार किन्हीं दो कृतियों, कवियों, आन्दोलनों इत्यादि का तात्त्विक आधार पर अध्ययन किया जाता है। विषमता बतलाने के लिए साम्य की खोज और साम्य बतलाने के लिए विषमता का शोध इस प्रकार के शोध को गति प्रदान करता है। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन कृतियों के तत्त्वों का युगपद अध्ययन होता है। यथा 'रामायण व महाभारत में नायक; एक तुलनात्मक अध्ययन' या 'रामायण व महाभारत में विवेचित सामाजिक मूल्य; एक तुलनात्मक अध्ययन' इसी तरह के विषय हो सकते हैं।

तुलनात्मक शोध में तुलनीय ग्रन्थों के सभी तत्त्वों को अलग–अलग करना होता है। कथावस्तु, पात्र, दर्शन, धर्म और मनोविज्ञान आदि तत्त्वों को अलग–अलग लेकर साम्य व वैषम्य की तुलना करनी चाहिए। एक ग्रन्थ से दूसरे ग्रन्थ के अध्ययन के द्वारा आद्योपान्त निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाने चाहिए।

यह अध्ययन किसी विशिष्ट पहलू या क्षेत्रविशेष को लेकर भी किया जाता है। धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, संस्कृति इत्यादि क्षेत्रों में से किसी एक के आधार पर जब तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। तो इसकी सीमाएं अन्तर्विधावर्ती शोध का स्पर्श करके चलने लगती हैं। सिद्धान्त पक्ष के स्वरूप निर्धारण के लिए सम्बद्ध विधा का अध्ययन करना होता है। यह अध्ययन रचना में सम्भावित रूप में प्राप्य दृष्टि को रखकर ही किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन में निष्पक्षता बनाए रखना पर्याप्त श्रमसाध्य कार्य होता है। एक ग्रन्थ दूसरे के लिए बाधा भी बन जाता है। इसलिए सावधानी, गहन अध्ययन और निष्पक्षता की आवश्यकता होती है। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन एक प्रकार से स्वतन्त्र शोध का प्रकार है।

तुलनात्मक अध्ययन स्थूल रूप में सर्वेक्षण का कार्य प्रतीत होता है किन्तु इसे तथ्यों की तुलनात्मक सारणी तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। तुलनात्मक अध्ययन में परिणाम तक पहुँचना आवश्यक है। तुलना उत्तम चयन के लिए होती है और चयन के लिए वैकल्पिक रूप हमारे सामने होते हैं। विकल्पों से संकल्प की ओर आना चयन का काम है। चयन में सबको स्वीकार नहीं किया जा सकता उसकी अपनी सीमाएं होती हैं। तुलनात्मक अध्ययन बहु आयामी होता है। इसके माध्यम से दृष्टिकोण में विस्तार आता है, संकुचित मनोवृत्ति से मुक्ति मिलती है। सांस्कृतिक आदान–प्रदान इसी आधार पर सम्भव है। हम औरों के महत्त्व को स्वीकारने लगते हैं और उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

वस्तुतः तुलनात्मक अनुसंधान में विषय चयन से तथ्य सत्यापन तक बहुत सावधानी की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम विषय का चयन करते समय यह देखना होता है कि जिन दो पक्षों की तुलना की जा रही है, उनके कथ्य की भूमि समान हो, ताकि कथ्य को प्रस्तुत करने का साम्य वैषम्य स्पष्ट हो सके। दोनों पक्षों के प्रति अध्ययन की दृष्टि निष्पक्ष होनी चाहिए। इसके अभाव में निर्विवाद निष्कर्षों तक पहुँचना कठिन हो जाता है। तुलनात्मक अनुसन्धान में वस्तुनिष्ठ होना आवश्यक है और यह कार्य निरन्तर सावधानी की अपेक्षा रखता है।

5.6 समीक्षात्मक शोध

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है समीक्षा से तात्पर्य है– सम्यक् ईक्षण अर्थात् परख। इसके अन्तर्गत किसी भी कृति, कृतिकार या विषय का सम्यक् ईक्षण या मूल्यांकन अभीष्ट होता है। अतः शोध के जितने भी प्रकार हो सकते हैं। वे सब समीक्षात्मक शोध के अन्तर्गत समाहित हैं। यह समीक्षा किसी एक पक्ष को लेकर भी हो सकती है। जैसे– भवभूति के काव्य में रस; एक समीक्षात्मक अध्ययन। यहाँ भवभूति के काव्य में विद्यमान रस के विविध पहलुओं के आधार पर समीक्षा प्रस्तुत की जाना अपेक्षित है।

समीक्षात्मक अध्ययन के अन्तर्गत विषय या कृति के गुण दोषों का विस्तृत रूप से मूल्यांकन अपेक्षित होता है। यह समीक्षा उसके शास्त्रीय पक्ष को लेकर विशेष रूप से की जाती है। समीक्षा करते समय शोधार्थी को रचना के उद्देश्य को ध्यान में रखने के साथ–साथ उसके काल, परिवेश, चिन्तन, शास्त्रीय आधार, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आदि को भी ध्यान में रखना चाहिए।

इस प्रकार का कार्य पूर्णतः कृति पर केन्द्रित नहीं रह जाता उसको कृति की पृष्ठभूमि में सक्रिय कृतिकार के युग परिवेश के अध्ययन से भी सहायता लेनी पड़ती है। कवि का जीवन दर्शन उसके अपने संस्कारों, अपने जीवन की परिस्थितियों और युगधर्म से संस्पृष्ट होता हैं। कृतिकार के विचारों की विशद व्याख्या इसके प्रकाश में ही पूर्ण अैर पुष्ट हो सकती है। कृति और युग के बीच सम्बन्ध बहुत ही तर्कपूर्ण पद्धति से स्थापित होना चाहिए।

समीक्षात्मक अध्ययन में तुलनात्मक, आलोचनात्मक, विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, तथ्यपरक दृष्टि को प्रयोग में लिया जाता है और इन सभी दृष्टियों से उसका प्रतिपादन किया जाता है। साहित्यिक कृतियों की समीक्षा में साहित्यिक प्रतीमानों एवं युगीन प्रतिमानों को ध्यान में रखते हुए समीक्षा की जानी चाहिए। जैसे छायावादी युग की कृतियों की समीक्षा करते हुए उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उस युग के साहित्य की समस्त विशेषताओं के आधार पर ही उसकी समीक्षा किया जाना न्यायसंगत होगा।

5.7 निष्कर्ष

इस प्रकार स्पष्ट है कि अनुसन्धान चाहे किसी भी दृष्टि से हो उसका मूल उद्देश्य ज्ञान का विस्तार ही है। जिस किसी विषय पर अनुसन्धान किया जाये उससे सम्बन्धित सभी तथ्यों का प्रकाशन किया जाना चाहिए। अनुसन्धान के अलग–अलग प्रकार की अपनी पद्धति व प्रणाली है, उसका अनुसरण करते हुए ही आगे बढ़ना चाहिए। अनुसन्धाता की प्रवृत्ति का साक्षात्प्रयोजन चाहे जो हो, शोधकार्य जिस भी भावना से अनुप्राणित हो, यदि वह सच्ची लगन के साथ और व्यवस्थित रीति से किया जाये तो उसमें किसी ना किसी सीमा तक ज्ञान का प्रसार होता ही है। सही सरणी का अनुसरण करता हुआ शोधार्थी निश्चित ही सही निश्कर्ष तक पहुँचने में सफल होता है।

5.8 बोध प्रश्न

1. अनुसन्धान के विविध प्रकारों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।
2. स्वरूप की दृष्टि से अनुसन्धान के प्रकार स्पष्ट कीजिए।
3. भाषावैज्ञानिक शोध से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
4. भाषावैज्ञानिक शोध के प्रकारों का विवेचन कीजिए।
5. तुलनात्मक शोध क्या है? प्रतिपादन कीजिए।
6. समीक्षात्मक शोध पर टिप्पणी लिखिए।

5.9 उपयोगी ग्रन्थ

1. अनुसन्धान प्रक्रिया एवं पाठालोचन– डॉ. विनोद शास्त्री एवं डॉ. शालिनी सक्सेना, राजस्थान ज्योतिष परिषद् एवं शोध संस्थान, जयपुर 2007।
2. अन्वेषणा, सं. रूद्रदेव त्रिपाठी, श्री लाल बहादुर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली–1976–77
3. अनुसन्धान की प्रविधि और प्रक्रिया, डॉ. राजेन्द्र मिश्र, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली।
4. अनुसन्धान स्वरूप एवं प्रविधि, डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेश, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

5.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 5.2।
2. इकाई 5.3।
3. इकाई 5.4।
4. इकाई 5.4 के 1 से 3 व 1 से 6 बिन्दु।
5. इकाई 5.5।
6. इकाई 5.6।

इकाई–6

पाण्डुलिपि विज्ञान– परिभाषा एवं प्रकार, पाण्डुलिपियों में अंक लेखन की प्रक्रिया

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 पाण्डुलिपि की परिभाषा

6.3 पाण्डुलिपि के प्रकार

6.3.1 लिप्यासन की दृष्टि से

6.3.2 आकार की दृष्टि से

6.3.3 स्याही की दृष्टि से

6.3.4 बनावट की दृष्टि से

6.4 पाण्डुलिपियों में अंक लेखन की प्रक्रिया

6.5 कुछ बहुप्रचलित प्रतीक

6.6 प्रसिद्ध अंकलेखन प्रकार

6.7 निष्कर्ष

6.8 बोध प्रश्न

6.9 उपयोगी ग्रन्थ

6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

अनुसंधान के विविध प्रकारों में पाठालोचन भी प्रमुख है। इसके अन्तर्गत प्राचीन बहुमूल्य ग्रन्थों का सम्पादन किया जाता है ताकि बहुमूल्य ज्ञान सामग्री आम जनता के समक्ष आ सके। संस्कृत का प्राचीन साहित्य हस्तलिखित रूप से सुरक्षित है और उसका सम्पादन कार्य ज्ञान एवं अनुसन्धान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अतः अनुसन्धाता को पाण्डुलिपि विज्ञान की जानकारी के साथ पाण्डुलिपि के स्वरूप व उसके विविध पक्षों का ज्ञान आवश्यक है। इस इकाई में आप पाडुलिपिविज्ञान के सामान्य स्वरूप के साथ निम्न बिन्दुओं का अध्ययन कर सकेंगे।

- पाण्डुलिपि की परिभाषा
- पाण्डुलिपि के प्रकार
- पाण्डुलिपि में अंक लेखन की प्रक्रिया

6.1 प्रस्तावना

समयानुसार मनुष्य में श्रुति की शक्ति और स्मृति भी क्षीण हो जाती है जिससे ज्ञान का प्रसार रुक जाता है। जब संसार में श्रुति और स्मृति की शक्ति कम होने लगी तो वेद (ज्ञानराशि) के प्रसार में बाधा आने

लगी। तब पुरातन ऋषियों द्वारा इस संचित ज्ञानराशि को सुरक्षित रखने की आवश्यकता अनुभव की गई और इसके लिए लेखन एवं लिपिकरण को आधार बनाया। संहिताओं और शास्त्रों को लिखने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और लिखित प्रतियों के विधिवत् वितरण को धार्मिक कृत्य माना जाने लगा।

प्राचीन धर्मग्रन्थों में विद्यादान और ग्रन्थदान को धर्म की संज्ञा दी गई और **'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते'** के द्वारा इसे श्रेष्ठता प्रदान की गई है। प्राचीन ज्ञान भण्डार के लिपिकरण की यह परम्परा अनवरत चलती रही और कालान्तर में ऐसे ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन, विश्लेषण एवं प्रकाशन के लिए पाण्डुलिपि विज्ञान का जन्म हुआ।

इस विज्ञान का सम्बन्ध मनुष्य द्वारा लिपिबद्ध की गई सामग्री से है। सहस्राब्दियों पूर्व लेखन कला के अविष्कार से लेकर अद्यावधि लिपिबद्ध सामग्री अनेक रूपों में मिलती है। आधुनिक युग में जिस तरह से हाथ से, लेखनी के द्वारा कागज पर लेखनकार्य होता है उसी प्रकार मानव सभ्यता के प्रारम्भ और विकास की अवस्थाओं में यह कार्य ईटों पर, पत्थरों पर, शिलालेखों के रूप में, मोमपाटी पर, चमड़े पर, ताड़पत्रों पर, भोजपत्रों पर, धातुपत्रों पर किया जाता था। अतः पाण्डुलिपि विज्ञान में इन सभी का अध्ययन सम्मिलित है।

पाण्डुलिपि विज्ञान इसलिए विज्ञान है कि वह पाण्डुलिपि का अध्ययन किसी एक विशिष्ट पाण्डुलिपि को दृष्टि में रखकर नहीं करता वरन् पाण्डुलिपि के सामान्य रूप को लेकर ही करता है। पाण्डुलिपि शब्द से कोई विशेष पुस्तक सामने नहीं आती। प्रत्येक प्रकार की पाण्डुलिपियों में कुछ सामान्य लक्षण ऐसे होते हैं कि उनसे युक्त सभी ग्रन्थ पाण्डुलिपि कहे जा सकते हैं। पाण्डुलिपि शब्द के अन्तर्गत समग्र पाण्डुलिपियाँ सामान्य रूप से अभिहित होती हैं जो लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं या लिखी जायेंगी। यह विज्ञान उन सभी को दृष्टि में रखकर विचार करता है। पाण्डुलिपिगत सामान्य विषयों का पाण्डुलिपि विज्ञान विश्लेषण करता है और विश्लेषित प्रत्येक अंग पर वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य–कारण परम्परा में बांधकर सैद्धान्तिक विचार करता है। इनके आधार पर वह ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत करता है, जिनसे तत्सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों और समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। पाण्डुलिपि विज्ञान पाण्डुलिपि से सम्बन्धित तीनों पक्षों से सम्बद्ध होता है। ये पक्ष हैं– लेखनपक्ष, पाण्डुलिपि का प्रस्तुतीकरण पक्ष, जिसमें सभी प्रकार की पाण्डुलिपियां परिगणनीय हैं और तीसरा सम्प्रेषण पक्ष, जिसमें पाठक वर्ग सम्मिलित होता है। पाण्डुलिपि लेखक और पाठक के मध्य सेतु है। अतएव पाण्डुलिपि के अपने पक्ष के साथ पाण्डुलिपि विज्ञान इन दोनों पक्षों का, पाण्डुलिपि के माध्यम से उस अंश का जिस अंश के कारण पाण्डुलिपि हस्तलेख में आती है, वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करता है।

आज भारत में अनेक प्राचीन हस्तलेख एवं पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हो रही हैं। पाण्डुलिपि की समस्याओं एवं निदान का वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए पाण्डुलिपि विज्ञान का भाषाविज्ञान, ज्योतिष, पुरातत्त्व, साहित्यशास्त्र, पुस्तकालय–विज्ञान, इतिहास, शोध–प्रविधि व पाठालोचन पाण्डुलिपि विज्ञान के सहयोगी हैं। ये सभी पाण्डुलिपि के निर्मापक विविध तत्त्वों से सम्बन्धित हैं। इन सबसे मिलकर जो वस्तु बनती है उसे पाण्डुलिपि कहते हैं। अतः पाण्डुलिपि विज्ञान वह विज्ञान है जो अध्येता को पाण्डुलिपि को पाण्डुलिपि के रूप में समझने एवं तद्विषयक समस्याओं के वैज्ञानिक निराकरण में सहायक सिद्ध होता है।

6.2 पाण्डुलिपि की परिभाषा

पाण्डुलिपि के लिए अंग्रेजी में मैन्युस्क्रिप्ट (Manuscript) शब्द का प्रयोग किया जाता है। मैन्युस्क्रिप्ट शब्द को हस्तलेख नाम भी दिया जाता है और पाण्डुलिपि भी। रूढ अर्थ में पाण्डुलिपि का उपयोग हाथ की लिखी पुस्तक के उस रूप को दिया जाने लगा है जो प्रेस में मुद्रित होने के लिए देने की दृष्टि से

अन्तिम रूप से तैयार है। हस्तलेख का अर्थ पाण्डुलिपि से अधिक विस्तृत माना जा सकता है क्योंकि उसमें शिलालेख तथा ताम्रपत्र आदि का भी समावेश माना जाता है किन्तु पाण्डुलिपि का सम्बन्ध ग्रन्थ से ही होता है। आज मैन्युस्क्रिप्ट के पर्याय के रूप में हस्तलेख और पाण्डुलिपि दोनों ही प्रयुक्त होते हैं। पं. उदयशंकर शास्त्री ने पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में लिखा है कि आजकल हस्तलिखित ग्रन्थों को पाण्डुलिपि कहा जाने लगा है किन्तु प्राचीन काल में पाण्डुलिपि उस हस्तलेख को कहा जाता था, जिसके प्रारूप को पहले लकड़ी के पट्टे या जमीन पर खड़िया (पाण्डु) से लिखा जाता था फिर उसे शुद्ध करके अन्यत्र उतार लिया जाता था और उसी को पक्का कर दिया जाता था। हिन्दी में यह अर्थ विपर्यय अंग्रेजी के कारण हुआ है। अंग्रेजी में किसी भी प्रकार के हस्तलेख को मैन्युस्क्रिप्ट कहते हैं।

पाण्डुलिपि शब्द पाण्डु लिपि से मिलकर बना है। सभ्यता के विकास के साथ जब मनुष्य ने अपने विचारों को लिखकर प्रस्तुत करना शुरू किया तो उपलब्ध सामग्री पत्थर, चट्टान, शिलाखण्ड, भूमि अथवा लकड़ी पर अपने भावों को चित्र, कीलाक्षर या अन्यान्य लिपिविशेष के माध्यम से प्रकट किया। लिप् धातु लीपने अर्थ में प्रयुक्त होती है। पाषाण युग में छेनी या शलाका से पाषाण को कुरेदा जाता था, फिर उसमें रंग, स्याही अथवा खड़िया का घोल भर दिया जाता था। अतः प्राचीन काल में शिलाखण्ड आदि प्रस्तर आधार पर पाण्डु आदि द्वारा उत्कीर्ण लेखों को पाण्डुलिपि कहा जाता था। कालान्तर में पाण्डुलिपि शब्द का अर्थ विस्तार हुआ और पाषाण, शिलाखण्ड, चट्टान, धातु विशेष, वृक्ष की छाल व पत्ते, चर्म, कागज आदि अलग–अलग लिप्यासन पर विविध रूप में उत्कीर्ण सामग्री पाण्डुलिपि कहलाने लगी। पाण्डुलिपि के लिए प्रयुक्त हस्तलेख शब्द का अर्थ अधिक विस्तृत माना जाता है क्योंकि उसमें शिलालेख, ताम्रपत्र आदि का समावेश भी हो जाता है। अंग्रेजी का मैन्युस्क्रिप्ट **(Manuscript)** शब्द हस्तलेख का ही पर्याय है। संकुचित अर्थ में प्रकाशन से पूर्व जो सामग्री कागज पर लिखित है वह पाण्डुलिपि कही जाती है, जबकि विस्तृत अर्थ में ऐसा कोई भी लेख जो छपा हुआ न हो पाण्डुलिपि कहलाता है। अतः कागज या किसी अन्य वस्तु धातु आदि पर लिखी गई समस्त सामग्री पाण्डुलिपि के अन्तर्गत समाहित हो जाती है।

जहाँ पाषाण युग में शलाका अथवा छेनी द्वारा कुरेद कर लिखा जाता था वहीं मानव सभ्यता के विकास के साथ धीरे–धीरे धातु पर लिखा जाने लगा। काष्ठ युग में लिखने अर्थ में लिख् धातु का प्रयोग होने लगा। पाणिनी के 'यवनान् लिप्या' वार्तिक से सिद्ध होता है कि लिपि का आविष्कार ईसा से पूर्व हो चुका था। यदि कालिदास को ही प्रथमशतीं का माने तो उससे भी सिद्ध होता है कि ईसा से 500 वर्ष पूर्व लिपि का आविष्कार भारत में हो चुका था। अधिकांश प्राचीन पांण्डुलिपियाँ पुस्तकों, राज्यादेशों पत्रकों अथवा स्मारकों के रूप में प्राप्त होती हैं।

6.3 पाण्डुलिपि के प्रकार

पाण्डुलिपियों के आकार, आधार सामग्री, लिप्यासन आदि के आधार पर कई भेद किये जा सकते हैं। प्रमुखतः पाण्डुलिपियों को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं–

1. लिप्यासन की दृष्टि से।
2. आकार की दृष्टि से।
3. स्याही की दृष्टि से।
4. बनावट की दृष्टि से।

6.3.1 लिप्यासन की दृष्टि से–

पाण्डुलिपि लिखने के आधार को लिप्यासन या लिप्याधार कहते हैं। यदि लिपि या लिखने का आधार कठोर है तो उसे कठोर लिप्यासन माना जायेगा और यदि आधार कोमल है तो लिप्यासन कोमल माना जायेगा। अतः लिप्यासन की दृष्टि से पाण्डुलिपियों के दो प्रमुख भेद होते हैं–

1. कठोर लिप्यासन यथा पत्थर अथवा शिलालेखों पर उत्कीर्ण, ताम्र आदि धातुपत्र, सीप, पक्की मिट्टी आदि।

2. कोमल लिप्यासन यथा ताड़पत्र, भोजपत्र, वस्त्र, कागज, चर्म और काष्ठ।

(i) पाषाणीय पाण्डुलिपि–

इसे पाषाण शिलातलीय भी कहते हैं। पत्थर पर उत्कीर्ण लेख इसके अन्तर्गत आते हैं। इसके भी कई आवान्तर भेद हो जाते हैं।

(क) चट्टानीय

(ख) शिलापट्टीय

(ग) स्तम्भीय

(क) चट्टानीय –

प्राचीन काल में बड़ी–बड़ी चट्टानों पर चित्रांकन अथवा लिप्यांकन की परम्परा थी। पूरी चट्टान पर प्रशस्तियाँ काव्य या किसी विशिष्ट बात का उल्लेख कर दिया जाता था। राजस्थान के बिजोलियां गाँव में 1170 ई. का चट्टान पर उत्कीर्ण उन्नत शिखर पुराण नामक जैन ग्रन्थ प्राप्त होता है।

(ख) शिलापट्टीय–

सामान्य शिलालेख एक शिलापट्ट पर लिखे जाते थे और उचित स्थान पर जड़ दिये जाते थे। आज खुदाई में खण्डित रूप में कई शिलालेख प्राप्त होते हैं। राजा भोज का पूर्वशतकम् शिलालेख पर ही उत्कीर्ण है। सोमेश्वर कृत ललितविग्रहराज नाटक 12 वीं शती पूर्वार्द्ध के शिलालेख पर ही उत्कीर्ण है। राजस्थान के राजसमन्द झील के किनारे राजप्रशस्ति महाकाव्य शिलापट्टों पर उत्कीर्ण है।

(ग) स्तम्भीय–

स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण करने की पुरानी परम्परा है। प्राचीन स्तम्भ लेख अशोक कालीन हैं। इन पर खुदे लेखों में इन्हें शिलास्तम्भ कहा गया है। अतः स्तम्भों के भी कई प्रकार हैं।

(i) **शिलास्तम्भ**– बड़ी–बड़ी शिलाओं पर लेख उत्कीर्ण किये जाते रहे हैं।

(ii) **ध्वज स्तम्भ**– (जैसे होलियो डोरस का गरुड़ स्तम्भ) ये स्तम्भ मन्दिर के सामने खड़े किये जाते हैं और इन पर लेख भी रहता है।

(iii) **जय स्तम्भ**– किसी विजय पर विजेता राजा की प्रशस्ति के लिए जय स्तम्भ बनाये जाते थे। यथा समद्रगुप्त का एरण का स्तम्भ अथवा यशोधर्मन का मन्दसौर का स्तम्भ।

(iv) **कीर्ति स्तम्भ**– किसी यशस्वी पुरुष के पुण्यकार्य के लिए खड़ा किया जाता है।

(v) **वीर स्तम्भ**–गाँव या नगर के किसी वीर की युद्ध में मृत्यु होने पर लगाया जाता है। इन पर लेख भी रहते हैं। गुजराती में इन्हें पालिया कहते हैं। यथा कालकुड का वीरस्तम्भ।

(vi) **सती स्तम्भ**–ये सती होने वाली नारी (अपने पति के साथ जीवित मृत्यु को

प्राप्त होने वाली स्त्री। प्राचीन काल में ऐसी परम्परा प्राप्त होती थी) का स्मारक होता है। इन पर भी लेख मिलते हैं।

(vii) धर्मस्तम्भ– 'वोटिव पिलर्स' अर्थात् धर्मस्तम्भ धर्मस्थलों पर विशेषतः बौद्ध धर्म के स्थलों पर लेख सहित मिलते हैं।

(viii) स्मृतिस्तम्भ– ये गोत्र या गोत्रशालिका भी कहे जाते हैं। ये अपने कुटुम्ब के किसी व्यक्ति की स्मृति में खड़े किये जाते हैं।

(ix) छायास्तम्भ– इन स्मृति स्तम्भों पर स्मृत व्यक्ति की मूर्ति उकेरी जाती है। कुछ छाया स्तम्भ ऐसे हैं– जिसमें नारी या युगल की भावप्रवण मूर्ति बनी है।

(x) यूपस्तम्भ– यज्ञ कार्य के अन्तर्गत बलि के पशु आदि को बाँधने के लिए बनाये गये स्तम्भ यूप स्तम्भ हैं, इन पर लेख मिलते हैं।

घ) मृण्मय लिप्यासन–

मिट्टी के पात्रों पर उत्कीर्ण लेख प्राप्त होते हैं। ईटों पर संकेत रूप में या लिपि के रूप में लिखा रहता है। मिट्टी को सान करके स्तूप बनाकर उस पर लिखा जाता था अथवा मिट्टी की मुद्राओं पर लेख उत्कीर्ण किये जाते थे। मृण्मय लेखों के भी कई रूप मिलते हैं।

(क) ईंट– पकायी हुई या कच्ची ईंट की सामग्री– दोनों प्रकार की सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। ईंटों पर ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। यथा गिलगेमश की गाथा ईंटों पर लिखी मिलती है। कुछ राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये यथा– दाममित्र एवं शीलवर्मन। इनके अश्वमेध सम्बन्धी अभिलेख ईंटों पर मिले हैं। ईंटों पर अभिलेख तो अनगिनत मिलते हैं।

(ख) धोन्धे– कभी–कभी मिट्टी की ईंट न बनाकर उसे सानकर एक ढेर का रूप देकर उस पर लेख अंकित कर उसे पका लिया जाता था। धार्मिक मनोतियों के लिए विशेषतः ऐसे धोन्धों पर लेख लिखे गये हैं।

(ग) मुहर मुद्रा– ये मुद्राएं बड़ी संख्या में मिलती हैं। मोहनजोदड़ों एवं नालन्दा में ऐसी मुद्राएं बहुतायत में मिली हैं।

(घ) घट– घड़ों या उनके ढक्कनों पर भी लेख उत्कीर्ण मिले हैं।

(ङ) सीपदन्तिका–

शंखों पर, हाथीदाँत की बनी मुद्राओं पर अथवा हाथी दाँत की बनी छोटी–छोटी पट्टिका पर उत्कीर्ण लेख प्राप्त होते हैं।

(च) धातुपत्र

सोने– चाँदी, पीतल, ताम्बा इत्यादि पर उत्कीर्ण लेख पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। धातुओं में भी सर्वाधिक ताम्रपत्र प्राप्त होते हैं। कोई शासन ताम्रपत्र के एक ओर कोई दोनों ओर लिखा होता था। कोई शासन कई ताम्रपत्रों पर लिखा जाता था। इन पत्रों को ताम्बे के कड़े में पिरोकर एक घट या किसी पात्र में बंद करके सुरक्षित रखा जाता था। ताम्रपत्रों पर कई प्रकार के लेख मिलते हैं। जिनमें (क) पत्ररूप लेख 4 प्रकार के हैं।

(अ) ग्रन्थ– ह्वेनसांग के अनुसार कनिष्क ने बौद्धधर्म के ग्रन्थ ताम्रपत्रों पर अंकित कराये। तैलगू में रचित तालप्पा क्रमवरी नामक ग्रन्थ कई ताम्रपत्रों पर रचित तिरुपति में सुरक्षित है। एक अनुश्रुति के अनुसार सायणाचार्य ने वेदों को सर्वप्रथम ताम्रपत्र पर अंकित किया।

(ब) **शासन**– सम्राटों के राज्यादेश ताम्रपत्रों पर ही प्राप्त होते हैं।

(स) **प्रशस्ति**– राजाओं की प्रशस्ति में ताम्रपत्र प्राप्त होते हैं।

(द) **यन्त्र**– विविध देवताओं के यन्त्र और तान्त्रिक पूजा के यन्त्र ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण मिलते हैं।

(ख) **मूर्ति**– कुछ ताम्रलेख मूर्तिरूप में प्राप्त होते हैं। ताम्बे की मूर्तियां बनाकर उन पर लेख उत्कीर्ण कर दिए जाते थे।

इसके अतिरिक्त ताम्बे की अन्य वस्तुओं जैसे– चमचे, दीपक आदि पर उत्कीर्ण लेख भी प्राप्त होते हैं।

(छ) स्वर्णपत्रीय

समृद्ध लोगों या राजाओं के काल में स्वर्णपत्र चलते थे। स्वर्णपत्र अशर्फियों के रूप में बनाये जाते थे। बौद्धधर्मियां स्वर्णपत्र में लिखी गईं जो ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित हैं। तक्षशिला के संग्रहालय में भी स्वर्णपत्रीय ग्रन्थ हैं। स्वर्णपत्रीय अभिलेखों को भी तीन भागों में बाँटा जा सकता है।

(क) सोने के पत्थर पर

इसके भी चार रूप प्राप्त होते हैं। 1. ग्रन्थ– स्वर्णपत्रों पर एक ग्रन्थ ढ़ाका के धामदह ताल से मिला था। यह चौबीस स्वर्णपत्रों का ग्रन्थ है। 2. बौद्धधारणी ये पत्थर भारत से बाहर मिले हैं। 3. मन्त्र– कई मन्त्र स्वर्णपत्रों पर उल्लिखित प्राप्त होते हैं। 4. पत्र– स्वर्णपत्रों पर राजपत्र एवं व्यापारिक पत्र भी मिलते हैं।

(ख) स्वर्णमण्डित ताड़पत्र

स्वर्णमण्डित ताड़पत्र पर अंकित कुछ पाण्डुलिपियां ब्रिटिश म्यूजियम में बताई जाती हैं। इसके अतिरिक्त सोने के प्याले, कटोरी, सुरायी, लटकन, देवतादि की पालकी पर उत्कीर्ण लेख भी प्राप्त होते हैं।

स्वर्णपत्रों के अतिरिक्त रजतपत्रों पर भी ग्रन्थ अभिलेख प्राप्त होते हैं। धीरे–धीरे स्वर्ण आदि धातुओं के मंहगी होने से और धातुज्ञान बढ़ जाने से कांस्यपत्र, लोहपत्र आदि भी मिलने लगे। कांसे का बना दिल्ली का लौहस्तम्भ 150 वर्ष से ज्यादा पुराना है। पशुपतिनाथ का बृहदाकार घण्टा अष्टधातु का बना है। जिस पर ऊँ लिखा है।

(II) कोमल लिप्यासन

लिखने के कोमल आधार को कोमल लिप्यासन कहा जाता है। इसके अन्तर्गत ताड़पत्र, भूर्जपत्र, सांचीपत्र, वस्त्र, चर्म, कागज आदि पर लिखित पाण्डुलिपियां सम्मिलित हैं।

(क) ताड़पत्र

प्राचीन भारत की अधिकतर पाण्डुलिपियां ताड़पत्रों पर मिलती है। ताड़ या तालवृक्ष दो प्रकार के होते हैं एक खरताड़, दूसरा श्रीताड़। गुजरात, सिन्ध और राजस्थान में कहीं–कहीं खरताड़ के वृक्ष हैं। खरताड़ बहुत कोमल होता है। इनके पत्ते मोटे और कम लम्बे चौड़े होते हैं। ये सूखकर तड़कने भी लग जाते हैं और कच्चे तोड़ लेने पर जल्दी ही सड़ या गल जाते हैं। इसलिए उनका उपयोग पोथी लिखने में नहीं किया जाता। श्रीताड़ के पेड़ दक्षिण भारत में मद्रास और पूर्व में ब्रह्मा आदि देशों में उगते हैं। इसके पत्तों की लम्बाई तीन फीट और चौड़ाई तीन इंच की होती है और उन्हीं पर

लिखा जाता है। पत्तें को उबालकर, सुखाकर, पत्थर पर रगड़ते हैं या कोड़ी से रगड़कर उसको चिकना बनाते हैं। उस पर लोहे की कलम से कुरेदते हुए अक्षर लिखे जाते थे। उसके बाद प्रायः उस पर स्याही से लेखनी द्वारा लिखा जाता था। ताड़पत्रों की चौड़ाई कम होने से बाद में उन्हें कूट पीट कर अधिक चौड़ाई के पत्र बनाये जाने लगे।

ताड़पत्रों के लिए गर्म जलवायु हानिकारक है, इसलिए अधिक मात्रा में लिखे जाने के बावजूद ताड़पत्रीय ग्रन्थ दक्षिण भारत की बजाय उत्तर भारत के ठण्डे व सूखे प्रदेशों यथा काश्मीर, नेपाल, गुजरात आदि स्थानों पर ज्यादा मिलते हैं। ताड़पत्र कपड़े व कागज पर विनाशकारी प्रभाव दिखाते हैं, अतः उन्हें कपड़े से न बांधकर मुक्त ही रखा जाता है। ईसा पूर्व प्रथम शती का रामेश्वरध्वज कृत 'प्रबोधसिद्धि' ग्रन्थ ताड़पत्र पर प्राचीनतम ग्रन्थ है। नेपाल में 7 वीं व 10 वीं शती की स्कन्दपुराण की टीका है। राजस्थान में 'तिलकमंजरी' की टीका है।

(ख) भूर्जपत्र

भ्रान्ति के कारण एवं मुख सुख के लिए भूर्ज को भोज अर्थात् भूर्ज पत्र को भोज पत्र कहा जाने लगा है। भूर्जपत्र से तात्पर्य है भूर्ज नामक वृक्ष की छाल। यह वृक्ष हिमालय क्षेत्र में बहुतायत से होता है। इसकी भीतरी छाल कागज की तरह होती है। जितना मोटा वृक्ष होता है, उसकी उतनी ही मोटी छाल होती है। पतले वृक्ष की कागज से भी बारीक छाल होती है। अतः प्राचीनकाल में भूर्जपत्र की छाल निकालकर उसी पर लिखने की कला का प्रचलन पहले पत्र या पत्रों पर ही हुआ होगा क्योंकि वृक्ष के पत्ते का तत्सम रूप पत्र ही है जो धीरे–धीरे पत्ते के रूप में परिवर्तित हो गया। इसके बाद चाहें किसी आधार पर लिखा गया हो वह पत्र ही कहलाया। भूर्जपत्र पर लिखने की प्रथा भी बहुत पुरानी रही होगी। यह छाल कभी कभी 60 फुट तक लम्बी निकल आती है। लेखक आवश्यकता अनुसार उसे टुकड़ों में काटकर विविध आकार प्रकार का बनाकर उस पर तरह तरह की स्याही से लिखते थे। कालिदास ने कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग (श्लोक–7) में इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि इसकी छाल एक ओर से चौड़ी और फिर क्रमशः सकड़ी होती जाती है और आगे हाथी की सूंड की तरह होती है।

भूर्जपत्र पर लिखे ग्रन्थ प्रायः उत्तर भारत और विशेषतः काश्मीर में पाये गए हैं। खोतान में धम्मपद का कुछ अंश भूर्जपत्र पर लिखा हुआ मिला है। संयुक्तागमसूत्रम् नामक बौद्ध ग्रन्थ (चतुर्थशती) भी भूर्जपत्र पर मिलता है।

(ग) सांचीयपत्र

भूर्जपत्र की तरह आसाम में अगरुवृक्ष की छाल भी ग्रन्थ लिखने और चित्र बनाने के काम में आती थी। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, विशेषकर राजाओं, सरदारों के लिए लिखे जाने वाले ग्रन्थों में इसका उपयोग किया जाता था। 15–16 वर्ष पुराने अगरुवृक्ष के तने की पट्टियाँ उखाड़ ली जाती थीं जो कि 6 से 18 फीट लम्बी व 27 इंच तक चौड़ी होती हैं। इन पट्टियों के भीतरी भाग को ऊपर रखकर तथा हरे भाग को अन्दर रखकर सात आठ दिन सुखा लेते हैं। इसके पश्चात् इनको किसी लकड़ी के पट्टे अथवा दृढ़ आधार पर फैलाकर सीपी से रगड़कर ओस में रखते हैं और छाल की ऊपरी सतह को सावधानी से निकालकर सुविधानुसार काटकर इस पर भार लगाकर सतह को खुरचते

हैं और पकी ईंट से घिसकर खुरदरापन दूर करते हैं और इसे चमकीला बनाने के लिए मिट्टी का लेप लगा देते हैं। इसके बाद हरताल से रंग लेते हैं। इस प्रकार तैयार सांचीपत्र पर लेखन कार्य आसानी से होता है। इनके प्रत्येक पत्र पर बांधने के लिए डोरी पिरोने के लिए एक छिद्र बनाया जाता है। इसे चिकना बनाने के लिए बतख के अण्डे भी काम में लिये जाते थे। तैयार ग्रन्थ को गन्धक के धुंए में रखा जाता था, इससे यह विनाशक कृमियों से मुक्त हो जाती है। ये 15 वीं 16 वीं शताब्दी में अधिक मिलते हैं। इनका उल्लेख बाणभट्ट कृत हर्षचरित के सप्तम उच्छवास में मिलता है। जयुपर के पोथीखाना में असम से महाभारत के सात पर्व लाकर रखे गए हैं।

(घ) पट्टीय

कपड़े पर लिखने के लिए उस पर चावल का मांड चढाया जाता था या मोमिया पट्ट पर मोम चढाकर रगड़ कर फिर उस पर लिखा जाता था। इस पर चित्र भी होते थे। ऐसे ग्रन्थों को पट्टग्रन्थ कहते थे। ज्योतिषी जन्मपत्री इसी प्रकार बनाते थे। पंचांग भी कपड़ों पर ही बनते थे। आन्ध्रप्रदेश में काले कपड़े पर खड़िया के घोल से ग्रन्थ लिखे जाते थे। पाटन के जैन ग्रन्थ भाण्डागार में पट्टीय ग्रन्थ हैं। रेशमी कपड़े पर बहुत कम ग्रन्थ लिखे मिलते हैं। जयपुर महाराजा रामसिंह प्रथम के पुत्र कृष्णसिंह की जन्मपत्री 456 फीट लम्बी व 13 इंच चौड़ी है। महाराजा जयपुर के संग्रह में अनेक तान्त्रिक नक्शे, देवचित्र पट्ट पर ही हैं।

(ड़) चर्मपत्र

देवीपुराण में पुस्तक दान के उल्लेख में ताड़पत्र पर पुस्तक लिखवाकर उसे चर्म से सम्पुटित करने का विधान है। भारत में पुस्तक लेखन में चर्म का उपयोग भी होता था परन्तु बहुत कम क्योंकि यहाँ ताड़पत्र और भूर्जपत्र पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते थे। वैसे भी ब्राह्मणों एवं जैनों में चर्म का स्पर्श वर्जित भी माना गया है। बौद्धग्रन्थ में अवश्य चमड़े को लेखन सामग्री में गिनाया गया है। सुबन्धुकृत 'वासवदत्ता' व कालिदास ने अपनी उपमा में चर्मपत्र के लेखन सामग्री के रूप में उपयोग का उल्लेख किया है। यूनान, अरब, यूरोप एवं मध्य एशिया आदि स्थानों में चर्मपत्र का उपयोग बहुतायत से होता था। मिस्र में बने बांस के कागज में बछड़े की चमड़ी की झिल्ली लगाकर कागज बनाया जाता था। जिस पर लिखा सहज में मिटाया नहीं जा सकता था।

(च) कागज

चीन ने प्रथम शती में सर्वप्रथम कागज का आविष्कार किया। भारत में सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व कागज का आविष्कार हो चुका था। रूई और लुगदी मिलाकर कागज बनाया जाता था। भूर्जपत्र, रेशम, लाल कपड़ा और तालपत्र के समान कागज भी यत्र–तत्र लिखने के काम में आता था। ग्रन्थ तो इस पर लिखे ही जाते थे। भारत में प्राप्त कागज पर लिखित प्रतियों में वाराणसी के संस्कृत विश्वविद्यालय में सरस्वती भवन पुस्तकालय स्थित भागवत पुराण की एक मिश्रित प्रति का उल्लेख मिलता है। इसकी पुष्पिका का सम्वत् 118 (1134) बताया जाता है। आनन्दवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' पर अभिनव गुप्त विरचित 'ध्वन्यालोक लोचन टीका' की प्राचीनतम प्रति सम्वत् 1204 (1146) की है, जो राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में संग्रहीत है। महाराजा जयपुर के निजी पोथीखाने में पद्मप्रभ सूरि रचित 'भुवनदीपक' की वृत्ति सम्वत् 1326 की प्रति विद्यमान है।

भारत में प्राचीन काल में ही कागज बनाया जाता था। कागज बनाना गृह उद्योग भी रहा है। काश्मीर, दिल्ली, पटना, कानपुर, अहमदाबाद, दौलताबाद, सांगानेर में कागज उद्योग स्थापित है। सवाई जयसिंह के पुत्र ईश्वरीसिंह के समय में इस उद्योग को विशेष प्रोत्साहन दिया गया था। सांगानेरी कागज बहुत टिकाऊ होता है। भूतपूर्व जयपुर राज्य के बहीखाते, स्टाम्प पेपर और अन्य अभिलेख इसी कागज पर पाये जाते हैं। सतरहवीं शताब्दी या इसके बाद में लिखे बहुत से ग्रन्थ भी सांगानेरी कागज पर लिखे पाये जाते हैं।

(छ) तूलीपातीय

तूलीपातीय एक प्रकार का कागज होता है जो लकड़ी के गूदे या बल्क से बनाया जाता है। यह तीन रंगों में मिलता है– सफेद, भूरा ओर लाल। सफेद, तूलीपात बनाने के लिए महाई नामक वृक्ष को चुना जाता है। गहरे भूरे रंग के तूलीपात के लिए यामोन (जामुन) वृक्ष का प्रयोग होता है। इन वृक्षों की छाल निकालकर उसे अच्छी तरह कूटकर बने रेशों को पानी में उबालते हैं, जिससे उनका प्रत्येक कण अलग हो जाता है और सारा कूड़ा समाप्त हो जाता है। इन कणों का कल्क बनाकर अलग–अलग माप वाली आयताकार तश्तरियों में पानी भरकर उस पर कल्क समानरूप से फैला देते हैं। ठण्डा होकर सूखने पर वह मजबूत कागज के रूप में जम जाता है। यह कागज विशेषतः आसाम में प्रयुक्त होता रहा है।

(ज) काष्ठपट्टीय

लिखने के लिए लकड़ी के फलकों का उपयोग प्राचीन काल से होता रहा है। 40–45 वर्ष पूर्व बालकों को सुलेख लिखाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता था। यह पाटी लगभग डेढ फुट लम्बी और एक फुट चौड़ी होती है। इसके सिरे पर एक मुकुटाकार भाग काट दिया जाता है। इसमें लटकाने के लिए छिद्र कर दिया जाता है। इसे खड़िया या मुलतानी से पोतकर सरकंडे या नेजे की कलम से काली स्याही से सुन्दर अक्षर लिखने का अभ्यास करते थे। बौद्ध जातक कथाओं में भी विद्यार्थियों द्वारा काष्ठफलकों पर लिखने के उल्लेख मिलते हैं। ज्योतिषी पहले खोड़पाटे पर कुण्डली खींच कर गणित किया करते थे। बर्मा में रोगनदार फलकों पर पाण्डु से लिखे जाते थे और रोगन वाले फलकों पर शाही शासन लिखे जाते थे। कहीं कहीं काष्ठस्तम्भों पर लेख खुदे मिलते हैं। जैसे किरारी के स्तम्भ भुज की गुफा की छतों की काष्ठ महराबों पर भी लेख उत्कीर्ण हैं।

6.3.2 आकार की दृष्टि से

प्राचीनतम हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः लम्बी और पतली पट्टिकाओं के रूप में ही प्राप्त होती हैं, जिनकों एक के ऊपर एक गड्डी बनाकर रखा जाता था। एक–एक पट्टी को पत्र कहते हैं। पत्र इसलिए कहते हैं क्योंकि ये पोथियां ताड़पत्रों या भूर्जपत्रों पर लिखी जाती थीं। बाद में उनके समान आकार के कागज या मांगपत्र बनाये जाने लगे। प्राचीन पुस्तकें खुले पत्राकार रूप में ही प्राप्त होती हैं। इनके छोटे–बड़े कई भेद हो सकते हैं। दशवैकालिक सूत्र की हरिभद्र कृत टीका में पुस्तकों के 5 प्रकार गिनाये गए हैं।

1. गण्डी 2. कच्छपी 3. मुष्टि 4. सम्पुटफलक 5. छेदपाटी

1. गण्डी–

जिस पुस्तक के पत्रों की मोटाई–चौड़ाई समान होती है वह गण्डी कहलाती है। ताड़पत्र या ताड़पत्रीय आकार के कागजों पर लिखी पुस्तकें इस प्रकार में संग्रहीत की जाती हैं।

2. कच्छपी

कछुए के आकार की पुस्तकें अर्थात् किनारे पर सकरी और बीच में चौड़ी पुस्तके कच्छपी कहलाती हैं। इसके किनारे या छोर त्रिकोण अथवा गोलाकार होते हैं।

3. मुष्टि

छोटे आकार की वह पुस्तक जिसे हाथ में अथवा मुट्ठी में आसानी से पकड़ा जा सके मुष्टि कहलाती है। यह एक इंच चौड़ी तथा तीन या चार इंच लम्बी होती है। हैदराबाद स्थित संग्रहालय में एक इंच चौड़ी पुस्तक प्राप्त होती है।

4. सम्पुट फलकी

सचित्र काष्ठ पट्टिकाओं अथवा लकड़ी की पट्टिकाओं पर लिखित पुस्तकें सम्पुट फलक कहलाती है। वस्तुतः जिन पुस्तकों की सुरक्षा के लिए ऊपर और नीचे काष्ठ फलक लगे होते हैं, उनको सम्पुट फलक कहते हैं।

5. छेदपाटी

जिस पुस्तक के पत्र लम्बे चौड़े अधिक व मोटे कम होते हैं तथा बीच में डोरा डालकर क्रम से पृष्ठ व्यवस्थित रखे जाते हैं वह छेदपाटी कहलाती है।

लेखन शैली के आधार पर पाण्डुलिपि प्रकार

आकार एवं आधार सामग्री के भेदों को लेकर पाण्डुलिपियों में अनेक प्रकार किये गये हैं। उसी प्रकार लेखन सामग्री के आधार पर भी पाण्डुलिपियाँ तीन प्रकार की हो सकती हैं।

1. पृष्ठ का रूपविधान

पृष्ठ के रूप विधान के आधार पर पाण्डुलिपियाँ तीन प्रकार की हो सकती हैं। 1. त्रिपाठ 2. पंचपाठ 3. शुण्ड।

1. पृष्ठ को तीन भागों में बाँटकर विषयवस्तु को प्रस्तुत करने की विधा त्रिपाठ कहलाती है। त्रिपाठ के अन्तर्गत बीच में मोटे अक्षरों में मूल ग्रन्थ गद्य–पद्य आदि ऊपर और नीचे छोटे अक्षरों में टीका या व्याख्या होने से पृष्ठ के तीन पाठ हो जाते हैं।
2. पंचपाठ जब मध्य भाग में मूल ग्रन्थ, ऊपर नीचे टीका एवं दाएं बाएं के हाशिये में भी कुछ लिखा हो तो पंचपाठ कहलाता है। पंचपाठ के अन्तर्गत पृष्ठ को पाँच पाठों में बाँटा जाता है।
3. शुण्ड लिखते समय पंक्तियां क्रमशः छोटी होती जाए और अन्तिम पंक्ति सबसे छोटी हो तो पृष्ठ हाथी के शुण्ड का आकार ग्रहण कर लेता है।

2. चित्रांकन के आधार पर

पाण्डुलिपि को चित्रांकित कर प्रस्तुत करने की विधा एक अलग प्रकार से दृष्टिगोचर होती है। यह चित्रांकन विषयोपयोगी अथवा अलंकरण मात्र हो सकता है।

6.3.3. स्याही की दृष्टि से

लिखने की सामग्री अर्थात् स्याही की विभिन्नता के आधार पर पाण्डुलिपियां, स्वर्णाक्षरी, रजताक्षरी आदि विविध प्रकारों में उपलब्ध होती हैं।

6.3.4. बनावट की दृष्टि से

अक्षरों की सूक्ष्मता एवं स्थूलता के आधार पर भी पुस्तकें प्राप्त होती हैं। ये सूक्ष्माक्षरी या स्थूलाक्षरी हो सकती हैं।

पाण्डुलिपियों के अन्य प्रकार

इन प्रमुख भेदों के अतिरिक्त पाण्डुलिपियाँ स्क्रॉल (Scroll) रूप में भी प्राप्त होती हैं। इनके अन्तर्गत जन्मपत्रियाँ विशेष रूप से मिलती हैं। भारत में कुण्डली रूप में ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं। कुण्डली रूप में लिखित भागवत् पुराण ब्रिटिश म्यूजियम में उपलब्ध है।

इसके अतिरिक्त कुछ पाण्डुलिपियाँ खुले पत्रों के रूप में कुछ जिल्द रूप में उपलब्ध होती हैं। जिल्द के रूप में उपलब्ध पाण्डुलिपियाँ पोथी रूप में अथवा गुटके के रूप में मिलती हैं।

6.4 पाण्डुलिपियों में अंक लेखन की प्रक्रिया

ग्रन्थों में शब्दों द्वारा अंक द्योतन की परम्परा अति प्राचीन है। यदि प्रणेता को बीच बीच में अंकों की सूचना देनी हो तो उसकी विधि अंक लेखन विधि कहलाती है। काल निर्धारण में इसी का विस्तृतरूप होता है। अंकों के साथ वहाँ वर्ष, मास, पक्ष, तिथि का भी उल्लेख होता है।

पाण्डुलिपियों में अंकलेखन की आवश्यकता ग्रन्थकार को लेखन कार्य की समाप्ति के काल की सूचना देने के लिए पड़ती है। कभी कभी यह कार्य लिपिकार भी प्रतिलिपि की समाप्ति पर करते हैं। ऐतिहासिक ग्रन्थों में कालानुसार घटनाओं का समय संकेत करने के लिए भी अंक लेखन आवश्यक है।

कभी–कभी ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ के आकार, सर्ग, पद्य, अध्याय को बताने के लिए भी अंकों का प्रयोग करता है। जब ग्रन्थकार रचना करता है तो पृष्ठ क्रमांक भी डालता है। पृष्ठ संख्या डालने की विधि भी पृथक् है। प्राचीन काल में आगे और पीछे का एक ही पृष्ठ माना जाता था ओर पीछे की ओर क्रमांक डाला जाता था। इसलिए पत्र की पीठ पर लिखा होने के कारण पृष्ठ कहा गया। पृष्ठों के क्रमांक दाहिनी ओर लिखे जाते थे। अंकों को अक्षरों में लिखा जाता था और नीचे अंकों में। कहीं कहीं अंकों के प्रतीक चिह्न भी दिये जाते थे।

अंकों को कई प्रकार से प्रकट किया जा सकता है– कहीं अंकात्मक अर्थात् अंकों को अंकों में ही लिखा जाता था, कहीं अंकों को शब्दों में लिखा जाता था। जैसे एकम् त्र1 या किसी भी अंक के लिए सर्वमान्य प्रतीक का प्रयोग होता था। यह महत्त्वपूर्ण विधि है। कुछ विद्वानों के अनुसार इन प्रतीकों का ग्रहण कवि समयानुसार होता था।

अंकलेखन का अपना शास्त्र है। जैसे संगीतशास्त्र में स्वर सात ही माने जाते हैं। आयुर्वेदशास्त्र में धातुएं सात ही मानी जाती हैं। वेद वेदांगों की संख्या निर्धारित है। इन नामों को संख्या के स्थान पर प्रयुक्त कर दिया जाता था।

कुछ नाम ऐसे हैं जो सामान्य रूप में स्थिति रखते हैं। ये रूढ़ि नहीं सार्वकालिक सत्य होता है। यथा नेत्र दो, नाक एक आदि। सूर्य से 12 आदित्य, चन्द्र से एक का ही बोध होता है। कामदेव के बाण (अशोक, नीलकमल, आम, नवमल्लिका, कमल) की स्थिति लोक में नहीं है। कवि समयानुसार भी प्रतीकों का ग्रहण किया जाता है। कभी कभी प्रणेता संख्या को प्रतीकों के साथ साथ शब्द रूप में भी प्रयुक्त करता है कभी कभी अंक और प्रतीक दोनों भी लिखे जाते हैं।

6.5 कुछ बहुप्रचलित प्रतीक

1. "शून्य के लिए" शून्य, ख, गगन, आकाश, अम्बर (आकाश के सभी पर्याय), पूर्ण, रन्ध्र, बिन्दु, छिद्र आदि।
2. "एक के लिए"आदि, शशि, इन्दु, (चन्द्र के पर्याय) भू, भूमि, (भूमि के पर्याय), पितामह, नायक, तनु, कलि।
3. "दो के लिए" यम, युग्म, यमल, अश्विनी, नासत्य, नेत्र, पक्ष, बाहु, कर, कर्ण, कुच, ओष्ठ, गुल्फ, जानु, जंघा, द्वय, द्वन्द्व, युगल, अयन, कुटुम्ब, रवि, चन्द्रौ, श्रुति, श्रोत्र।
4. "तीन के लिये" राम, गुण, संध्या, लोक, भुवन, काल, गायत्री छन्द, त्रिनेत्र, अग्नि, स्वर आदि।
5. "चार के लिये" युग, आश्रम, वेद, वर्ण, समुद्र, चतुर्ध्यान, याम, कषाय, दिशा आदि व इनके पर्याय।
6. "पॉच के लिए" बाण, प्राण, महाभूत, शिवमुख, इन्द्रियां, पाण्डव, अर्थ, विषय, रत्न, महाव्रत, महायज्ञ आदि।
7. "छह के लिए" रस, स्कन्ध, मुख, शास्त्र, दर्शन, कारक, ऋतु, अंग, काम, वेदांग, राग, अरि, समास आदि।
8. "सात के लिए" अश्व, पर्वत, द्वीप, स्वर, धातु, राजनीति के अंग, ऋषि, वार, धी, लोक, विवाह।
9. "आठ के लिए" वसु, सिद्धि, सप्र, गज, अष्टांगयोग एवं विवाह भेद।
10. "नौ के लिए" अंक, नन्द, निधि, द्वार, ग्रह, रन्ध्र, खग, नारद, ख, तत्त्व आदि।
11. "दस के लिए" दिशा, दिश, अंगुलि, पंक्ति, रावणशिर, अवतार आदि।
12. "ग्यारह के लिए" रूद्र, ईश्वर, अक्षौहिणी आदि।
13. "बारह के लिए" आदित्य (सूर्य के पर्याय), राशियां, मास, भिक्षुप्रतिमा आदि।
14. "तेरह के लिए" अतिजगती, विश्वेदेवा, काम, अघोष आदि।
15. "चौदह के लिए" विद्या, रत्न, भुवन, मनु, गुणस्थान, रत्न आदि।
16. "पन्द्रह के लिए" तिथि, घर, दिन।
17. "सोलह के लिए" नृप, कला, विद्या, देवियां।
18. "सत्रह के लिए" अत्यष्टि, संयम।
19. "अठारह के लिए" धृति, पापस्थानक, विद्याएं, पुराण, स्मृतियां।
20. "उन्नीस के लिए" अतिधृति।
21. "बीस के लिए" नखकृति, करशाखा, रावण के नेत्र और भुजाएं।
22. "इक्कीस के लिए" स्वर्ग, प्रकृति।
23. "बाइस के लिए"कृति, जाति।
24. "तेइस के लिए" विकृति।
25. "चोबीस के लिए"गायत्री, जिन, अर्हत्।
26. "पच्चीस के लिए" तत्त्व।
27. "छब्बीस के लिए"नक्षत्र
32. "सत्ताइस के लिए" दन्त।
33 "अठाइस के लिए" देव।
40. "उनतीस के लिए"नरक।
48. "तीस के लिए"जगती।

49. "इकत्तीस के लिए" तान, पवन।

64. "बत्तीस के लिए" स्त्रीकला।

72. "तैतीस के लिए" पुरुष कला।

100. "चौतीस के लिए" शत, कमलदल, रावणांगुलि, जलधियोजन, धृतराष्ट्रपुत्र, जयमाला आदि।

1000. "पेंतीस के लिए" अहिपति मुख, गंगामुख, पंकजदल, रविकर, इन्द्रनेत्र, सामवेद की शाखा आदि। ये प्रतीक साहित्य एवं समाज में मान्य परम्पराओं एवं मान्यताओं के अनुकूल हैं।

6.6 प्रसिद्ध अंकलेखन प्रकार

ग्रन्थों में संख्या को शब्दों में उल्लेख करने की अलग विधा है। अंकों को शब्दों में लिखने का नियम 'अंकानां वामतो गतिः' अर्थात् जब कभी अंकों का प्रतीक के रूप में प्रयोग होता है तो उनकी गति बाँयी ओर से होती है। कुछ प्रसिद्ध अंक लेखन प्रकारों का विवरण इस प्रकार मिलता है–

1. गुप्तकालीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों में एक विशेष प्रकार का अंक लेखन मिलता है।
   यथा– 100+10+3 = सम्वत् 113 अथवा 80x10+87 = 887।
   आधुनिक काव्यों की पाण्डुलिपियों में संख्या सीधी सीधी लिखी हुई है। जैसे 29.12.1982 ई.। श्रीधर भास्कर ने शिवराज्योदयम् में सर्ग की समाप्ति पर लिखा है– 68तमः सर्गसमाप्तः। और पुष्पिका में ग्रन्थ समाप्ति को 13.4.66 से दर्शाया है।

2.	अष्टादशशतं त्रिसप्तति	=	18 100 73 = 1873
3.	पूर्णे तु सप्तदशके एक	=	1701
4.	शते सप्तदशे नवाख्ये	=	1709
5.	सप्ताष्टवेदयुग्मेषु	=	7842– अंकानां वामतो गति से 2487।
6.	नवनन्दांक	=	999– 999।
7.	नव नवेन्दुमहीवर्ष	=	9911– 1199।
8.	वर्षेऽद्रि गो नागविधौ	=	7181– 1817।
9.	गिर्यग्नि अद्रि शशांक	=	7371– 1737।
10.	शरेषुयुग एव इन्दु(काव्यप्रकाश)	=	55401–10455।
11.	वेद ख अब्धिवियत् चन्द्र	=	40401– 10404।
12.	पद्यों की संख्या	=	गगनाम्बर मुनि लोचन– 0072–2700

अंक लेखन विधि का ज्ञान ग्रन्थों के काल निर्धारण हेतु अत्यावश्यक है।

6.7 निष्कर्ष

इस प्रकार देश के विविध हस्तलेखागारों में विविध प्रकार की पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं। इनमें कागज, ताड़पत्र एवं भूर्जपत्र पर विद्यमान पाण्डुलिपियों की संख्या अधिक है। आकार की दृष्टि से भी विभिन्न कलात्मक स्वरूप की पाण्डुलिपियां मिलती हैं। कई पाण्डुलिपियों में कलात्मक दृष्टि से बार्डर, सुनहरे अक्षर, फुल पत्ती के चित्र बने होते हैं। कुछ सचित्र पाण्डुलिपियां भी मिलती हैं। लेखन के प्रकारों का ज्ञान पाण्डुलिपि को पढ़ने में सहायक होता है।

6.8 बोध प्रश्न

1. पाण्डुलिपि किसे कहते है? पाण्डुलिपि की परिभाषा स्पष्ट कीजिए।
2. पाण्डुलिपि के विविध प्रकारों पर संक्षिप्त लेख लिखिए।
3. कठोर लिप्यासन की पाण्डुलिपियां कौन कौनसी होती है? परिचय दीजिए।
4. कोमल लिप्यासन कौन कौन से हैं?
5. आकार की दृष्टि से पाण्डुलिपियों के कितने भेद होते हैं?
6. पाण्डुलिपि में अंकलेखन किस प्रकार किया जाता है?
7. प्रमुख अंक प्रतीकों का विवेचन कीजिए।

6.9 उपयोगी ग्रन्थ

1. अनुसन्धान प्रक्रिया एवं पाठालोचन– डॉ. विनोद शास्त्री एवं डॉ. शालिनी सक्सेना, राजस्थान ज्योतिष परिषद् एवं शोध संस्थान, जयपुर 2007।
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर,1989।
3. पाठ सम्पादन के सिद्धान्त, डॉ. कन्हैया सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006।

6.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई संख्या 6.2।
2. इकाई संख्या 6.3।
3. इकाई संख्या 6.3.1।
4. इकाई संख्या 6.3.1।
5. इकाई संख्या 6.3.2।
6. इकाई संख्या 6.4।
7. इकाई संख्या 6.6।

इकाई 7

पाण्डुलिपि – संग्रह एवं संरक्षण

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 पाण्डुलिपि रखरखाव

7.3 शत्रु चिकित्सा

7.3.1 हाथ का बना कागज

7.3.2 ऊलि

7.3.3 तैल, कागज या मोमी कागज

7.3.4 मलमल

7.3.5 लंकलाट

7.3.6 सैल्यूलोज एसीसेट फायल

7.3.7 अन्य चिकित्सासयें

7.3.8 पूर्ण पृष्ठ पर्णन चिकित्सा

7.3.9 शिफन चिकित्सा

7.3.10 टिश्यू चिकित्सा

7.3.11 परतोपचार

7.3.12 पानी से भीगी पाण्डुलिपियों का उपचार

7.3.13 अम्ल निवारण

7.3.14 ताड़पत्र एवं भोजपत्र का उपचार

7.4 पाण्डुलिपि संग्रह के उपाय

7.5 सांराश

7.6 बोध प्रश्न

7.7 उपयोगी पुस्तकें

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप जान सकेंगे कि पाण्डुलिपि क्या है और कैसे इनका रखरखाव किया जा सकता है इनके नष्ट होने के प्रमुख कारण कौन–कौन से हैं तथा इन कारणों का उपचार किस प्रकार संभव है इकाई में आप यह भी जान सकेंगें कि पाण्डुलिपियों का संग्रहण कैसे संभव है ?

7.1 प्रस्तावना

इस इकाई में पाण्डुलिपियों के रखरखाव में आने वाली समस्याओं, उनके प्रमुख शत्रुओं एवं शत्रु चिकित्साओं का अध्ययन किया जायेगा। आज के समय में पाण्डुलिपियों के संग्रहण में उपयुक्त

तकनीकियों के विषयों में भी इस इकाई में जान सकेंगे।

7.2 पाण्डुलिपि रखरखाव

पाण्डुलिपियाँ संस्कृति की संवाहक होती हैं। ये अतीत और वर्तमान को जोड़ने में सहायक होती हैं। संस्कृत साहित्य की एक लम्बी परम्परा रही है। संस्कृत भाषा साहित्य उच्च शिक्षा, विज्ञान, तकनीकी एवं साहित्य का प्रमुख माध्यम हैं। इस प्रकार संस्कृत में उपलब्ध कार्य ज्ञान का अद्भुत खजाना है। और वह सम्पूर्ण कार्य आज पाण्डुलिपि के रूप में उपलब्ध है। इसलिये यह आवश्यक है कि हम सब पाण्डुलिपियों की रक्षा करें। पाण्डुलिपियों के प्रकाशन की स्थिति में यह हमारा कर्त्तत्य है कि हम पाण्डुलिपियों की देखभाल करें, एक कृतज्ञता व्यक्त करने के रूप में, कि उनके द्वारा हमें एवं हमारे पूर्वजों को ज्ञान का प्रकाश मिला। प्रो. एम.बी. सीतारामैया पाण्डुलिपि रक्षण के विषय में कहते हैं कि –

"Is it not like ignoring an ailing father after talking his photograph if a manuscript is neglected just because It has been microfilmed."

कागज और ताड़पत्र लिखने के प्रमुख साधन हैं जो समय के साथ नष्ट हो जाते हैं। उनकी स्थिरता एवं मजबूती इस बात पर निर्भर करती है कि उनमें किस प्रकार के पदार्थ उपयोग में लिये गये हैं और किस प्रकार की पाण्डुलिपि की देखभाल की जा रही है। इन पाण्डुलिपियों के रखरखाव के लिये आवश्यक है कि उनके लिये विनाशक परिस्थितियों की जानकारी हो। पाण्डुलिपियों को जिन कारकों से खतरा रहता है उनमें है समय, आग, यानी, गर्मी, धूल, आर्द्रता, वातावरण, गैसें, फफूंद, चींटी, चूहे और अन्त में मानव।

पाण्डुलिपियों के नष्ट होने के कारण – पाण्डुलिपियाँ एक धरोहर हैं। उन्हें कभी स्थानान्तरित भी नहीं किया जा सकता। पाण्डुलिपियों की अमूल्यता एवं उनमें प्रयुक्त पदार्थ के कारण उनकी देखभाल करना नव प्रकाशित पुस्तकों से अधिक आवश्यक है। इसलिये प्रत्येक पाण्डुलिपि पर अत्यधिक ध्यान देना आवश्यक है। वातावरण के विपरीत प्रभाव बदलती जलवायु, विनाशक जन्तुओं एवं मानव से पाण्डुलिपियों की रक्षा करनी अत्यंत आवश्यक है। पानी, आग एवं दुष्ट मनुष्य ही पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों के प्रमुख शत्रु हैं ऐसा राजशेखर (10th Century) का मत है। पाण्डुलिपि के अन्त में लिखा हुआ पद पाण्डुलिपि के विषय में कहता है कि इसे तेल, पानी एवं Loose Binding एवं दुष्ट हाथों में जाने से रोकना चाहिये। एक दुष्ट मनुष्य और एक मूर्ख व्यक्ति पुस्तकों का कोई सम्मान नहीं करते यहाँ तक कि वे पुस्तकों से द्वेष भी करते हैं। इसलिये पुस्तकें उन मनुष्यों के हाथों में कभी सुरक्षित नहीं रह सकती। पुस्तकें हमारी परम्परा में आदरणीय एवं पूजनीय है। यह संयुक्त है कि आग एवं पानी दोनों ही पुस्तकों को प्रभावित करते है यदि पानी के साथ तेल भी मिल जाये तो यह और भी खतरनाक हो जाता है क्योंकि इससे कवक बन जाता है और पुस्तक की बाइंडिंग ढ़ीली हो जाती है इसमें से पन्ने निकल कर नष्ट हो जाते हैं। ताड़ पत्रों को अच्छे से बाँधना चाहिये क्योंकि ढ़ीले रहने से उनकी पत्तियों के किनारे नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य पाण्डुलिपियों का संरक्षक एवं विनाशक दोनों है।

जलवायुगत परिस्थितियाँ – पाण्डुलिपियाँ आर्द्रता के स्तरों में हुये परिवर्तन से काफी प्रभावित होती है। यदि आर्द्रता कम रहती है तो पत्तियां सूख जाती हैं और यदि आर्द्रता अधिक होती है तो पत्तियों में कवक का विकास आरम्भ हो जाता है। गर्मी की कम नमी ताड़ पत्रक पाण्डुलिपियों की प्रमुख शत्रु है। ताड़–पत्र लकड़ी एवं हस्त निर्मित कागज से लगभग चार गुना मजबूत होते हैं। ये इनकी किनारों के कारण कमजोर हो जाते हैं।

वातावरण – हवा धूल एवं रासायनिक गैसों की परिवाहक के रूप में अत्यधिक खतरनाक होती है। रासायनिक गैसों पता लगाना बहुत मुश्किल होता है। ये रासायनिक गैसे स्याही एवं कागज पर विपरीत प्रभाव डालती हैं और धूल कुछ समय में ही कीड़ों एवं कृषि आदि जन्तुओं को उत्पन्न कर पाण्डुलिपि को नुकसान पहुंचाती है। इनके अलावा अन्य जीवित जन्तुओं में कवक एवं चूहे भी प्रमुख जन्तु हैं।

कवक (Fungus) – कवक के तत्व हवा में पाये जाते हैं, जैसे ही ये लकड़ी, कागज आदि के सम्पर्क में आते हैं उस पदार्थविशेष पर एक परत के आकार में परिवर्तित हो जाते हैं। जब आर्द्रता 65 प्रतिशत से अधिक होती है, एवं कक्ष का तापमान 650 से 950 ए के बीच में होता है। उस समय इनकी वृद्धि होती है। यदि कवक दो पत्तियों के बीच में उत्पन्न हो जाती है तो वे चिपक जाती हैं, और उन्हें बिना किसी नुकसान के अलग नहीं किया जा सकता है।

कीड़े–मकोड़े – कई प्रकार के कीड़े–मकोड़े भी ग्रन्थों को हानि पहुंचाते हैं। जीव विज्ञानियों के अनुसार लगभग एक लाख से अधिक कीड़े–मकोड़े इस पृथ्वी पर पाये जाते हैं। इनमें से कुछ ही पुस्तकों और पाण्डुलिपियों के लिये नुकसानदेय होते हैं। इनमें प्रमुख हैं रजत कीट (Silver fish)।

रजत कीट – इसे रजत कीट अथवा सिल्वर फिश इसलिये कहा जाता है क्योंकि इस कीट की आकृति मछली की तरह होती है एवं रंग रजत या सलेटी होता है। यह लगभग 13 मिमि लम्बा होता है। यह कीट पूरी पुस्तकों में बड़े–बड़े छिद्र कर देता है।

कॉकरोच (Cockroach) झिंगुर आदि – यद्यपि यह नाम कीटों के समूह के लिये प्रयुक्त होता है, किन्तु सामान्यतः यह एक ही कीट के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है ओर वह है काला कीट। इस कीट की लगभग 1000 से अधिक उपजातियाँ हैं। तीन प्रकार के कीट संसार भर के पुस्तकालयों में, जहां गर्म जलवायु रहती है, पाये जाते हैं। यह कीट कुछ भी खा सकता है। यह बिना कुछ खाये भी कई दिनों तक रह सकता है। यह कीट अप्रैल और अक्टूबर में तेजी से बढ़ता है। इसके अंड़े पुस्तकों के किनारों को आवृत्त कर लेते हैं एवं इसकी आकृति को भी खराब कर देते हैं। कॉकरोंच अंधेरे में सक्रिय हो जाते हैं।

पुस्तक कीट – यद्यपि किसी भी प्रकार का कोई भी कीट जो पुस्तक में रहता है पुस्तक कीट कहा जा सकता है, किन्तु कई प्रकार के कीटों के लार्वा के रूप में यह शब्द प्रयुक्त होता है, यह कीट पुस्तकों के किनारों पर अण्डों की परत सी बिछा देता है। यह एक ही कीट एक साल में 8000 अण्डे दे देता है। इस कीट के अण्डों में से निकला लार्वा पुस्तक एवं पाण्डुलिपियों को दोनों तरफ से खराब कर देता है। इसके रास्ते में जो भी आता है उसे यह खा जाते हैं। यह कहना गलत है कि यह कीट कुछ भी नहीं खाता। इसका अपशिष्ट भी विनाशक होता है। 15 दिन के भीतर ये बड़े हो जाते हैं ओर इनका जीवन–चक्र फिर से शुरू हो जाता है। इसकी एक अन्य प्रजाति Lyctus brunneus होती है जो पुस्तकों को खराब कर देती है भारत में घुण कहलाती है।

दीमक (White Arts **या** Termites) – दीमक का आक्रमण अत्यन्त हानिकर होता है। दीमक उपर्युक्त सारे कीटों में सबसे खतरनाक है। इसका घर भूगर्भ में होता है। वहां से चलकर यह मकानों में, लकड़ी, कागज आदि पर आक्रमण करती है। ये अपना रास्ता दीवारों पर बनाती है जो मिट्टी से ढकी पतली सुरंगों के रूप में दिखायी पड़ता है। ये पाण्डुलिपि एवं पुस्तकों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर देती है। इन्हें जीवित मारने का कोई लाभ नहीं होता क्योंकि दीमक की रानी औसतन 30 हजार अण्डे प्रतिदिन देती है। कुछ को यदि मार भी डाला गया तो इसके आक्रमण में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

चूहे – चूहे भी पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों के सबसे बड़े शत्रु होते हैं। वे पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों पर आक्रमण करते हैं एवं उन्हें टुकड़ों–टुकड़ों में क्षत विक्षत कर देता है। चूहे सरलता से ईंट की दीवारों एवं लकड़ी के सामान में सरलता से छिद्र कर देते हैं।

7.3 बचाव एवं शत्रु चिकित्सा

पाण्डुलिपियों के रखरखाव में केवल शत्रुओं से ही रक्षा करना इसका उपाय नहीं है। पाण्डुलिपियों को ठीक रूप में और स्वस्थ दशा में रखना भी इसी का एक अंग है। जब पाण्डुलिपियां कहीं से प्राप्त होती हैं तो उनकी दशा बहुत खराब होती है उनमें कुछ सिकुड़ी हुई, सिलवटों वाली किनारों से मुड़े हुये

कागज, कटे–फटे किनारे तड़कने वाले कागज, पानी से भीगे हुये कागज, चिपके कागज, धुंधले, धुले लेख, जले हुये कागज, कागजों पर मुहरों की विकृतियाँ आदि।

इन विकृतियों को दूर करने का उपाय करना अत्यावश्यक है इसमें निम्नलिखित सामग्री इस कार्य के लिये अपेक्षित है।

मेज पर शीशा चढ़ा हो, पेपर ट्रीमर (Paper trimmer), कैंची, चाकू, porning knives, प्याले तश्तरियाँ, ब्रुश, Paper cutting slinces, फुटा, सुइयाँ, बोदकिन, तख्ती इनामिल किये हुये शीशे की प्लेटें, ढेगची लेई बनाने के लिये, बिजली की इस्तरी। पाण्डुलिपियों के शत्रुओं से बचने में उसके रख रखाव हेतु डॉ. सत्येन्द्र ने के.डी. भार्गव के द्वारा उल्लिखित सामग्रियों की चर्चा की है।

7.3.1. हाथ का बना कागज – यह कागज सूती वस्त्रों का क्षोम (Nion) का या दोनों से मिलकर अनेक चिथड़ों का बना होना चाहिये। इसका रंग सफेद अथवा क्रीम तथा वजन में 9–10 कि. ग्रा. (आकार 51ग71 से.मी. 500 कागज) होनी चाहिए।

7.3.2. ऊलि (टिशु) – पाण्डुलिपि चिकित्सा हेतु निम्नलिखित विशेषताओं से युक्त पत्र होना चाहिये। इसमें एलफा सेल्यूलोज कम से कम 88 प्रतिशत तथा वजन और आकार 25–35 कि.ग्रा. (63. 5 x 127), 0.5 अधिकतम तथा पी.एच. से भी 5.5 न्यूनतम।

7.3.3. तैल कागज या मोमी कागज – जिसमें पानी न छने और जो डैक्सट्राइन या लेई (Starch Paste) की चिपकन को न पकड़े साथ ही तेल और मोम के अंश कागज पर धब्बे न डालें।

7.3.4. मलमल – यह चित्रों और चार्टों पर चढ़ाई जाती है। उसके सूत्र में गाँठ नहीं हो।

7.3.5. लंकलाट – (Long cloth)

7.3.6. सैल्यूलोज एसीसेट फायल – इनके अतिरिक्त कई शत्रु चिकित्साएं हैं जो प्रयोग में ली जाती है–

चौरस करना – पाण्डुलिपि पत्र के किनारे मुड़े हुये हों तो उन्हें चौरस किया जाता है। चौरस करने हेतु सर्वप्रथम भीगे ब्लोटिंग–पेपर को पन्नों के किनारे पर रखकर उन्हें नमी प्रदान करके ब्लोटिंग कागज उस पर रखकर इस्त्री को कुछ गरम करके उसको स्तरित किया जाता है इसके पश्चात् हाथ के कागज की कतरन चिपका कर उसके किनारे ठीक किये जाते हैं। यदि लिखावट दोनों तरफ हो तो टिश्यू कागज का उपयोग किया जाता है। यदि पत्र बीच में कहीं से भी कटा–फटा हो तो उन स्थानों पर पत्र के पश्च भाग पर हाथ के कागज की चिप्पियां चिपका दी जाती हैं। चिपकाने के लिये थोड़े नीले थोथे के साथ मैदा की लई का ही प्रयोग किया जाना चाहिये।

7.3.7 अन्य चिकित्सायें – पाण्डुलिपि शत्रु–चिकित्सा के लिये पूर्ण पृष्ठपर्णन, टिश्यू चिकित्सा, शिफन चिकित्सा तथा परतोपचार भी प्रमुख है। तड़कने वाले कागजों का सैल्यूलाइज एसीटेट पर्ण से परतोपचार करना आधुनिक पद्धति है। इस हेतु समीचीन परतोपचारक दाव यन्त्र की आवश्यकता होती है।

7.3.8 पूर्ण पृष्ठ पर्णन चिकित्सा – पाण्डुलिपि कागज के तड़कने की स्थिति में पूर्ण पृष्ठ पर्णन चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है। पाण्डुलिपि एक ओर लिखी हो तो उसके पश्च भाग पर पूरे पृष्ठ का पर्णन किया जाता है। पाण्डुलिपि पर्णन से पूर्व पश्च भाग को साफ किया जाता है। यदि उस पर चिप्पियां चिपकी हो तो उन्हें भी छुड़ा दिया जाता है।

7.3.9 शिफन चिकित्सा – शिफन एक उच्च कोटि के पारदर्शी सिल्क का गॉज होता है। जिसे पाण्डुलिपियों पर लगाया जाता है। इस चिकित्सा में सर्वप्रथम पाण्डुलिपि के पत्र को साफ किया जाता है। शिफन का टुकड़ा जो पाण्डुलिपि से चारों तरफ से कुछ बड़ा हो, फैला दिया जाता

है। इसके बाद ब्रुश से लई, जिसे बीचों बीच केन्द्र से शुरू कर चारों तरफ फैलाते हुये पूरे शिफन पर लगाया जाता है। इस पाण्डुलिपि को मोमी या तेल कागज सहित दूसरे मोमी या तेल कागज पर सावधानी से उलटना चाहिये। जिससे सलवटें न पड़े। पहले वाला तेल कागज जो अब ऊपर है। उसे धीरे–धीरे पाण्डुलिपि से अलग किया जाता है तथा पाण्डुलिपि के इस ओर भी शिफन का टुकड़ा बिछा कर उसी प्रकार से ब्रश से लई लगा दी जाती है। कुछ देर सूखने के पश्चात् दूसरा तैलीय या मोमी कागज ऊपर से रखकर दाब यन्त्र से दाब दिया जाता है। सम्पूर्ण प्रकार से सूख जाने पर पाण्डुलिपि को सावधानी से निकाला जाता है तथा बाहर निकले शिफन को कैंची से काट दिया जाता है।

7.3.10 टिश्यू चिकित्सा – यह चिकित्सा उन पाण्डुलिपियों के लिये उपयुक्त है, जो अधिक जीर्ण नहीं है, और जिनकी स्याही फीकी नहीं पड़ी है। इस चिकित्सा में सरेस रहित इमिटेशन जापनी टिश्यू कागज, जिसमें तैली या मोमी अंश न हो काम में आता है। तैली या मोमी कागज पर पाण्डुलिपि साफ करके लगायी जाती है उस पर पतला लेप डेक्सट्राइन किया जाता है। पाण्डुलिपि से कुछ बड़ा उपर्युक्त प्रकार का टिश्यू कागज लेकर पाण्डुलिपि पर फैला दिया जाता है, फिर भीगे कपड़े या रूई के फाये से इस कागज को पाण्डुलिपि पर दबा दिया जाता है। इसी प्रकार पाण्डुलिपि के दूसरी तरफ भी टिश्यू कागज लगाया जाता है। यदि डेक्सट्राइन पेस्ट न मिले तो स्टार्च या मैदा की पतली लेई से काम चलाया जा सकता है।

7.3.11 परतोपचार – परतोपचार के लिये एक यंत्र अपेक्षित होता है, यह दाब यन्त्र होता है। इस यंत्र से सेल्यूलोज एसीटेट फाइल की परत पाण्डुलिपि पत्र के दोनों ओर जड़ दिये जाते हैं। पाण्डुलिपि के पत्रों को और पुष्ट करने के लिये टिश्यू पेपर भी फाइल के साथ जड़ दिया जाता है।

7.3.12 पानी से भीगी पाण्डुलिपियों का उपचार – पानी से भीगी पाण्डुलिपियों को तुरन्त बाहर निकाल कर जितना पानी निचोड़ा जा सके, निचोड़ लिया जाता है और उन्हें अलग–अलग करके कमरे के अंदर बिजली के पंखे से नीचे रख दिया जाता है। इसके बाद प्रत्येक दो पन्नों के बीच में मोमी कागज का पन्ना लगा दिया जाता है। उन पाण्डुलिपियों को अच्छी तरह से दाब कर शेष पानी भी निकाल दिया जाता है। इन्हें दोबारा फिर सूखने के लिये दबाया जाता है। इनके सूख जाने पर इन्हें अच्छी तरह से दबाया जाता है।

रखरखाव सम्बन्धी इन समस्याओं का स्थूल विवरण दिया चुका है। इसके अतिरिक्त और भी समस्यायें हैं –. प्रथम है कागज को अम्ल रहित करना। कागज के भीतर कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो इसकी जीर्णता का कारण बनते हैं। कागज में अम्ल की अधिकता ही उसकी जीर्णता का कारण है।

7.3.13 अम्ल निवारण – डब्ल्यू. जे. बोरो ने अम्ल निवारण हेतु केल्सियम हाइड्रोक्साइड और कैल्सियम बाई कार्बोनेट के घोल को उपयुक्त बताया है। इस घोल से कागज को स्नान कराया जाता है, जिससे कागज की अम्लता दूर हो जाती है, और आगे भी अम्ल के प्रभाव से कागज की रक्षा हो जाती है।

7.3.14 ताड़पत्र एवं भोजपत्र का उपचार – कीड़े मकोड़ों से रक्षा के लिये नेथिलीन की गोलियों का कपूर का प्रयोग किया जाता है। तड़कने वाले ताड़पत्र एवं भोजपत्र का उपचार पहले कागज के लिये बताये शिफन उपचार की विधि से ही किया जाता है। ताड़पत्रों व भोजपत्रों पर धूल जम जाने से हुयी क्षति तथा स्याही पानी से प्रभावित न हो, इसके लिये ग्लिसरीन का घोल

बनाकर उससे रूई के फाये से सफाई की जाती है। यह सफाई कार्बनटेट्राक्लोराइड या ऐसीटोन से भी की जाती है। यदि ताड़पत्र या भोजपत्र चिपक जाये तो इन्हें तरल गरम पैराफीन में डुबोकर बड़ी सावधानी से एक–एक पत्र को अलग किया जाता है।

7.4 पाण्डुलिपि संग्रह के उपाय

पाण्डुलिपियों के संग्रह की समस्या बहुत गंभीर है ईसवीं सन् की पहली–दूसरी शताब्दी से पूर्व के पाण्डुलिपि ग्रंथ प्राप्त नहीं होते हैं। इसका प्रमुख कारण भारत पर विदेशी आक्रमणों का चक्र माना जा सकता है। ऐसे कितने ही आक्रांताओं ने भारत पर आक्रमण किया जिन्होंने मंदिरों, मठों, विहारों पुस्तकालयों नगरों व बाजारों को नष्ट व ध्वस्त कर दिया। भारत में भी कुछ ऐसे राजा हुये जिन्होंने कुछ इस प्रकार की गलतियाँ की। जैम्स टॉड (प्रसिद्ध इतिहासकार) ने अपनी एक पुस्तक 'पश्चिमी भारत की यात्रा' में राजा अजयपाल के संबंध में लिखा है कि "इसके शासन में सबसे पहला कार्य यह हुआ कि उसने अपने राज्य के सब मंदिरों को वे आस्तिक के हो अथवा नास्तिक के जैनों के हों अथवा ब्राह्मणों के नष्ट करवा दिया। समधर्मानुयायियों के मतभेदों और वैमनस्यों के कारण भी लाखों की क्षति पहुंची है। उदाहरणार्थ तपागच्छ और खरतर गच्छ नामक मुख्य पन्थों के आपसी कलह के कारण ही पुराने लेखों का नाश अधिक हुआ है और मुसलमानों द्वारा कम।" इस प्रकार ग्रन्थों और लेखों के नष्ट होने में साम्प्रदायिक विद्वेष का भी हाथ बहुत रहा है। यद्यपि अलाउद्दीन के आक्रमण का उल्लेख करते हुये टॉड ने लिखा है कि सब जानते हैं कि खून के प्यासे अल्ला (अलाउद्दीन) ने दीवारों को तोड़कर ही दम नहीं ले लिया था वरन् मंदिरों का बहुत सा माल नीवों में गड़वा दिया। महल खड़े किये और अपनी विजय के अंतिम चिह्न स्वरूप उन स्थलों पर गधों से हल चलवा दिया जहां मंदिर खड़े थे। परिणामस्वरूप इन स्थितियों के कारण ग्रंथों के रख–रखाव के साथ ग्रंथागारों व पोथी भंडारों को भी ऐसे रूप में बनाने की समस्या थी कि किसी आक्रमणकारी को आक्रमण करने का लालच ही न हो पाये। इसीलिये ये भंडार तहखाने में रखे गये।

टॉड ने बताया है कि "यह भण्डार नये नगर के उस भाग में तहखानों में स्थित हैं जिसको सही रूप में अण्हिलवाड़ा का नाम प्राप्त हुआ है। इस स्थिति के कारण ही यह अल्लाउद्दीन की गिद्ध–दृष्टि से बचकर रह गया अन्यथा तो इस प्राचीन आवास में सभी कुछ नष्ट कर दिया था।"

'जैन ग्रन्थ भण्डार्स इन राजस्थान' में डॉ. कासलीवाल ने भी लिखा है कि – "अत्यधिक असुरक्षा के कारण ग्रन्थ भण्डारों को सामान्य पहुंच से बाहर के स्थानों पर स्थापित किया गया। जैसलमेर में प्रसिद्ध जैन–भण्डार इसीलिये बनाया गया कि उधर रेगिस्तान में आक्रमण की कम सम्भावना थी। साथ ही मन्दिर में भूगर्भस्थ कक्ष बनाये जाते थे ओर आक्रमण के समय ग्रन्थों को इन तहखानों में पहुंचा दिया जाता था। सांगानेर, आमेर, नागौर, मौजमाबाद अजमेर, जैसलमेर, फतेहपुर दूनी, मालपुरा तथा कितने ही अन्य (जैन) मन्दिरों में आंज भी भूगर्भित कक्ष हैं, जिनमें ग्रंथ ही नहीं मूर्तियां भी रखी जाती हैं। आमेर में एक वृहद् भण्डार था जो भू–गर्भ कक्ष में ही था और अभी केवल तीस वर्ष पहले ही ऊपर लाया गया। जैसलमेर के प्रसिद्ध भण्डार का सम्पूर्ण अंश तहखाने में ही सुरक्षित था ऐसे तहखानों में ही ताड़पत्र की पुस्तकें तथा कागज की बहुमूल्य पुस्तकें रखी जाती थीं। लोग ऐसा विश्वास करते हें कि इससे भी बड़ा भण्डार जैसलमेर में भी भूगर्भस्थ–कक्ष में है।"

ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ दूर स्थानों पर पाण्डुलिपि ग्रन्थ रखे गये हें। ऐसा ही एशिया में तुनहाँड. स्थान है जो रेगिस्तान से घिरा हुआ है। यहां पर एक बन्द कमरे में हजारों पाण्डुलिपियाँ थीं एक बार नदी में बाढ़ आने पर उन पाण्डुलिपियों का पता चला तो पुरातत्त्व शास्त्रियों को हलचल मच गई। सर औरील स्टाइन ने उन पाण्डुलिपियों को जो संख्या में 7000 से अधिक थी खरीद कर ब्रिटिश म्यूजियम को भेज दिया। 'ट्रेजर्स ऑफ द ब्रिटिश म्यूजियम' में इसका विवरण दिया गया है।

आज हमें इसी प्रकार ध्यान देने की आवश्यकता है। कहीं किसी भी प्रकार के हस्तलिखित पत्र अथवा

ग्रन्थ जिन्हें नासमझी के कारण अथवा भाषान्तरण के कारण रद्दी समझ कर फेंक दिया जाता है उसमें महत्वपूर्ण जानकारी भी हो सकती है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि विदेशी आक्रमणों से बचाव के कारण उन ग्रंथों को सुरक्षित स्थानों पर रखा जाता था जो आक्रान्ताओं की पहुंच से बाहर हों।

पाण्डुलिपि संग्रहण के लिये आज के वैज्ञानिक युग में कई प्रकार की तकनकियाँ विकसित कर ली गई हैं, जिनसे पाण्डुलिपियों को सुरक्षित रखा जा सकता है।

जैसे वातानुकूलित तकनीकी के द्वारा पाण्डुलिपियों को धूल एवं वातावरण के कुप्रभावों से सुरक्षित रखा जा सकता है माइक्रोफिल्मिंग एवं कम्प्यूटराइजेशन आज के समय में पाण्डुलिपि संग्रहण के लिये सबसे उपयुक्त एवं विश्वसनीय पद्धति है। पाण्डुलिपि माइक्रोफिल्म के कई प्रकार की बड़ी परियोजनाओं पर इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र नई दिल्ली में तीव्रता से कार्य चल रहा है। माइक्रोफिल्म की इस परियोजना पर इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र नई दिल्ली ने लगभग 14 केन्द्रों में कार्य आरम्भ कर रखा है, उनमें सरस्वती भवन पुस्तकालय वाराणसी, भण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, ओरियेण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट एम.एस.एस. लाइब्रेरी, तिरुवन्तपुरम, गवर्नमेन्ट ओरियेण्टल एम.एस.एस. लाइब्रेरी मद्रास, महाराज सरफोजी सरस्वती महल लाइब्रेरी तंजौर, श्री शंकर मठ, काँचीपुरम, मौलाना आज़ाद अरेबिक एण्ड पर्शियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट, टोंक (राज.), साहित्य संस्थान राज. विद्यापीठ उदयपुर, राज. ओरियण्टेल रिसर्च इंस्टीट्यूट उदयपुर, अद्वैत आश्रम मायावती, पिथौरागढ़ यू.पी., पण्डित चन्द्रसिंह मैमोरियल लाइब्रेरी इम्फाल, वृन्दावन इन्स्टीट्यूट वृन्दावन (यू.पी.) एवं वैदिक संशोधन मंडल पूना है। राष्ट्रीय कला केन्द्र ने इन सभी केन्द्रों में रखी पाण्डुलिपियों के माइक्रोफिल्म कैटलॉग तैयार कर लिये हैं।

7.5 सारांश

इस इकाई में आपने जाना है कि पाण्डुलिपि का हमारे लिये कितना महत्व है और उसका रखरखाव कैसे सम्भव है? पाण्डुलिपि रक्षण में किन–किन कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। पाण्डुलिपि लेखन में कागज और ताड़ पत्र का प्रमुखता से प्रयोग किया जाता था। उनमें स्थिरता एवं मजबूती इस बात पर निर्भर करती थी कि उनमें किस प्रकार के पदार्थ प्रयोग में लिये गये हैं?

इस इकाई के 7.2 भाग में आपने जाना है कि पाण्डुलिपियों के रख–रखाव में किन–किन साधनों का प्रयोग किया जाता हैं। कौनसे तत्व पाण्डुलिपियों को प्रभावित करते हैं। कितने प्रकार के पाण्डुलिपियों के शत्रु हैं। कई प्रकार के शत्रु पाण्डुलिपियों को नुकसान पहुंचाते हैं। उनमें कीड़े–मकोड़े, कॉकरोच, दीमक, चूहे आदि प्रमुख हैं। जो पाण्डुलिपियों को लगभग नष्ट ही कर देते हैं।

इस इकाई के 7.3 भाग में पाण्डुलिपियों के रख रखाव में शत्रु के निवारण के लिये विभिन्न प्रकार की शत्रु चिकित्सा विधियों के बारे में आपने जाना जिनमें चौरस करना, पूर्ण पृष्ठ पर्णन, शिफन् चिकित्सा, टिश्यू कागज चिकित्सा, परतोपचार प्रमुख हैं। इस भाग में आपने यह भी जाना है कि पानी से भीगी पाण्डुलिपियों का उपचार कैसे किया जाता है। इस भाग में अम्ल निवारण की विधि के बारे में बताया गया कि अम्ल निवारण हेतु कैल्शियम हाइड्रॉक्साइड और कैल्शियम बाई कार्बोनेट के घोल का उपयोग किया जाता है। ताड़ पत्र एवं भोज पत्र का उपचार कैसे किया जाये? इस इकाई भाग में आपने यह भी जाना है।

इकाई भाग के 7.4 में पाण्डुलिपि संग्रह के उपायों के विषय में आपने जाना। इसके लिये आपने सबसे पहले ऐतिहासिक परिवेश का अवलोकन किया कि कैसे विदेशी आक्रमणों से बचकर पहले लोग पाण्डुलिपियों को गोपनीय स्थानों पर रखते थे। क्योंकि उस समय विदेशी आक्रमणकारी पाण्डुलिपियों को आग लगवा देते थे। आपसी वैमनस्य भी पाण्डुलिपियों की इस दशा के लिये जिम्मेदार रहा है। इन सारी स्थितियों से बचने के लिये पाण्डुलिपियों को एक ऐसे स्थान पर रखा जाता था जो सामान्यजन की पहुँच से बाहर हो।

आज के वैज्ञानिक युग में पाण्डुलिपि संगहण हेतु वैज्ञानिक तकनीकियों के बारे में भी आपने जाना। आज लगभग 14 केन्द्रों में माइक्रोफिल्मिंग एवं कम्प्यूटराइज़ेशन के द्वारा सूची पत्र तैयार किये जा रहे हैं। यह भी आपने इस इकाई में जाना।

7.6 बोध प्रश्न

1. लिखने के प्रमुख साधन कौन–कौनसे हैं? कौन से हैं?
2. पाण्डुलिपियों के नष्ट होने के कारण कौन–कौन से है?
3. कीड़े मकौड़े किस प्रकार पाण्डुलिपियों को नुकसान पहुंचाते हैं?
4. दीमक पाण्डुलिपियों के लिए कैसे हानिकारक हैं?
5. पाण्डुलिपियों की शत्रुओं से चिकित्सा हेतु कौन–कौनसी विधियों का प्रयोग किया जाता है?
6. चौरस विधि का पांच पंक्तियों में सार बताइये।
7. पानी से भीगी पाण्डुलिपियों का उपचार किस प्रकार से किया जाता है?
8. आज पाण्डुलिपि संग्रहण हेतु कौन–कौनसी दो तकनीकियों का प्रयोग किया जा रहा है?

7.7 उपयोगी पुस्तकें

1. रामगोपाल शर्मा ''दिनेश'', पाण्डुलिपि संपादन कला, दिल्ली, प्रभात प्रकाशन।
2. सत्येन्द्र, पाण्डुलिपि विज्ञान, जयपुर, राजस्थान ग्रन्थ अकादमी।
3. एस.एम. कत्रे, भारतीय पाठालोचन की भूमिका, भोपाल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

7.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. देखिए भाग–7.2
2. देखिए भाग–7.2
3. देखिए भाग–7.2
4. देखिए भाग–7.2
5. देखिए भाग–7.3
6. देखिए भाग–7.3
7. देखिए भाग–7.3
8. देखिए भाग–7.4

इकाई – 8

पाण्डुलिपि–कालनिर्णय एवं पाण्डुलिपि का बाह्य तथा आन्तरिक पक्ष

इकाई संरचना

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 पाण्डुलिपि विज्ञान

8.3 काल–निर्धारण

8.4 पाण्डुलिपि विज्ञान का बाह्य पक्ष एवं आन्तरिक पक्ष

8.5 सारांश

8.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.7 बोध प्रश्न

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.9 अभ्यास प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान पाएंगे कि –

1. पाण्डुलिपि विज्ञान क्या है?
2. समझ पाएंगे कि पाण्डुलिपि विज्ञान इसलिये विज्ञान है कि वह पाण्डुलिपि का अध्ययन किसी एक विशिष्ट पाण्डुलिपि को दृष्टि मे रखकर नहीं करता वरन् पाण्डुलिपि की यथा संभव प्राप्त समस्त प्रतियों को लेकर करता है।
3. इसके अतिरिक्त काल निर्धारण की जानकारी कर पाएंगे।
4. यह भी समझ पाएंगे कि पाण्डुलिपि विज्ञान का बाह्य एवं आन्तरिक पक्ष क्या है।

8.1 प्रस्तावना

मनुष्य अपनी आदिम अवस्था के वन्य स्वरूप को पार करके इतिहास और संस्कृति का निर्माण करता हुआ, लाखों वर्षों की जीवन–यात्रा सम्पन्न कर चुका है। वह अपनी इस यात्रा में चरण–चिन्ह छोड़ता आया है। इन चिन्हों में से कुछ आदिम अवस्था मे गुफाओं में निवास के स्मारक गुफा–चित्र हैं जो 3,00,000 वर्ष ई. पूर्व से मिलते हैं। इन चिन्हों में इनके अतिरिक्त भवनों के खण्डहर हैं, विशाल समाधियाँ हैं, देवस्थान हैं, अन्य उपकरण जैसे–बर्तन, मृद् भांड, मुद्राएं एवं मृण्मूर्तियां हैं, ईंटें हैं तथा अस्त्र– शस्त्र हैं । इनके साथ ही साथ शिलालेख हैं, ताम्रपट्ट हैं, भित्ति चित्र हैं। इन सबके द्वारा और सबमें से उस प्रागैतिहासिक मनुष्य का रूप ऐतिहासिक काल की भूमिका में उभरता है, जो प्रगति पथ की ओर चलता ही जा रहा है।

सभ्यता और संस्कृति के विकास में यह आदिम मनुष्य ऐसे मोड़ पर पहुँचता है कि वह एक ओर तो चित्र से लिपि की दिशा में बढ़ता है, दूसरी ओर भाषा का विकास कर लेता है। तब वह अपने विचारों को इस प्रकार लिख सकता है कि पढ़ने वाला जैसे स्वयं लिखने वाले के समक्ष खड़ा होकर लिपि की लकीरों से लेखक के मानस का साक्षात्कार कर रहा हो। अब सामान्यतः अपनी कल्पना से उसे लेखक के मानस

का निर्माण नहीं करना जैसे गुफा – निवासी के मानस का किया गया, वह मानस तो लेख से उसे लेखक ने ही खड़ा कर दिया है। इस लेखन के अनेक रूप हो सकते हैं, अनेक लिपियाँ हो सकती हैं, अनेक भाषाएं हो सकती हैं पर सबमें मनुष्य का मानस – व्यापार, उसके भाव–विचार, उसने जो देखा समझा उसका विवरण होता है। वस्तुतः लेख में ही मनुष्य का प्रतिबिम्ब मिलता है। ये सभी चित्र से लेकर लिपि–लेखन तक पाण्डुलिपि के अन्तर्गत माने जा सकते हैं।

8.2 पाण्डुलिपि विज्ञान

लेखक जब ग्रन्थ रचना करता है तब वह अपना लिपिक अर्थात् लिपिकार भी होता है क्योंकि वह स्वयं लिखकर ग्रन्थ प्रस्तुत करता है। लेखक के अपने हाथ से लिखे ग्रन्थ का अपने आप में ऐतिहासिक महत्त्व है। ग्रन्थ रचयिता कितना ही विद्वान् और पण्डित हो जब ग्रन्थ रचना करता है अपने विचारों और विषयों को लिपिबद्ध करता है तो कितनी ही समस्याओं को जन्म देता है। ये प्रायः वे ही समस्याएं होती हैं जो सामान्य लिपिकार पैदा करता जाता है और ऐसी अनेक प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिये पाण्डुलिपि विज्ञान की अपेक्षा है।

हमने यह देखा कि पाण्डुलिपि से सम्बन्धित कई पक्ष हमारे सामने आते हैं जैसे–1. ग्रन्थ लेखन एवं रचना विषयक पक्ष 2. लिपिकार सम्बन्धी पक्ष 3. भाषा विषयक पक्ष 4. ग्रन्थ गत चर्चा सम्बन्धी पक्ष 5. स्याहीं एवं लेखनी का निर्माण एक पृथक् अध्ययन का विषय है। इसके बाद ग्रन्थ की प्रतिलिपि का पक्ष आता है। प्रतिलिपि की अपनी कला है। इस पक्ष का अपना महत्व है। इन प्राचीन् प्रतियों को लेकर उनके आधार पर ग्रन्थ का सम्पादन करना तथा एक आदर्श पाठ प्रस्तुत करना एक अलग पक्ष है इसका एक अलग ही 'पाठालोचन विज्ञान, अस्तित्व में आ चुका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक पाण्डुलिपि में कितनी ही बातें होती हैं और उनमें से अनेक का एक अलग विज्ञान है पर उनमें से कोई भी अलग–अलग पाण्डुलिपि नहीं है न लिपि मात्र पाण्डुलिपि है और न उसमें लिखी भाषा और अंक, न चित्र, न स्याही और न कागज, न शब्दार्थ, न उसमें लिखा हुआ ज्ञान विज्ञान का विषय, पाण्डुलिपि तो इन सबसे मिलकर बनती है, साथ ही इन सबसे भिन्न है। लेकिन इन सबके ज्ञान–विज्ञान से पाण्डुलिपि के विज्ञान को हृदयंगम करने में सहायता मिल सकती है। उसके ज्ञान के लिये ये विज्ञान सहायक हो सकते हैं।

पाण्डुलिपि विज्ञान इसलिये विज्ञान है कि वह पाण्डुलिपि का अध्ययन किसी एक विशिष्ट पाण्डुलिपि को दृष्टि में रखकर नहीं करता वरन् पाण्डुलिपि के सामान्य रूप को ही लेता है। पाण्डुलिपि शब्द से कोई विशेष पुस्तक सामने नहीं आती। प्रत्येक प्रकार की पाण्डुलिपियों में कुछ सामान्य लक्षण ऐसे होते हैं कि उनसे युक्त सभी ग्रन्थ पाण्डुलिपि कहे जाते हैं। पाण्डुलिपि शब्द के अन्तर्गत समग्र पाण्डुलिपियाँ सामान्य रूप में अभिहित होती हैं जो लिखी गयी हैं, लिखी जा रही हैं या लिखी जाएंगी। यह विज्ञान उन सभी को दृष्टि में रख कर विचार करता है। इस दृष्टि से पाण्डुलिपिगत सामान्य विषयों का पाण्डुलिपि विज्ञान विश्लेषण करता है और विश्लेषित प्रत्येक अंग पर वैज्ञानिक दृष्टि से कार्य कारण परम्परा में बाँधकर सैद्धान्तिक विचार करता है। इनके आधार पर वह ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत करता है, जिनसे तत्सम्बन्धी विविध प्रश्नों और समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। पाण्डुलिपि विज्ञान पाण्डुलिपि से सम्बन्धित तीनों पक्षों से सम्बन्धित होता हैं, ये पक्ष हैं– लेखन पक्ष, पाण्डुलिपि का प्रस्तुतीकरण पक्ष जिसमें सभी प्रकार की पाण्डुलिपियाँ परिगणनीय हैं और तीसरा सम्प्रेषण पक्ष, जिसमें पाठक वर्ग सम्मिलित होता है, पाण्डुलिपि लेखक और पाठक इन दानों पक्षों के लिये सेतु या माध्यम है। अतएव पाण्डुलिपि के अपने पक्ष के साथ पाण्डुलिपि–विज्ञान इन दोनों पक्षों का पाण्डुलिपि के माध्यम से उस अंश का जिस अंश के कारण पाण्डुलिपि हस्तलेख में आती है वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करता है। यह विज्ञान पाण्डुलिपि के समग्र रूप के निर्माण में इन दोनों पक्षों के योगदान का भी मूल्यांकन करता है।

ग्रन्थ रचना की प्रक्रिया में मूल अभिप्राय है लेखक का यह प्रयत्न कि वह पाठक तक पहुँच सके और आज के पाठक तक ही नहीं दीर्घाति–दीर्घकालीन भविष्य के पाठकों तक पहुँच सके। लेखन क्रिया का

जन्म ही अपनी अभिव्यक्ति को भावी युगों तक सुरक्षित रखने के लिये हुआ है।

फलतः लेखन के परिणाम स्वरूप प्राप्त ग्रन्थ या पाण्डुलिपि लेखक के विचारों को सुरक्षित रख कर उसे पाठक तक पहुँचाते हैं। इस प्रकार पाण्डुलिपि एक सेतु या उपादान है जो काल की सीमाओं को लाँघ कर भी लेखक को पाठक से जोड़ता है। पाठक भी इन्हीं के माध्यम से लेखक के पास पहुँच सकता है।

लेखक का कथ्य भाषा में रूपान्तरित होकर लिपिबद्ध होकर लेखनी से लिप्यासन पर अंकित होकर पाण्डुलिपि का रूप ग्रहण कर पाठक के पास पहुँचता है। अब पाठक ग्रन्थ के लिप्यासन या लिपिबद्ध भाषा के माध्यम से लेखक के कथ्य तक पहुँचता है। लेखक और पाठक में कालगत और देशगत अन्तर है और यह अन्तर ग्रन्थ के द्वारा शून्य हो जाता है, तभी तो आज हजारों वर्ष पूर्व के काल को लाँघकर देशकाल के अन्तराल को मिटाकर हम लेखक से मिल सकते हैं । फिर भी लेखक से पाठक तक या पाठक से लेखक तक की इस यात्रा में समस्याएं खड़ी होती हैं। उनके समाधान का महत्त्वपूर्ण साधन पाण्डुलिपि है। इसी महत्त्वपूर्ण साधन तक पहुँचने की दृष्टि से पाण्डुलिपि विज्ञान की उपादेयता सिद्ध होती है।

8.3 काल निर्धारण

पाण्डुलिपि प्राप्त होने पर पहली समस्या तो उसे पढ़ने की होती है । इसका अर्थ है लिपि का उद्घाटन फिर काल निर्धारण की समस्या आती है। काल की दृष्टि से पाण्डुलिपियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। (1) जिसमें काल संकेत दिया हुआ है। (2) जिनमे काल संकेत का पूर्णतः अभाव है। काल निर्धारण विषयक दो पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं – (1) राज्यारोहण के काल के आधार पर (2) नियमित संवत् के उल्लेख से। काल संकेत का पहला प्रकार हमें अशोक के शिलालेखों में मिलता है। वह इस रूप में है–

'द्वादसवसाभिसित्तेन मया इदं आजापितं' इसमें अशोक ने बताया है कि मैंने यह लेख अपने राज्याभिषेक के 12वें वर्ष में प्रकाशित कराया। अन्य लेखों में मया, मैंने के स्थान पर देवानांप्रिय या प्रियदर्शी आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु काल गणना अपने अभिषेक वर्ष से बतायी गयी है।

अतः काल संकेत का पहला प्रकार यह हुआ कि अभिलेख लिखाने वाला राजा काल गणना के लिये अपने राज्याभिषेक के वर्ष का उल्लेख कर देता है। इस प्रकार की वर्ष गणना को राज्याभिषेक वर्ष नाम दे सकते हैं।

जब काल संकेत दूसरी प्रणाली से दिया गया हो जिसमें किसी नियमित संवत् का निर्देश हो तो समस्या यह उपस्थित होती है कि उसे उस कालक्रम में किस प्रकार यथास्थान बिठाया जाय जिसका उपयोग हम वर्तमान समय में इतिहास में करते हैं। जैसे–अशोक के काल से पूर्व का लिखा जो एक शिलालेख अजमेर के बड़ली ग्राम में मिला उसमें वीराय भगवते पहली पंक्ति है और दूसरी पंक्ति **'चतुराशिति बसे'** है, जिसका अर्थ हुआ कि महावीर स्वामी के निर्वाण के 84वें वर्ष में। अब 84वें वर्ष का उल्लेख तो ऐसी घटना की ओर संकेत करता है जो एक प्रसिद्ध महापुरुष से जुड़ी हुई है, जिसके सम्बन्ध में उनके धर्म के अनुयायी जैन धर्मावलम्बियों ने निर्भ्रान्त रूप से महावीर संवत् या वीर निर्वाण संवत् की गणना सुरक्षित रखी है। जैन लेखक अपने ग्रन्थों में निर्वाण संवत् का उल्लेख करते रहे हैं। श्वेताम्बर जैन मेरुतुंग सूरि ने 'विचार श्रेणी' में बताया है कि 'महावीर संवत्' और विक्रम संवत् में 470 वर्षों का अन्तर आता है। इस गणना से महावीर संवत् का आरम्भ 527 ई. पू. में हुआ क्योंकि विक्रम संवत् का आरम्भ 57 ई.पू. में होता है और 470 वर्ष का अन्तर होने से 57 + 470 = 527 ई.पू. महावीर का निर्वाण संवत् हुआ। इस विधि से 3 संवतों का पारस्परिक समन्वय हमें प्राप्त हो जाता है। विक्रम संवत् का 'वीर निर्वाण' संवत् से और दोनों का परस्पर 'ई. सन्' से। यदि 'वीर निर्वाण' के वर्ष का ज्ञान संदिग्ध हो तो इस प्रकार का 'काल संकेत' किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकेगा यह स्थिति किसी छोटे और अज्ञात राज्यारोहण काल की हो सकती है क्योंकि उसे जानने के कोई पक्के प्रमाण हमारे पास नहीं है। वही स्थिति कुछ ऐसे कम प्रचलित अन्य संवतों के सम्बन्ध में भी हो सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि

किसी एक राजा के राज्यारोहण के संदर्भ से काल के संकेत से अधिक उपयोगी काल निर्धारण की दृष्टि से नियमित संवत् का उल्लेख होता है।

काल निर्धारण विषयक दो पद्धतियों का उल्लेख यहाँ हुआ। किन्तु कुछ लेख ऐसे भी होते हैं जिनमें न राज्यारोहण से वर्ष की गणना दी गयी हो, न नियमित संवत् का ही उल्लेख हो। ऐसी दशा में लेखों में संदर्भित समकालीन राजाओं का व्यक्तियों के आधार पर कालनिर्धारण किया जाता है, यथा अशोक के तेरहवें शिलालेख में अनेक समकालीन विदेशी शासकों के नाम आये है यदि उनकी तिथियां प्राप्त हों तो अशोक की तिथि पायी जा सकती है। यूनानी राजा अंतियोकास द्वितीय का उल्लेख है, इनकी तिथि ज्ञात है। ये ई.पू. 261–46 तक पश्चिमी एशिया के शासक थे। द्वितीय टालेमी का भी उल्लेख है जो उत्तरी अफ्रीका में ई.पू. 282–40 तक शासक था। इन समकालीन शासकों की तिथियों के आधार पर अशोक के राज्यारोहण का वर्ष ई.पू. 270 निकाला गया है।

काल संकेत की एक सामान्य पद्धति भी है। सामान्य पद्धति में संवत् अंकों में किन्तु अक्षरों में दिया जाएगा। 1726 को अक्षरों मे ''सत्रह सौ छब्बीस'' लिखा जाएगा। कहीं–कहीं पाण्डुलिपियों में संवत् को अक्षरों में देकर उसी के साथ अंकों में भी लिख दिया गया है, यथा ''सत्रह सौ छब्बीस 1726'' तिथि भी अंकों के अक्षरों द्वारा अर्थात ग्यारस (11)।

सामान्य रूप से संवत् और तिथि के साथ दिन का, महीने का और पक्ष का उल्लेख भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य वैशिष्ट्य कवि–कौशल माना जाएगा।

काल निर्धारण करने में यथार्थ कठिनाई तब आती है जब कोई काल संकेत रचना में न दिया गया हो। अधिकांश प्राचीन साहित्य में काल संकेत नहीं रहते। इस प्रकार की समस्या के लिये वर्ण्य–विषय में मिलने वाले उन संकेतो या उल्लेखों का सहारा लिया जाता है, जिनमें काल की ओर किसी भी प्रकार से इंगित करने की क्षमता होती है।

जहाँ किसी भी प्रकार के सन् संवत् का उल्लेख न हो वहाँ ऐसे लेखपत्रों या ग्रन्थ का काल निर्णय करने में जिन बातों का आश्रय लेना पड़ता है उनमें कुछ से है :

1. **बाह्य साक्ष्य :**
   - (क) बाह्य उल्लेख – अन्य कवियों द्वारा उल्लेख
   - (ख) अनुश्रुतियाँ : कवि विषयक लोक प्रचलित अनुश्रुतियाँ
   - (ग) ऐतिहासिक घटनाएं
   - (घ) सामाजिक परिस्थितियाँ
   - (ड) सांस्कृतिक उपादान
2. **अन्तरंग साक्ष्य :**
   - (क) अन्तरंग साक्ष्य का स्थूल पक्ष
     1. लिपि
     2. कागज–लिप्यासन
     3. स्याही
     4. लेखन पद्धति
     5. अलंकरण
     6. अन्य
   - (ख) अन्तरंग साक्ष्य : सूक्ष्म पक्ष
     1. विषय वस्तु से

2. ग्रन्थ में आये उल्लेखों से

क. ऐतिहासिक उल्लेख ख. कवियों–ग्रन्थकारों के उल्लेख ग. समय वर्णन घ. सांस्कृतिक बातें ड. सामाजिक परिवेश

3 भाषा वैशिष्ट्य से

क. व्याकरणगत

ख. शब्दगत

ग. मुहावरागत

3. **वैज्ञानिक**

(क) प्राप्ति–स्थान की भूमि का परीक्षण

(ख) वृक्ष परीक्षण

(ग) कोयले से आदि।

इस प्रकार हमने काल निर्धारण सम्बन्धी समस्या–समाधान के प्रयत्नों का संक्षेप में उल्लेख किया है यह उल्लेख भी संकेत रूप में ही है, केवल दिशा–निर्देशन के लिये।

वस्तुतः व्यक्तियों की प्रतिभा अपनी समस्याओं और कठिनाइयों के समाधान के लिये अपना रास्ता स्वयं निकालती हैं।

8.4 पाण्डुलिपि विज्ञान का बाह्य पक्ष एवं आन्तरिक पक्ष

पाण्डुलिपि के बाह्य पक्ष की जाँच–पड़ताल मुख्य रूप से जिन तथ्यों के सन्दर्भ में की जाती है, उसके दो पहलू होते हैं –

पहला पहलू पुस्तक के सामान्य रूप–रंग विषयक सूचना से सम्बन्धित होता है। पुस्तक देखने में सुन्दर है, अच्छी है, गन्दी है, बुरी है, मटमैली है, जर्जर है, जीर्ण–शीर्ण है आदि। या भारी भरकम है, मोटी है, पतली है। वस्तुतः इस रूप में पुस्तक का विवरण कोई अर्थ नहीं रखता, उपयोगी भी नहीं है। हाँ यदि सुन्दर है या गन्दी है न लिखकर उसके बाह्य रूप–रंग का परिचय दे दिया जाय तो उसे ठीक माना जा सकता है, यथा–ग्रन्थ का कागज गल गया है, उस पर स्याही के धब्बे हैं, चिकनाई के धब्बे हैं, कीड़े–मकोड़ों ने, दीमक ने जहाँ–तहाँ खा लिया है, पानी मे भीगने से पुस्तक लिद्धड़ हो गई है आदि।

पुस्तक के रूप का दूसरा पहलू है, 'आकार–सम्बन्धी'। यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, और सभी विवरणो में इसका उल्लेख रहता है। इसमें ये बातें दी जाती है :

(क) पुस्तक का प्रकार : आजकल प्रकारों के जो नाम–विशेष प्रचलित हैं, वे डॉ0 माहेश्वरी ने अपने ग्रन्थ में दिए हैं, वे निम्नलिखित हैं :

1. पोथी– प्रायः बीच से सिली, आकार में बड़ी।
2. गुटका – पोथी की भाँति, पर छोटा 6 x 4.5 इंच के लगभग
3. बहीनुमा पुस्तिका – 21 x 4.25 इंच अधिक लम्बी भी होती है।
4. पुस्तिका : आकार 7.7 x 5.25 इंच के लगभग।
5. पोथा।
6. पत्रा (खुले पत्रों या पन्नों का)
7. पानावली

(ख) पुस्तक का कागज या लिप्यासन : सामान्यतः लिप्यासन के दो स्थूल भेद किये गये हैं : (1) कठोर लिप्यासन–मिट्टी की ईटें शिलाऐं, धातुएँ आदि इस वर्ग में आती है। चर्म, पत्र छाल,

वस्त्र, कागज आदि (2) कोमल माने जाते हैं। मिट्टी की ईंटें, शिला, धातु, चर्म, छाल, वस्त्र आदि के प्रकारों को तो 'जनक' कह सकते हैं। क्योंकि इनसे लिप्यासन जन्म लेते हैं। इनमें इनका प्रकृत रूप विद्यमान रहता है। उधर कागज पूरी तरह 'जनित' या मानव निर्मित है। यह विविध वस्तुओं से बनाया जाता है। कागज के भी कितने ही प्रकार होते हैं : यथा देशी कागज, सामान्य मोटा, पतला, कुछ मोटा, मशीनी और ये विविध रंगो के– श्रूरा, बादामी, पीला, नीला आदि। इस सम्बन्ध में मुनि पुण्यविजय जी ने जो उल्लेख किया है वह ध्यातव्य है।

"कागज ने माटे आपणा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थामां कागद अने कद्गल शब्दों वपराअेला जोवा मां आवे छे। जेम आजकाल जुदा–जुदा देशों माँ नाना मोटा, झीणा जाड़ा, सारा नरसा आदि अनेक जातना कागलो बने छे तेम जून जमाना थी मांडी आज पर्यन्त आपणा देशना हरेक विभाग मां अर्थात् काश्मीर, दिल्ली, बिहारना, पटणा, शाहाबाद आदि जिल्ल्ओ, कानपुर, घोसुंडा (मेवाड), अहमदाबाद, खंभात, कागजपुरी (दौलताबाद पासे) आदि अनेक स्थलो मां पोत पोतानी खपत अने जरुरी आतना प्रमाण मां काश्मीरी, मुंगलीआ, अरवाल, साहेबखानी, अमदाबादी, खंभाती, शणीआ, दौलताबादी आदि जात जातनो कागलो बनता हता अने हतु पण घणे ठेकाणे बने छे, ते मॉथी जेजे ते सारा, टकाउ अने मॉफक लाने ते नो ओ पुस्तक लखवा माटे उपयोग करता"। इस पुस्तक में काश्मीरी कागज की बहुत प्रशंसा की है। यह कागज बहुत कोमल और मजबूत होता था। इस विवरण मे मेवाड़ के घोसुन्दा के कागज का उल्लेख है, वैसे जयपुर में सांगानेर का सांगानेरी कागज भी बहुत विख्यात रहा है।

तात्पर्य यह है कि जो हस्तलेख हाथ में आये उनके लिप्यासन की प्रकृति और प्रकार का ठीक–ठीक उल्लेख होना चाहिये।

(ख) 1– कागज के प्रकार के साथ कागज के सम्बन्ध में ही कुछ अन्य बातें और दी जाती हैं :

1. कागज का रंग स्वाभाविक है या काल–प्रभाव से अस्वाभाविक हो गया है।
2. क्या कागज कुरकुरा (Brittle) हो गया है?
3. कीडों–मकोडों या दीमकों या चूहों से खा लिया गया है? कहाँ–कहाँ कितना खाया गया? इससे ग्रन्थ के महत्व को क्या और कितनी क्षति पहुँची है।
4. समस्त पाण्डुलिपि मे क्या एक ही प्रकार का कागज है, या उसमें कई प्रकार के कागज हैं ?

इन अन्य बातों का अभिप्राय यह होता है कि कागज विषयक जो भी वैशिष्ट्य है वह विदित हो जाय।

(ख) 2– कागज से काल निर्धारण मे भी सहायता मिल सकती है । इस दृष्टि से भी टीप देनी चाहिये।

(ग) पत्रों की लम्बाई–चौड़ाई – यह लम्बाई–चौड़ाई इंचों में देने से सुविधा रहती है। अब तो सेंटीमीटर में देने का प्रचलन भी आरम्भ हो गया है।

पाण्डुलिपि का रूप विधान

(क) पंक्ति एवं अक्षर परिमाण – सबसे पहले लिपि का उल्लेख होना चाहिये। देवनागरी या अन्य? वह लिपि शुद्ध है या अशुद्ध ? पाण्डुलिपि के अन्तरंग रूप का यह एक पहलू है।

प्रत्येक पृष्ठ में पंक्तियों की गिनती दी जाती है, तथा प्रत्येक पंक्ति में अक्षर संख्या दी जाती है। इनकी औसत संख्या ही दी जाती है। इससे सम्पूर्ण ग्रन्थ की सामग्री का अक्षर परिमाण विदित हो जाता है।

संस्कृत ग्रन्थो में 'अनुष्टुप' को एक श्लोक की इकाई मानकर श्लोक संख्या दे दी जाती थी। इस सम्बन्ध मे 'भा.जै.श्र.सं.' अने लेखन कला' से यह उद्धरण यहाँ देना समीचीन होगा :

'..... अे ग्रन्थनी संख्या गणना माटे कोईपण साधुने अे नकल आपवामां आवती अने ते साधु बत्रीस अक्षरना अेक श्लोक ने हिसाबे आखा ग्रन्थना अक्षरो गणीने श्लोक संख्या नक्की करतो' बत्तीस अक्षर का एक अनुष्टुप छन्द होता है : एक चरण में 8 अक्षर, पूरे चार चरणों में 8 x 4 = 32 अक्षर। इस प्रकार गणना का मूलाधार अक्षर ही ठहरता है।

(ख) पत्रों की संख्या– पंक्ति एवं अक्षरों का विवरण देकर यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि पत्रों की पूर्ण संख्या भी दे दी जाये। पत्रों की संख्या के साथ यह भी देखना होगा कि

(क) पत्र–संख्या का क्रम ठीक है, कोई इधर–उधर तो नहीं हो गया है।

(ख) कोई पत्र या पन्ने कोरे छोडे गये हैं क्या ?

(ग) उन पर पृष्ठांक कैसे पड़े हुए हैं ?

(घ) पन्ने व्यवस्थित हैं और एक माप के हैं या अस्त व्यस्त और भिन्न–भिन्न मापों के हैं?

विशेष – 1. इसी के साथ यह बताना भी आवश्यक होता है कि लिखावट कैसी है – सुपाठ्य है,, सामान्य है या कुपाठ्य है कि पढ़ी ही नहीं जाती। सुपाठ्य है तो सुष्ठु भी है या नहीं।

2. यह भी बताना होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ में एक ही हाथ की लिखावट है या लिखावट भेद है। लिखावट मे भेद यह सिद्ध करता है कि ग्रन्थ विभिन्न हाथों से लिखा गया है।

(ग) अलंकरण– सज्जा एवं चित्र– सज्जा की दृष्टि से इन दोनों बातों की सूचना भी यहीं देनी होगी कि ग्रंथ अलंकरणयुक्त है या सचित्र है। अलंकरण केवल सुन्दरता बढ़ाने के लिये होते हैं, विषयों से उनका सम्बन्ध नहीं रहता। पशु–पक्षी, ज्यामितिक रेखांकन, लता–बेल एवं फल–फूल की आकृतियों से ग्रन्थ सजाये जातें है। अतः यह उल्लेख करना आवश्यक होगा कि सजावट की शैली कैसी है। सजावट के विविध अभिप्रायों या मोटिफों का युग–प्रवृत्ति से भी सम्बन्ध रहता है, अतः इनसे काल–निर्धारण में भी कुछ सहायता मिल सकती है। साथ ही, चित्रालंकरण से देश और युग की संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ सकंता है। यह सिद्ध है कि मध्ययुग में चित्रकला का स्वरूप ग्रन्थ–चित्रों (Miniatures) के द्वारा ही जान सकते हैं। जो भी हो, पहले अलंकरण से सजावट की स्थिति का ज्ञान कराया जाना चाहिये।

तब, ग्रन्थ चित्रों का परिचय भी अपेक्षित है। क्या चित्र पुस्तक के विषय के अनुकूल हैं, क्या वे विषय के ठीक स्थल पर दिये गए हैं ? वे संख्या में कितने हैं ? कला का स्तर कैसा है ?

यह बात ध्यान में रखने की है कि चित्र–सज्जा के कारण पुस्तक का मूल्य बढ जाता है। ग्रन्थ के चित्रों का भी मूल्य अलग से लगता है।

(आ) चित्रों की संख्या की ओर उसके कला–स्तर का उल्लेख करते हुए एक सम्भावना की ओर ध्यान देना अपेक्षित है। कितनी ही पुस्तकों के चित्रों में एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि चारों कोनों में से किसी एक में चतुर्भुज बनाकर एक व्यक्ति का रूपांकन कर दिया गया है। इस व्यक्ति का चित्र के मूल कथ्य से कोई भी सम्बन्ध नही बैठता। यह सिद्ध हो चुका है। यह चतुर्भुज मे अंकित चित्र कृतिकार का होता है। अतः विवरण मे यह सूचना भी देनी होगी कि पुस्तक में जो चित्र दिये गये हैं उनमे एक झरोखा सा बना कर पुस्तक–लेखक का चित्र भी अंकित मिलता है क्या ?

(ग) चित्रों मे विविध रंगों के विधान पर भी टीप रहनी चाहिये । हाशिये छोड़ने और हाशिये की रेखाओं की सजावट का भी उल्लेख करें।

(घ) स्याही या मषी

स्याही का भी विवरण दिया जाना चाहिये :

1. कच्ची स्याही में लिखा गया है या पक्की में ? एक ही स्याही में सम्पूर्ण ग्रन्थ पूरा हुआ है अथवा दो या दो से अधिक स्याहियों का उपयोग किया गया है? प्रायः काली और लाल स्याही का उपयोग होता है। लाल स्याही से दांयें बांये हाशिये की दो–दो रेखाएं खींची जाती है। यह भी देखने मे आया है कि ग्रन्थों में आरम्भ का नमोकार और ''अथ.....ग्रन्थ लिख्यते'' आदि शीर्षक लाल स्याही में लिखा जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक अध्याय के अन्त की पुष्पिका भी और ग्रन्थ–समाप्ति की पुष्पिकाएं लाल स्याही से लिखी जाती है। पूरा ग्रन्थ काली स्याही में, उसके शीर्षक और पुष्पिकाएं लाल स्याही में हों तो उसका उल्लेख भी विवरण में किया जाना उचित प्रतीत होता है। किन्हीं ग्रन्थों में ऐसे स्थलों पर लाल रंग फेर देते हैं, और उस पर काली स्याही से ही पुष्पिका आदि दी जाती हैं।

यह तो वे बातें हुई जो पाण्डुलिपि के रूप का बाह्य और अंतरंग रूप का ज्ञान कराती है।

अन्तरंग परिचय

इसके बाद विवरण या प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में कुछ और आन्तरिक परिचय भी देना होता है। यह अन्तरंग परिचय भी स्थूल ही होता है। इस परिचय में निम्नांकित बातें बताई जाती हैं :

(क) ग्रन्थकार या रचयिता का नाम –

रचयिता के सम्बन्ध में अन्य विवरण जो ग्रन्थ में उपलब्ध हो वह भी यहाँ देना चाहिये। यथा, निवास स्थान, वंश परिचय आदि।

(ख) रचनाकाल – इस विवरण में वही रचना–काल दिया जाएगा जो ग्रन्थकर्ता ने दिया है। यदि उसने रचना काल नहीं दिया हैं तो यही सूचना दी जानी चाहिये।

हां, यदि आपके पास ऐसे कुछ आधार हैं कि आप इस कृति के सम्भावित काल का अनुमान लगा सकते हैं तो अपने अनुमान को अनुमान के रूप में दे सकते हैं।

(ग) ग्रन्थ–रचना का उद्देश्य – यथा, ''बीकानेर के राठोडां री ख्यात, ग्रन्थ का निर्माण बीकानेर के महाराजा सिरदार सिंह के आदेश पर किया गया है।''

''इसी प्रकार ये उद्धेश्य भिन्न–भिन्न ग्रन्थों के भिन्न–भिन्न हो सकते हैं, यथा– 'राजाज्ञा से और सुफल प्राप्त्यर्थ विष्णुदास ने पाण्डव चरित्र' लिखा।

(घ) ग्रन्थ रचना का स्थान – यथा, 'गढ़ गोपाचल वैरिनि सालू'।

(ड.) यदि किसी के आश्रय में लिखा गया है तो आश्रयदाता का नाम – यथा, डींगरसिंह राउवर वीरा तथा आश्रयदाता का अन्य परिचय।

(च) भाषा विषयक अभिमत – यहां स्थूलतः यह बताना होगा कि संस्कृत, डिंगल, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगाली, गुजराती, ब्रज, अवधि, हिन्दी आदि विविध भाषाओं में से किस भाषा में ग्रंन्थ लिखा गया है। ग्रन्थ ओर भी कई भाषाओं में से किसी भी भाषा में लिखा हुआ हो सकता है।

(छ) भाषा का कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य ।

(ज) लिपि एवं लिपिकार का नाम

(झ) लिपिकार का कुछ और परिचय (ग्रन्थ में दी गई सामग्री के आधार पर)

1 किस गुरु–परम्परा का शिष्य

2 माता–पिता तथा भाई आदि के नाम

3 लिपिकार के आश्रयदाता

4 प्रतिलिपि कराने का अभिप्राय :

क. किसी राजकुमार के पठनार्थ

ख. किसी अन्य के लिये पठनार्थ

ग. स्व–पठनार्थ

घ. आदेश–पालनार्थ

ड. शुभ फल प्राप्त्यर्थ

च. दानार्थ आदि–आदि

(ञ) लिपिकार के आश्रयदाता का परिचय

(ट) प्रतिलिपि का स्वामित्व

(ठ) प्रत्येक अध्याय के अन्त में भी पुष्पिका हो तो उसे भी उद्धृत कर देना चाहिये

5 अन्तरंग परिचय का आन्तरिक पक्ष –

(क) प्रतिपाद्य विषय का विवरण।

(ख) आरम्भ का अंश, कम से कम एक छन्द चार चरणों का तो देना ही चाहिये । यदि आरम्भ के अंश में कुछ और ज्ञातव्य सामग्री हो तो उसे भी उद्धृत कर दिया जाय, जैसे पुष्पिका। (यथावत उद्धृत करनी होती है)

(ग) आरम्भ में यदि पुष्पिका या कोलौफोन हो तो उसे भी उद्धृत करना होगा

(घ) मध्य भाग से भी कुछ अंश देना चाहिये । ये अंश ऐसे चुने जाने चाहिये कि उनसे कवि के कवित्व का आभास मिल सके।

(ड.) अन्त का अंश, इस अंश से अन्तिम पुष्पिका तथा उससे पूर्व का भी कुछ अंश दिया जाता है।

(च) परम्परागत फलश्रुति, लेखक की निर्दोषिता (जैसा देखा वैसा लिखा) तथा श्लोक या अक्षर की संख्या।

(छ) अन्य उल्लेखनीय बात या उद्धरण। यथा, प्राप्ति स्थान, एवं उस व्यक्ति का नाम जिसके यहाँ से ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है।

8.5 सारांश

पाण्डुलिपि शब्द के अन्तर्गत समग्र पाण्डुलिपियां सामान्य रूप में अभिहित होती हैं जो लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं या लिखी जाएंगी। यह विज्ञान उन सभी को दृष्टि में रखकर विचार करता है।

पाण्डुलिपि प्राप्त होने पर पहली समस्या उसे पढ़ने की होती है तो दूसरी काल–निर्धारण की। काल निर्धारण पर विस्तार से विचार किया जा चुका है तथा पाण्डुलिपि के बाह्य एवं आन्तरिक पक्ष का परीक्षण कैसे हो ? इसकी जानकारी भी विस्तार से दी गई है। पाण्डुलिपि लेखक एवं पाठक दन दोनों पक्षों के लिये सेतु या माध्यम है। अतएव पाण्डुलिपि के अपने पक्ष के साथ पाण्डुलिपि विज्ञान इन दोनों पक्षों का पाण्डुलिपि के माध्यम से उस अंश का जिस अंश के कारण पाण्डुलिपि हस्तलेख में आती है वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन करता है। यह विज्ञान पाण्डुलिपि के समग्र रूप के निर्माण में इन दोनों पक्षों के योगदान का भी मूल्यांकन करता है।

8.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. पाण्डुलिपि विज्ञान – डॉ. सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
2. पाठालोचन के सिद्धान्त – गोविन्दनाथ राजगुरु, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़
3. पाठालोचन के सिद्धान्त – श्री विनोद शास्त्री, ज्योतिष परिषद्, जयपुर

8.7 बोध प्रश्न

1. आदिम अवस्था में गुफाओं में निवास के स्मारक चित्र क्या कहे जाते है?
2. पाण्डुलिपि विज्ञान विज्ञान है, स्पष्ट कीजिये ।
3. काल की सीमाओं को लांघकर भी लेखक को पाठक से जोड़ने वाला कौन है?
4. पाण्डुलिपि विज्ञान से हमें क्या लाभ है ?
5. कालनिर्धारण विषयक दो पद्धतियां कौन–कौन सी है?
6. पाण्डुलिपि विज्ञान की उपादेयता किस दृष्टि से सिद्ध होती है ?
7. काल निर्णय करने के लिये बताये गऐ बाह्य साक्ष्यों में से कोई दो बिन्दु बताइये।
8. कालनिर्णय हेतु अन्तरंग साक्ष्य के स्थूल एवं सूक्ष्म पक्ष के दो–दो बिन्दू बताईये

   स्थूल पक्ष 1. .....
   2. .....

   सूक्ष्म पक्ष 1 .....
   2 .....
9. कश्मीरी कागज की क्या विशेषता है बताइये?
10. पुस्तक के कोई दो प्रकारों के नाम लिखिये ।

8.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. गुहाचित्र
2. देखिये 8.2
3. पाण्डुलिपि
4. देखिये 8.2
5. (i) राज्यारोहण के काल के आधार पर
   (ii) नियमित संवत् के उल्लेख से
6. देखिये 8.3
7. देखिये 8.3
8. देखिये 8.3
9. 1. कश्मीरी कागज बहुत कोमल और मजबूत होता था।
   2. देखिये 8.4
10. निबन्धात्मक प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं खोजें।

8.9 अभ्यास प्रश्न

1 पाण्डुलिपि विज्ञान से आप क्या समझते हैं?
2. पाण्डुलिपि के काल–निर्धारण सम्बन्धी पद्धतियां बताइये।
3. पाण्डुलिपि विज्ञान के बाह्य एवं आन्तरिक पक्ष के विषय में संक्षेप में बताइये।

इकाई–9

संस्कृत हस्तलेखों का पठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय लेखन चिह्नों का परिचय

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 पाण्डुलिपि लेखन की सामान्य प्रक्रिया

9.3 संस्कृत हस्तलेख के अध्ययन में आने वाली समस्याएं

9.4 लिपिगत भ्रान्ति (1) लेखक कृत (2) लिपिकर्ता कृत

9.5 लिपिगत व्यावहारिक समस्याएं

9.6 अन्य समस्याएं

9.7 अन्तर्राष्ट्रीय लेखन चिह्न

9.8 सारांश

9.9 बोध प्रश्न

9.10 उपयोगी ग्रन्थ

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

पाण्डुलिपि विज्ञान के अन्तर्गत पाण्डुलिपियों के अध्ययन, सम्पादन व प्रकाशन सम्बन्धी सभी तथ्यों का प्रतिपादन किया जाता है। प्राचीन हस्तलेख ही पाण्डुलिपि के नाम से जाने जाते हैं। इन हस्तलेखों को पढना कठिन काम है। इसमें कई प्रकार की समस्याएं हो सकती है। इन सबके बारे में जाने बिना इन्हें समझना सम्भव नहीं हो पाता। ये समस्याएं लिपि के कारण भी हो सकती हैं। लिपिकार के द्वारा कृत भी हो सकती है। इस इकाई में पाण्डुलिपि पठन में आने वाली समस्याओं की जानकारी प्राप्त करेंगे।

9.1 प्रस्तावना

हमारे प्राचीन ज्ञान विज्ञान को जानने का मूलाधार प्राचीन साहित्य है। प्रारम्भिक काल में ज्ञान विज्ञान श्रुति परम्परा से सुरक्षित रहा लेकिन लेखन के अविष्कार के साथ ही हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में इस ज्ञान भण्डार को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। राजाओं, साहित्य प्रेमियों व श्रेष्ठिवर्ग ने अपने अपने संरक्षण में इस तरह के ज्ञान भण्डार को सुरक्षित रखने में योगदान दिया साथ ही अपने काल के महत्त्वपूर्ण साहित्य भण्डार की कई प्रतिलिपियां बनवाकर उनका प्रचार प्रसार किया। कालक्रम के अनुसार इन ग्रन्थों में बाह्य विकृतियां तो आई हीं साथ ही समयानुसार भाषा लिपि आदि में भी बदलाव हो गया जिससे उन्हें समझ पाना मुश्किल हो गया। आज इन हस्तलेखों को पढना और इनके वास्तविक अर्थ तक पहुँचना सहज नहीं है। पाण्डुलिपि को समझने में आने वाली दिक्कतें स्वयं ग्रन्थकार द्वारा उत्पन्न की हुई हो सकती हैं या लिपिक द्वारा भी ये समस्याएं खड़ी की गई हो सकती है। भाषा व लिपि के स्वरूप में बदलाव भी इसका कारण है।

9.2 पाण्डुलिपि लेखन की सामान्य प्रक्रिया

हस्तलिखित ग्रन्थों के अध्येता को हस्तलिखित ग्रन्थ लेखन प्रक्रिया की विशेषताओं का ज्ञान होना चाहिए, इसके बिना ग्रन्थ को पढ पाना मुश्किल होता है। भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों में लेखकों द्वारा कुछ परम्पराओं का अनुसरण किया जाता है। जिनमें कुछ सामान्य विशेषताएं कही जा सकती हैं और कुछ विशेष।

सामान्य विशेषताएं

1. लेखन– दिशा
2. पंक्ति बद्धता, लिपि का माप
3. मिलित शब्दावली
4. विराम चिह्न
5. पृष्ठ संख्या
6. संशोधन
7. छूटे अंश
8. संकेताक्षर
9. अंक मुहर
10. लेखन द्वारा अंक प्रयोग

विशेष विशेषताएं

1. मंगल प्रतीक या मंगलाचरण
2. अलंकरण
3. नमोकार
4. स्वस्तिमुख
5. आशीर्वचन
6. प्रशस्ति
7. पुष्पिका, उपसंहार
8. वर्जना
9. लिपिकार प्रतिज्ञा
10. लेखन समाप्ति शुभ

1. सामान्य परम्पराएं

ये वे परम्पराएं हैं जो लेखन के सामान्य गुणों से सम्बन्धित हैं। यथा:

1. **लेखन दिशा**– लेखन की दिशा कई हो सकती हैं। 1. ऊपर से नीचे की ओर यथा चीनी लिपि। 2. दाहिनी से बाईं ओर यथा खरोष्ठी लिपि 3. बायें से दाहिनी ओर यथा ब्राह्मी 4. बायीं से दाहिनी ओर पुनः दाहिनी से बांयी ओर।
2. **पंक्तिबद्धता**– पहले भारतीय लिपियों में अक्षरों पर शिरोरेखा नहीं होती थीं। फिर भी, वे लेख पंक्ति में बांधकर अवश्य लिखे जाते थे। मौर्यकालीन शिलालेखों से ज्ञात होता है कि सभी अक्षर बाएँ से दाएँ सीधी पड़ी रेखाओं में लिखे गये हैं, मात्राएं मूलाक्षरों से ऊपर लगाई गई हैं। बाद में तो रेखाओं के चिह्न बनाकर या अन्य विधि से सीधी पंक्ति

में लिखने के सुन्दर प्रयास मिलते हैं। रेखापाटी या कम्बिका (रूल या पटरी) का उपयोग इसी लिए किया जाता है।

3. **मिलित शब्दावली**–आज हम जिस तरह शब्द प्रतिशब्द विभाजन व्यवस्था द्वारा बद्ध लेखन करते हैं, जिसमें एक शब्द अपने शब्दरूप में दूसरे से अलग बीच में कुछ अवकाश देकर लिखा जाता है, उस प्रकार प्राचीन काल में नहीं होता था, सभी शब्द एक दूसरे से मिलाकर लिखे जाते थे।

4. **विराम चिह्न**– मिलित शब्दावली की परम्परा में विरामचिह्नों पर भी ध्यान नहीं जाता। विराम चिह्न दण्ड या आड़ी लकीर के रूप में होता था। इसे कुछ वक्र (ɔ) करके भी लिख दिया जाता है।

5. **पृष्ठ संख्या**– हस्तलिखित ग्रन्थ में पृष्ठ के अंक या संख्या नहीं दी जाती है, केवल पन्ने के अंक दिए जाते हैं। यह संख्या पन्ने के पीठ वाले पृष्ठ पर डाली जाती थी, इसलिए उसे सांक पृष्ठ कहा जाता था, यों कुछ पुस्तके ऐसी भी हैं जिनमें पन्ने के पहले पृष्ठ पर ही अंक डाल दिए गए हैं। ये दांई ओर हाशिये में डाले जाते हैं।

6. **संशोधन**– संशोधन का एक पक्ष तो उन प्रमादों से सावधान करता है, जो लिपिकार से हो जाते हैं और पाठ भेद का कारण बनता है। दूसरे हस्तलिखित ग्रन्थ में लेखन की त्रुटि का संशोधन। ये त्रुटियां सौलह प्रकार की बताई गई हैं और इन्हे ठीक करने के लिए लिपिकार द्वारा एक चिह्न प्रणाली अपनायी जाती है। यथा बीच में पाठ जोड़ने के लिए V ∨ X चिह्न, अनुपयुक्त अक्षर के ऊपर चिह्न बना दिया जाता है शुद्ध अक्षर हाशिये में लिख दिया जाता है। उल्टी सुलटी लिखाई में पाठपरावृत्ति दर्शक चिह्न बना दिया जाता है यथा बनचर के स्थान पर वचनर तो इसे ठीक करने के लिए च पर 2 व न पर 1 लिख दिया जाता है। इस प्रकार विभिन्न संशोधन करने के लिए लेखक या लिपिकार कुछ चिह्नों का प्रयोग करता है जिन्हें समझना जरुरी है।

7. o अथवा √ स्वस्तिक का चिह्न बनाकर अस्पष्ट अर्थ वाले शब्दों को दर्शाया जाता है।

8. संकेताक्षर– बड़े शब्दों एवं बार बार आने वाले शब्दों के लिए संक्षिप्त शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यथा सम्वत्सर के लिए सं, संव. या सम्व शब्द का प्रयोग।

9. पाण्डुलिपियों में अंकलेखन के लिए प्रत्येक अंक के वाचक प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यथा एंक के लिए चन्द्र, सूर्य, छः के लिए रस आदि शब्दों का प्रयोग।

विशेष विशेषताएं

विशेष में ऐसी परम्पराएं आती हैं, जिनके साथ विशिष्ट भाव और धारणाएं संयुक्त रहती हैं, इनमें कुछ आनुष्ठानिक भाव, टोना या धार्मिक सन्दर्भ रहता है।

1. **मंगल प्रतीक**– मंगल प्रतीक या मंगलाचरण शिलालेख, लेख या ग्रन्थ लिखने से पूर्व मंगल चिह्न या प्रतीक जैसे स्वस्तिक, ऊँ, सिद्धम् आदि शब्दों का प्रयोग।

2. **नमस्कार**– मांगलिक शब्द प्रतीक के रूप में नमोकार लगा हो वह इन्वोकेशन या नमोकार ही है। सबसे प्राचीन नमोकार खारवेल के हाथी गुम्फा वाले अभिलेख में आता है।

3. **आशीर्वाचन या मंगल कामना**– यों तो मंगल कामना के बीज अशोक के शिलालेखों में भी मिल जाते हैं किन्तु ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दियों में मंगलकामना का रूप निखरा और यह विशेष लोकप्रिय होने लगी।

4. **प्रशस्ति**– किये गये कार्य की प्रशंसा और उसके शुभफल का उल्लेख प्रशस्ति में होता है, इसमें शुभ कार्य के कर्त्ता की प्रशस्ति भी गर्भित रहती है।

5. **वर्जना निन्दा शाप**– इसका अर्थ होता है किसी दुष्कृत्य की अवमानना या भर्त्सना, जिसे शाप के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है। इसे शिलालेख, अनुशासन या ग्रन्थ में लिखने का अभिप्राय यही होता था कि कोई उक्त दुष्कृत्य न करे जिससे वह शाप का भागी बन जाये।

6. **उपसंहारः पुष्पिका (Colophon)**– उपसंहार या समाप्ति की पुष्पिका में इन बातों का समावेश रहता था– 1. रचनाकार का नाम 2. रचना का या प्रतिलिपि का काल 3. स्वस्तिवचन 4. निमित्त 5.समर्पण जिसे ग्रन्थ समर्पित है 6. स्तुति 7. निन्दा 8. राजाज्ञा आदि।

इस प्रकार पाण्डुलिपि लेखन की इन विशेषताओं का ज्ञान किए बिना उसे पढ़ना मुश्किल व दुष्कर होता है।

9.3 संस्कृत हस्तलेख के अध्ययन में आने वाली समस्याएं

संस्कृत पाण्डुलिपियों के अध्ययन के लिए उनका प्रकार, स्वरूप व वैशिष्ट्य के बारे में जानना आवश्यक है। संस्कृत पाण्डुलिपियां विविध प्रकार के आसनों यथा धातु, कपड़ा, पत्थर, कागज आदि पर मिलती है। इनको पढ़ने के लिए इनके स्वरूप को जानना आवश्यक है। ये पाण्डुलिपियां राजकीय व लौकिक दो प्रकार की हो सकती है। राजकीय पाण्डुलिपियां, राज्यादेश, कार्यालयीय नत्थियां, चिट्ठी पत्री एवं ग्रन्थ रूप में होती हैं। लौकिक या निजी रूप से पाण्डुलिपियां ग्रन्थरूप में या अन्यान्य रूप में उपलब्ध होती हैं। अस्थाई सामग्री पर लिखी पाण्डुलिपियां जल्द ही नष्ट भ्रष्ट हो जाती हैं। कभी कभी नमी सें स्याही फैल जाती है या अक्षर धुंधले पड़ जाते हैं। कभी लिखावट समझ में नही आती तो कभी लिपि अलग होती है। ऐसे कई बिन्दु होते हैं जिनसे पाण्डुलिपि पठन में परेशानी आती है। ये समस्याएं जानबूझकर की गई भी हो सकती हैं, अनजाने में की गई भी।

9.4 लिपिगत भ्रान्ति (1) लेखक कृत (2) लिपिकर्ता कृत

पाण्डुलिपि के पढ़ने में सबसे अधिक समस्याएं लिपिगत होती हैं। कई बार लिपि ऐसी होती है कि पाठक को समझ नहीं आती या लेखक के अक्षरों की बनावट समझ नहीं आती या लिपिकर्ता लेखक द्वारा प्रयुक्त संकेतों को समझ नहीं पाता और अर्थ का अनर्थ कर बैठता है। कभी कभी लेखक स्वयं ही इस प्रकार लिखता है कि पढने में कठिनाई होती है। लिपिगत भ्रान्ति दो प्रकार की हो सकती है–1. लेखक कृत 2. लिपिकर्ता कृत।

1. लेखक कृत

रचना की मूल प्रति जिसे लेखक ने स्वयं लिखा है, लेखक कृत मानी जाती है। कभी कभी अक्षरों को सुन्दर बनाने के विचार से लेखक वर्णों को विशिष्ट ढंग से लिख देता है जिसे सहज समझ पाना मुश्किल होता है। लिखते लिखते बीच में कोई शब्द छूट जाता है तो उसे वहीं पास में चिह्न बनाकर लिख देता है और पाठक उस चिह्न को नहीं समझ पाता यही परेशानी का कारण बन जाता है। कभी कभी हस्ताक्षर सुपाठ्य नहीं होते इस कारण भी परेशानी खड़ी हो जाती है।

लेखक द्वारा जो भी विकृतियां की जाती है वे अनायास व उसकी लेखन शैली से सम्बद्ध होती हैं। ऐसे में सावधानी पूर्वक पढने पर इन्हे समझा जा सकता बशर्ते लिपि समझ में प्रचलित या परिचित हो।

2. लिपिकर्ता कृत

लिपिगत अधिकांश विकृतियां लिपिकार से सम्बद्ध होती हैं। किसी प्रति का महत्त्व उसमें लिखी रचना अथवा पाठ के कारण ही है। अतः पाण्डुलिपि के पढने या सम्पादन में जितनी भूलें सम्भव हो सकती हैं, उनका जानना भी आवश्यक है। सम्पादन में उनका निराकरण करना होता है। मुख्यतः पाठ सम्बन्धी भूलें कई प्रकार की हो सकती हैं।

1. **लिपिभ्रम या लिपि साम्य**– ड़ ड या थ य आदि वर्ण बनावट में काफी मिलते **जुलते होते हैं** और इसी कारण लिपिक कई बार भूलवश य को थ या ड़ को ड ङ लिख जाता है और अर्थ का अनर्थ हो जाता है।
2. इसी प्रकार मिलते जुलते शब्दों में भी भ्रम उत्पन्न हो जाता है।
3. कई बार लिपिक लेखक द्वारा लिखे संकेत चिह्नों को नहीं समझ पाता और त्रुटि कर बैठता है।
4. पुरानी पाण्डुलिपियों में मिलाकर शब्द लिखने की परम्परा रही है लिपिक शब्द का ठीक से अन्वय नहीं कर पाता और कुछ का कुछ लिख देता है।
5. कई बार लिखते लिखते बीच में कार्यवश उठ जाने पर जब पुनः लिखने बैठता है तो पंक्ति, शब्द या पृष्ठ का पृष्ठ दुबारा लिख जाता है।
6. कई बार कोई ग्रन्थ जब लिपिक को कण्ठस्थ होता है तो बिना देखे लिखने के चक्कर में गलती कर बैठता है।
7. सुनकर लिखने पर भी गलती की सम्भावना बन जाती है।
8. हाशिये में आई पंक्ति या शब्द को सही जगह न लिखकर गलत जगह लिख देने से भी परेशानी हो सकती है।

9.5 लिपिगत व्यावहारिक समस्याएं

पाण्डुलिपि विज्ञान के अध्येता को आज विविध ग्रन्थागारों में उपलब्ध ग्रन्थों का उपयोग करना पड़ता है। इन ग्रन्थों में देवनागरी के ही कुछ अक्षरों के रूप मिलते हैं कि उन्हें पढना कठिन होता है। इनमें उ, ऊ, ओ औ छ ज झ आदि वर्ण हर क्षेत्रीय भाषाओं में अलग तरह से लिखे जाते हैं जिससे परेशानी हो जाती है। संयुक्त वर्णों यथा द्ध ड्ड ट्ट ट्ठ ड्ड क्ष आदि को बनावट के कारण कई बार समझने में परेशानी हो सकती है। वर्णमाला की भ्रान्ति पाँच प्रकार की हो सकती है–

1. विवादास्पद वर्ण
2. भ्रान्तवर्ण
3. प्रमाद से लिखे गये वर्ण
4. विशिष्ट वर्ण चिह्न, उनका प्रयोग करना अथवा न करना तथा
5. उदात्त अनुदात्त ध्वनि वर्ण।

1. विवादास्पद वर्ण

विवादास्पद वर्णों में अक्सर छ व थ की बनावट ऐसी होती है कि उनको समझना मुश्किल हो जाती है। इसी तरह र और द भी कई बार बनावट के कारण समझ नहीं आते। यही स्थिति ट, ठ, ढ, भ म, च व, घ ध, न त, प म, आदि का अन्तर समझना भी कभी कभी दुष्कर हो जाता है।

2. भ्रान्त वर्ण

1. कई बार न्त एवं त्र इस तरह लिखे होते हैं कि पढने पर कुछ का कुछ समझ में आता है।
2. हलन्त र के लिए दो अक्षर के बीच '–' चिह्न भी लिखा मिलता है। इससे भ्रम हो जाता है कि सम्भवतः दो अक्षरों को मिलाया गया है या इनके बीच कोई वर्ण छूट गया है। या इसके बाद शब्दसमूह या पंक्ति छूट गई है।

3. **प्रमाद में लिखे गये वर्ण** : प्रमाद में लिखे गए वर्णों में विवादास्पद व भ्रान्त दोनों ही प्रकार के वर्ण आते हैं।

4. राजस्थानी में 19 वी शताब्दी तक के ग्रन्थों में ख की जगह ष ही मिलता है जबकि संस्कृत में दोनों का प्रयोग होता है।

5. स्याही की अधिकता, पन्ने के फटने और स्याही के फैलने एवं लिखे हुए पर लिखने के कारण कुछ का कुछ पढ लिया जाता है।

6. क्ष को ष्य अथवा क्ष लिखा जाता है। ँ चन्द्रबिन्दु का प्रयोग नहीं होता।

7. विराम चिह्नों के लिए चार बातें देखने में आई हैं– कोमा का प्रयोग नहीं होता, केवल पूर्ण विराम होता है, पूर्ण विराम या तो 1 की भाँति लिखा जाता है अथवा : विसर्ग की तरह होता है या उसके लिए स्थान छोड़ दिया जाता है। : अक्षर से जुड़ता हुआ न होकर कुछ दूर लगाया जाता है।

9.6 अन्य समस्याएं

पाण्डुलिपि पठन में आने वाली अधिकांश समस्याएं लिपि एवं उसकी संरचना को नहीं समझ पाने के कारण होती हैं। प्राचीनकाल की कुछ लिपियों को समझ पाने में आज कई प्रकार की मुश्किले आती हैं। इसके साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का हस्तलेख व अक्षरों की बनावट पृथक् पृथक् होती है इससे भी कई प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। किसी भी पाण्डुलिपि को पढने में भ्रम के कई कारण हो सकते हैं।

1. प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में शब्दों को एकसाथ मिलाकर लिखने की प्रवृत्ति थी। और उन्हे अलग करने में जरा सी चूक से अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना बन जाती है।
2. संक्षिप्त रूपों की भ्रमात्मक व्याख्या के कारण भी पाण्डुलिपि को ठीक से पढने में कठिनाई होती है।
3. अक्षरों, शब्दों, वाक्यों का उलट फेर, वाक्यों, अनुभागों और पन्नों का स्थान परिवर्तन भी समस्या खड़ी करता है।
4. संस्कृत का प्राकृत या स्थानीय भाषा में गलत प्रतिलेखन तथा इसके प्रतिकूल स्थानीय भाषा या प्राकृत का संस्कृत में गलत प्रतिलेखन।
5. उच्चारण के अन्तर के कारण विकृति।
6. अंकों के प्रयोग का भ्रम।
7. व्यक्तिवाचक नामों का भ्रम।
8. पर्याय अथवा परिचित शब्दों को अपरिचित शब्दों से स्थानापन्न करना।
9. प्रक्षेप या अज्ञात भूलों को सुधारने का प्रयास।
10. भूलवश पाठ छूट जाने से भी परेशानी हो सकती है।
11. निकटवर्ती पाठ की पुनरावृत्ति होने से समस्या होती है।
12. हाशिए या पंक्तियों के बीच लिखे पाठ या टिप्पणी के मूल पाठ में सम्मिलित होने से भी भ्रम हो जाता है।
13. क्रम परिवर्तन से भी पाठ को समझने में समस्या होती है।
14. अनधिकृतरूप से पाठ में सुधार का प्रयास करने से भी मूलपाठ को समझने में परेशानी हो सकती है।

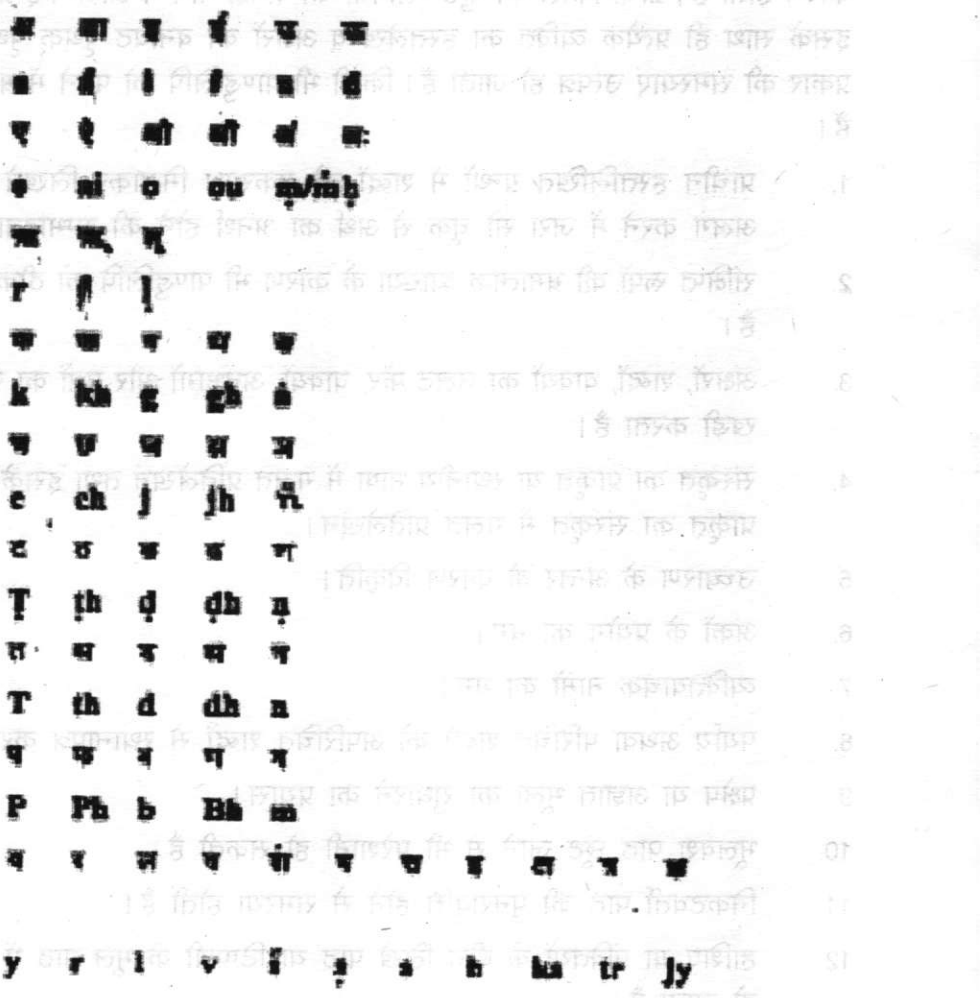
15. कभी कभी किसी रचना की ख्याति देखकर अपने सम्प्रदाय विशेष को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से सम्प्रदाय के सिद्धान्त विषयक कुछ छन्द अपनी ओर से बनाकर डाल देते हैं, पाण्डुलिपि के अध्येता के लिए इन्हें पकड़ना मुश्किल होता है।

इस प्रकार पाण्डुलिपि के पठन में कई समस्याएं आती हैं जो लिपि व लिपिकर्ता के द्वारा उत्पन्न की गई होती हैं।

9.7 अन्तर्राष्ट्रीय लेखन चिह्न

लिपियों की विविधता एवं दुर्गमता के कारण प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का अध्ययन एवं पठन एक दुष्कर कार्य बन गया है। इस कारण एक अन्तर्राष्ट्रीय लिपि की आवश्यकता अनुभव हुई, जिससे सभी के लिए लिपि को समझना सुगम हो सके। जिन्हें देवनागरी लिपि नहीं आती उनको भी अन्तर्राष्ट्रीय लिपि चिह्नों के माध्यम से देवनागरी लिपि में लिखित पाण्डुलिपियों को समझने में सुगमता होती है और सभी भाषाभाषी उसे पढ सकते हैं। ये चिह्न इस प्रकार है।

अन्तर्राष्ट्रीय लिपि चिह्न



सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तरस्तथा।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

9.8 सारांश

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पाण्डुलिपि पठन एक दुष्कर विधा है और पाण्डुलिपियों की प्रकृति, स्वरूप एवं लिपियों के इतिहास व वैशिष्ट्य को समझे बिना पाण्डुलिपियों का अध्ययन कठिन कार्य है। इस दृष्टि से शोधार्थी को पाण्डुलिपि का स्वरूप ज्ञात होना चाहिए। साथ ही पाण्डुलिपियों की सामान्य विशेषताओं से भी उसे अवगत होना चाहिए। हर क्षेत्र एवं देश की भाषाओं एवं लिपियों का सामान्य परिचय पाण्डुलिपि के अध्येता को होना चाहिए।

9.9 बोध प्रश्न

1. पाण्डुलिपि रचना की सामान्य प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।
2. पाण्डुलिपि की सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. पाण्डुलिपि की विशिष्ट वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालिए।
4. लिपिगत भ्रान्ति किस प्रकार होती है?
5. लिपिगत व्यावहारिक समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
6. पाण्डुलिपि पठन में होने वाली समस्याओं पर प्रकाश डालिए।
7. अन्तर्राष्ट्रीय लिपिचिह्न क्या है? स्पष्ट कीजिए।
8. निम्नांकित पद्य को अन्तर्राष्ट्रीय लिपि में लिखिए–

   सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तरस्तथा।

   वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

9.10 उपयोगी ग्रन्थ

1. अनुसन्धान प्रक्रिया एवं पाठालोचन– डॉ. विनोद शास्त्री एवं डॉ. शालिनी सक्सेना, राजस्थान ज्योतिष परिषद् एवं शोध संस्थान, जयपुर 2007।
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर,1989।
3. पाठ सम्पादन के सिद्धान्त डॉ. कन्हैया सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006।

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 9.2
2. इकाई 9.2
3. इकाई 9.2
4. इकाई 9.4
5. इकाई 9.5
6. इकाई 9.6
7. इकाई 9.7

इकाई–10

पाठालोचन– प्रक्रिया, सम्पादन, अर्थ समस्या, पाठ चयन तथा पाठ सुधार

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 पाठालोचन प्रक्रिया

10.3 पाठ सम्पादन एवं अर्थ समस्या

10.4 विषय विभाजन

10.4.1 पाठ चयन

10.4.2 पाठ सुधार

10.5 निष्कर्ष

10.6 बोध प्रश्न

10.7 उपयोगी पुस्तकें

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायक रहा है। इनके सम्पादन के लिए पाठालोचन की प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। इस इकाई का उद्देश्य पाठालोचन की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हुए उसके विभिन्न सोपानों का ज्ञान प्राप्त करना है। इस इकाई में आप निम्नलिखित विषयों का अध्ययन करेंगे।

- पाठालोचन की प्रक्रिया
- अर्थसमस्या
- पाठ चयन
- पाठ सुधार

इन बिन्दुओं के अध्ययन से आप पाठालोचन की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

10.1 प्रस्तावना

लेखन कला के आविष्कार के बाद लेखक की कृति संवहनीय हो गई और उसका संरक्षण आसान हो गया। कृतिकारों ने कभी अपने हाथ से अपना ग्रन्थ लिखा और कभी बोलकर लिखवाया। साहित्यिक, शैक्षिक और धार्मिक कारणों से अच्छे ग्रन्थों की माँग हुई होगी और इसी माँग के चलते ग्रन्थों की प्रतिलिपि और फिर प्रतिलिपि की प्रतिलिपि तैयार होती गयीं। इस कारण लेखकों का एक वर्ग तैयार हो गया जिनका कार्य ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ तैयार करके आजीविका कमाना हो गया। ऐसे लिपिक कभी तो विद्याव्यसनी, सुकवि और पण्डितजन होते थे और कभी साधारण अक्षरज्ञान सम्पन्न लोग भी। इनके द्वारा वांछित ग्रन्थों का प्रतिलिपियों के माध्यम से व्यापक प्रसार हुआ।

प्रतिलिपि निर्माण के क्रम में प्रमादवश भूलों का होना स्वाभाविक था और ऐसी भूलें हुईं भी। अगले

प्रतिलिपिकार ने अपने मूलाधार की भूलों को यथावत उतारा और उसने अपनी कुछ भूलों को अपनी प्रति में जोड़ दिया। कभी कभी जानबूझकर मूल प्रति में प्रक्षेप भी हुए। इन प्रक्षेपों में भी वृद्धि होती गयी। कालान्तर में जब लेखक की मूल प्रति नष्ट हो जाती और उसकी निकटवर्ती प्रतिलिपियाँ भी अनुपलब्ध होती तो प्राप्त प्रतियों में विद्यमान पाठ वैभिन्न्य के चलते मूल पाठ तक पहुँचना दुष्कर कार्य हो गया। इस स्थिति में मूल पाठ के अनुसन्धान की आवश्यकता महसूस हुई और कालान्तर में पाठानुसन्धान एवं पाठालोचन प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ।

किसी रचना की विभिन्न पाठों से युक्त प्रतिलिपियों के अध्ययन, अनुशीलन एवं निश्चित सिद्धान्तों के अनुगमन द्वारा उस रचना के मूलपाठ तक पहुँचने की प्रक्रिया को पाठ सम्पादन कहते हैं। पाठ से तात्पर्य उस लेख से है जो किसी ऐसी भाषा में लिपिबद्ध हो, जिसका अर्थ ज्ञात हो या ज्ञात हो सकता हो। पाठ सम्पादन या पाठालोचन उस बौद्धिक एवं शास्त्रीय विधि को कहते हैं जिससे पाठ के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए मूलपाठ का निर्धारण किया जाता है। पाठनिर्धारण की इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में कोई निश्चित और अन्तिम सिद्धान्त अथवा मानदण्ड का निर्धारण अत्यन्त कठिन है। विभिन्न भाषाओं की प्रकृति और विभिन्न देशों में पाठ की सुरक्षा के अपने तरीकों के अनुसार जो विशेष स्थितियां दृष्टिगत होती हैं, उनके अनुसार ये सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं। इस इकाई में पाठ सम्पादन के प्रचलित सिद्धान्तों का विवेचन अपेक्षित है।

10.2 पाठालोचन प्रक्रिया

प्राचीन कवियों एवं लेखकों की रचनाओं की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त पाठान्तरों में से रचयिता की मूल अथवा आदि रचना के पाठ को ढूंढकर प्रस्तुत करना पाठ सम्पादन कहा जाता है। पश्चिम के देशों में इस विषय का अध्ययन सूक्ष्मता के साथ हुआ और कुछ ऐसे सिद्धान्तों एवं विधियों का प्रतिपादन हुआ जिनके प्रयोग द्वारा प्राचीन लेखकों के मूल पाठ तक सुगमता तथा निश्चयात्मकता से पहुँचा जा सकता है। इन विधियों का प्रयोग यूरोपीय भाषाओं के सम्पादनों में हुआ और इनके परिणाम भी अच्छे हुए। संस्कृत में भी इस विधि का विनियोग हुआ।

पाठ सम्पादन की नवीन विधि सामने आने से पूर्व सम्पादन में सम्पादक की रुचि ही प्रमुख थी। एक प्रसंग में मिलने वाले अनेक पाठों में से एक पाठ को मूल पाठ मानने के लिए प्रायः लेखकों की रुचि ही कारण बनती थी। अब सम्पादन के सिद्धान्तों के अनुसार प्राप्त हस्तलेखों की विधिवत् परीक्षा करके उनमें प्राप्त होने वाली निश्चेष्ट विकृतियों अथवा अनजान में हो गई भूलों के आधार पर उनके प्रतिलिपि सम्बन्धी दोषों का निराकरण किया जाता है और प्रतियों का शाखाओं के अनुसार वर्गीकरण किया जाता है। इसके उपरान्त प्रत्येक शाखा के मूलादर्शों का पाठ तैयार करके उन मूलादर्शों के ऊपर पाठ सम्पादन के सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा रचना के मूल पाठ की शोध की जाती है। विधि के अनुसार तो सम्पादन का एक विशिष्ट शास्त्र है और उसके अनुरुप ही वह कार्य सम्पन्न होना चाहिए।

पाठ सम्पादन की विधि अत्यन्त तर्कपूर्ण है। इसमें कार्य– कारण सम्बन्ध की एक सुनिश्चितता के दर्शन हमें होते हैं। जैसे यदि दो हस्तलिखित प्रतियों में प्रथम हस्तलिखित प्रति की सम्पूर्ण निश्चेष्ट विकृतियां दूसरी प्रति में प्राप्त हों और दूसरी में कुछ ओर निश्चेष्ट विकृतियां हों जो प्रथम में न हों, तो पाठ सम्पादन के नियम के अनुसार निश्चित ही दूसरी प्रति प्रथम प्रति की प्रतिलिपि होगी। इसी प्रकार सम्पादन की इस विधि के अन्य नियमों में भी कार्यकारण सम्बन्ध सुनिश्चित होते हैं। इसलिए इस प्रक्रिया को हम वैज्ञानिक प्रक्रिया कहते हैं। वह वैज्ञानिक इसी अर्थ में कही जा सकती है कि इसमें निर्धारित नियमों के अनुगमन द्वारा निर्धारित निष्कर्षों पर पहुँचा जाता है। इस विज्ञान के नियमों की तुलना भौतिक विज्ञान आदि के नियमों से नहीं की जा सकती। पाठ विज्ञान के प्रत्येक निर्धारित नियम के साथ अपवाद लगे रहते हैं जो इसकी सार्वभौमिकता पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। वैसे इसमें भी शोधकार्य इसकी सीमा को विस्तृत करता रहता है। नवीन अनुभव इसके नवीन सिद्धान्तों की सृष्टि कर सकते हैं। यह आगमन

शैली का न होकर निगमन शैली का शास्त्र है।

पाठालोचन की एक सामान्य प्रणाली है। सम्पादक पुस्तक का सम्पादन करते समय जो प्रति उसे उपलब्ध हुई है, उसी पर निर्भर रहकर, अपने सम्पादित ग्रन्थ में वह उन दोषों को दूर कर देता है, जिन्हें वह दोष समझता है। इसे स्वेच्छया पाठ निर्धारण प्रणाली का नाम दे सकते हैं।

दूसरी प्रणाली को तुलनात्मक स्वेच्छया सम्पादनार्थ पाठ निर्धारण प्रणाली कह सकते हैं। सम्पादक को दो प्रतियां मिल गयीं और उसने दोनों की तुलना की दोनों में पाठ भेद मिला, तो जो उसे किसी भी कारण से कुछ अच्छा पाठ लगा, वह उसने मान लिया। ऐसे सम्पादनों में वह पाठान्तर देने की आवश्यकता नहीं समझता। हाँ, जहाँ वह देखता है कि उसे दोनों पाठ अच्छे लग रहे हैं वहाँ वह नीचे या मूल पाठ में ही कोष्ठकों में दूसरा पाठ भी दे देता है।

इसी प्रणाली का एक रूप यह भी मिलता है कि ऐसे विद्वान् को कई ग्रन्थ मिल गये तब भी पाठ निर्धारण का उसका सिद्धान्त तो वही रहता है कि स्वेच्छया जिस पाठ को ठीक समझता है, उसे मूल में दे देता है। इस स्वेच्छया पाठ निर्धारण में उसकी ज्ञान गरिमा का योगदान तो अवश्य रहता है, एक पाठ स्वेच्छया स्वीकार कर वह उसे ही प्रामाणिक घोषित करता है– इसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह कविविषयक अपने पाण्डित्य का सहारा लेता है, और कवि की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख करता है किन्तु यथार्थतः इस सम्पादन में पाठ के निर्धारण में वस्तुतः अपनी रुचि को ही महत्त्व देता है, फिर उसे ही कवि का पाठ मानकर वह उसे सिद्ध करने के लिए कवि के तत्सम्बन्धी वैशिष्ट्य को सिद्ध करता है। यदि एकाधिक प्रतियां मिलती है तो वह सर्वोत्तम पाठ को ग्रहण कर अन्य पाठ नीचे पादटिप्पणी में दे देता है।

वैज्ञानिक चरण में कई हस्तलेखों की तुलना की जाती है और तुलना के आधार पर प्रत्येक प्रति में मिलने वाली त्रुटियों में साम्य वैषम्य देखा जाता है। इसके परिणाम के आधार पर इन सभी हस्तलेखों का वंशवृक्ष तैयार किया जाता है और कृति का आदर्श पाठ या मूल पाठ निर्धारित किया जाता है।

यहाँ से वैज्ञानिक पाठालोचन का आरम्भ माना जा सकता है। किसी एक ग्रन्थ का पाठालोचन करने के लिए अपेक्षित है कि पहले उस ग्रन्थ की प्रकाशित तथा हस्तलिखित प्राप्त प्रतियां एकत्र कर ली जायें इसके बाद उनका अध्ययन कर उसकी विशेषताएं व पाठ सम्बन्धी जानकारियां एकत्र कर अन्य प्रतियों से उसकी तुलनाकर आदर्श पाठ तैयार कर लिया जाये। तुलना करते समय इन्हें कालक्रमानुसार सजा कर प्रत्येक ग्रन्थ को एक संकेत नाम देना होगा। ग्रन्थों के संकेत निर्धारित हो जाने पर उनमें से प्रत्येक के एक एक छन्द को क्रमशः एक एक कागज पर लिख लिया जाना चाहिये। प्रत्येक छन्द की प्रत्येक पंक्ति को भी क्रमांक दे देना चाहिये, तथा छन्द का भी क्रमांक देना चाहिये। इसके उपरान्त प्रत्येक पंक्ति की समस्त प्रतियों से तुलना कर पाठ भेद, पाठ लोप, पाठ आधिक्य व पाठ साम्यों को लिख लेना चाहिए। प्रामाणिक पाठ के निर्धारण में प्रतियों के प्रतिलिपि सम्बन्ध की महत्ता स्वयं सिद्ध है, क्योंकि इसी से हमें उन सीढियों का पता लग सकता है जिनके आधार पर मूल प्रामाणिक पाठ का अनुसन्धान किया जा सकता है। प्रक्षेप सम्बन्ध व पाठान्तर सम्बन्ध के आधार पर अधिक प्रामाणिक पाठ वाली प्रति का निर्धारण कर उसके पाठ को आधार मानकर पाठ सम्पादन के सिद्धान्त निर्धारित कर विभिन्न पाठान्तरों की तुलना करें और पाठ का निर्धारण करें।

यदि कम विकृत पाठ किसी प्राचीन पीढ़ी का है तो वह अतिविकृत बाद की पीढी से अधिक प्रामाणिक होगा। जो पाठ स्वतन्त्र पाठ परम्पराओं में समान मिलता है तो वह निसन्देह प्रामाणिक होगा। जो सब में समान न हो उसे दूसरी कोटि का प्रमाण मांना है और उसे अन्तरंग व बाह्य साक्ष्य के आधार पर प्रामाणित किया जाता है। इस प्रकार पाठ सम्पादन की वैज्ञानिक पद्धति का आश्रय लेकर अपेक्षाकृत प्रामाणिक पाठ तक पहुँचा जा सकता है।

10.3 पाठ सम्पादन एवं अर्थ समस्या

कुछ लोगों को यह भ्रम होता है कि पाठ सम्पादन की वैज्ञानिक प्रणाली में पाठ के शब्द का ही विचार होता है, अर्थ का नहीं किन्तु सत्य यह है कि वैज्ञानिक सरणि में पाठ चयन और पाठ सुधार दोनों ही दशाओं में लेखानुसंगति(शब्द) और विषयानुसंगति (अर्थ) पर पूरा पूरा बल दिया जाता है। निरर्थक पाठ तो पाठ भ्रष्टता का प्रथम प्रमाण माना जाता है पर उस निरर्थकता का कारण पाठ के अन्तर्गत ही ढूंढ कर उसका परिहार किया जाता है।

पाठ निर्णय के समय वैज्ञानिक पाठ शोधकर्ता उसके अर्थ के सम्बन्ध में पूर्ण जागरुक रहता हैं प्रतियों में प्राप्त पाठ और उनके अर्थ का समन्वय वैज्ञानिक सम्पादन का मेरुदण्ड है। वैज्ञानिक सम्पादन की विधि से पाठ चयन करते समय सम्पादक को दो संगतियों का ध्यान रखना आवश्यक होता है। पाठानुसंगति और अर्थानुसंगति। वैज्ञानिक विधि के प्रयोग के समय विभिन्न शाखाओं में प्राप्त होने वाले पाठों की समानता मात्र पर ही ध्यान नहीं देना होता, प्रत्युत पाठ की संगति के साथ उनकी अर्थ और प्रसंग आदि की दृष्टि से भी संगति होनी चाहिए।

किसी भी प्रकार प्रतियों के साक्ष्य पर सार्थक और प्रसंगानुकूल पाठ न मिलने पर सम्पादक पाठ सुधार करने को बाध्य होता है। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक पद्धति में सुधार के दो आधार माने जाते हैं।

1. अन्तरंग सम्भावनाए (Intrinsic Possibilities)
2. बहिरंग सम्भावनाएं (Extrinsic Possibilities)

बहिरंग सम्भावनाएं पाठ लेखन और पाठ विकृति सम्बन्धी सम्भावनाओं पर विचार करके विकृत पाठ के सुधार का निर्देश करती है और जहाँ इस प्रकार की कोई सम्भावना न हो, फिर भी पाठ अशुद्ध लगे वहाँ अन्तरंग सम्भावनाओं की दृष्टि से पाठसुधार किया जा सकता है।

पाठानुसन्धान पाठ के अर्थ पर ध्यान देता है पर मनमाने अर्थ के लिए पाठ को विकृत करने की स्वीकृति नहीं देता। इस सम्बन्ध में एक प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है कि यदि एक ही पाठ सभी प्रतियों में प्राप्त हो किन्तु वह अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ न हो तो पाठालोचन की विधि के अनुसार यदि मिलने वाले पाठ की भ्रष्टता का लेखन प्रमाद जनित आधार मिल जाए तो उसे सुधारा जा सकता है। यदि (इस स्थिति में) लेखन प्रमाद जनित कोई सम्भावना न मिले तो पाठालोचन की विधि के अनुसार उपलब्ध पाठ ही देना चाहिए सुधार करना ठीक नहीं है।

किसी भी कृति का पाठ उसका अर्थ प्राप्त करने के लिए ही किया जाता है, विकृत पाठ से अपेक्षित अर्थ नहीं पाया जा सकता और ऐसे अर्थ को प्रामाणिक भी नहीं माना जा सकता। पाठालोचन का महत्त्व ही इसी अर्थ के लिए है, पर यथार्थ यह है कि पाठालोचन प्रक्रिया में अर्थ का विशेष महत्त्व नहीं हो सकता, वह सहायक अवश्य है। शब्द के अर्थ का ज्ञान अध्ययन परिमाण सापेक्ष है। यदि क का ज्ञान बहुत सीमित है तो कभी कभी वह एक क्षेत्र के बहुप्रचलित शब्द का अर्थ भी नहीं जानेगा और अर्थ को दृष्टि में रखेगा तो अपने सीमित ज्ञान से त्रुटिपूर्ण संशोधन कर देगा। पाठालोचनकार शब्दों के समस्त अर्थों से परिचित होते हुए भी कृति कालीन अर्थ से परिचित हो, आवश्यक नहीं है। अतः पाठ विज्ञान से जो रूप निर्धारित हो उसे ही रखना चाहिए, क्योंकि ऐसा शब्द हो सकता है, जिसका अर्थ आगे ज्ञानवर्धन के साथ प्राप्त हो।

10.4 विषय विभाजन

पाठ सम्पादन का प्रमुख उद्देश्य किसी रचना के मूलपाठ को प्राप्त करना होता है। इस हेतु उसे जिस मार्ग से गुजरना होता है उसके चार सोपान प्रमुख हैं। सामग्री संग्रह, पाठ चयन, पाठ सुधार एवं उच्चतर आलोचना। मानव की स्वभावजनित भूलें प्रायः प्रत्येक देशवासियों में समान होती हैं, चाहे भाषा और लिपि के कारण उन भूलों के स्वरूप में अन्तर भले ही हो, परन्तु मूलभूत सिद्धान्तों में कम ही अन्तर पड़ता है।

हम 13 वीं ईकाई में इन सबका सामान्य स्वरूप समझ सकेंगे। यहाँ पाठ चयन व पाठ सुधार को विशेष रूप से प्रतिपादित किया जा रहा है।

10.4.1 पाठ चयन

यदि किसी रचना की बहुत सी हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हों और उनमें पाठ वैषम्य प्रभूत मात्रा में मिलता हो, तो पाठ सम्पादन की वास्तविक समस्या खड़ी होती है और उसके समाधान हेतु पाठ चयन की विधि का सहारा लेना पड़ता है। पाठ चयन मूल पाठ के पुनर्निर्माण की उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें प्रतियों के तुलनात्मक साक्ष्य के आधार पर पाठ ग्रहण किया जाता है। पोस्टगेट के अनुसार– पाठ चयन का एक सामान्य सिद्धान्त यह है कि सभी प्रतियों में समान रूप से प्राप्त होने वाला पाठ किसी समान उद्‌गम की ओर संकेत करता है। सम्भव है वह समान उद्‌गम रचयिता का स्वहस्तलेख ही हो।

रचना के मूल पाठ तक पहुँचने के लिए तो प्रायः कई शाखाओं की प्रतियों की आवश्यकता होती है। शाखा से तात्पर्य प्रतियों की परस्पर सम्बन्ध परम्परा से है जिसमें प्रतियां क्रमशः एक दूसरे की प्रतिलिपि होती हैं। जब एक विशिष्ट वर्ग की प्रतियां निर्भ्रान्त रूप से निश्चेष्ट विकृतियों में भी एकमत होती हैं तो वे एक परिवार या एक समूह, शाखा की प्रतियां कही जाती हैं। पाठ सम्पादक को उपलब्ध अनेक प्रतियों के शाखगत वर्गीकरण के लिए प्रतियों के परस्पर पाठ सम्बन्धों की छानबीन करनी पड़ती है। प्रतियों में पाये जाने वाले पाठ– सम्बन्ध प्रायः दो प्रकार के होते हैं– 1 मुख्य सम्बन्ध 2 संकीर्ण सम्बन्ध।

मुख्य सम्बन्ध से तात्पर्य उस सम्बन्ध से होता है जो लेखक की मूल प्रति से प्रवाहित होने के कारण उस रचना की सभी उपलब्ध प्रतियों में प्राप्त होता है। लेखक की मूल प्रति से इतर, अन्य व्यक्तियों– प्रतिलिपिकारों, प्रक्षेपकर्ता, सम्पादक या पाठक आदि द्वारा संशोधित या स्थापित पाठ से प्रसूत होकर कुछ प्रतियों में आए हुए पाठ का परस्पर सम्बन्ध संकीर्ण सम्बन्ध कहा जाता है। संकीर्ण सम्बन्ध का निर्धारण प्रमुख रूप से सचेष्ट विकृतियों के साम्य के आधार पर होता है। पाठ चयन के लिए स्वीकृत कुछ प्राचीन नियमों का विवेचन इस प्रकार है–

1. **पाठानुसंगति तथा अर्थानुसंगति**– पाठ चयन करते समय एक निर्धारित विधि से क्रमशः प्राप्त पाठ से अप्राप्त पाठ की ओर बढते हैं और इसी क्रम से धीरे धीरे रचयिता के मूल पाठ तक पहुँचते हैं। इस विधि के प्रयोग के समय विभिन्न शाखाओं में प्राप्त होने वाले पाठों की समानता मात्र का ही ध्यान नहीं देना होता है, प्रत्युत् उसकी पाठ संगति के साथ, उसकी संगति अर्थ एवं प्रसंग आदि की दृष्टि से भी ठीक बैठनी चाहिए।
2. **कठिनतर पाठ की स्वीकृति**– कात्रे महोदय के अनुसार जहाँ पर भिन्न–भिन्न शाखाओं में ही पाठ उपलब्ध हो, दोनों ही सार्थक एवं संगत प्रतीत हों तब उनमें से कठिन पाठ को सरल की अपेक्षा वरीयता देकर ग्रहण कर लेना चाहिए। कभी कभी भाषा पर प्राचीनता की कलई करने की चेष्टा प्रतिलिपिकारों के द्वारा भी की जाती है। जब अन्य दृष्टियों से किसी शाखा के नीचे की प्रतियों में पाठ कठिनतर मिलता हो तो सम्भावना इस बात की अधिक रहती है कि उसकी भाषा प्रतिलिपिकार के सचेष्ट प्रयत्न द्वारा कठिन हो गई हो सकती है। इस प्रकार कठिनतर होना ही मूल पाठ का प्रमाण नहीं है, प्रत्युत् यह एक सम्भावना मात्र है जिसके अपवाद भी हो सकते हैं।
3. **प्रतियों की संख्या का नहीं उनके मूल्य का महत्त्व**– अधिकतम प्रतियों में मिलने वाला पाठ आवश्यक रूप से मूल का पाठ नहीं हो सकता। विभिन्न शाखाओं की प्रतियों में समान मिलने वाले पाठों का तो मूल्य होता ही है, साथ ही विश्वसनीय प्रतियों में उपलब्ध पाठ अधिक मूल्यवान होता है। जिन प्रतियों में विकृतियां कम हुई हों तथा

प्रक्षेप की प्रवृत्ति कम देखी जाए वे प्रतियां विश्वसनीय प्रतियों की श्रेणी में आती हैं। किन्हीं प्रतियों को बिश्वसनीय मानने के पूर्व उनकी बार बार परीक्षा होनी चाहिए।

4. जो पाठ किसी रचना की प्राप्त प्रतियों की सभी शाखाओं और प्रत्येक शाखाओं की सभी प्रतियों में मिलते हैं, वे निश्चित रूप से मूल पाठ से प्रवाहित रहते हैं।

5. जो पाठ सभी शाखाओं में समान रूप से प्राप्त न हो रहे हों, उनमें से वे पाठ जो दो या दो से अधिक शाखाओं में समान रूप से प्राप्त हों, उनमें भी मूल पाठ होने की सम्भावना होती है और उन्हें मूल पाठ के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए। इस दशा में पाठ मिश्रण की सतर्कता हमेशा रखनी चाहिए।

6. जो पाठ सभी शाखाओं में भिन्न–भिन्न ढंग से मिलता हो और किसी भी शाखा की सभी प्रतियों का पाठ दूसरी शाखा की सभी प्रतियों के पाठ से न मिलता हो, पर एक शाखा की कुछ प्रतियां उस पाठ के सम्बन्ध में अन्य शाखा की कुछ प्रतियों के समान हों, तो इस समान पाठ के मूलपाठ होने की सम्भावना होती है। ऐसे समान पाठों को भी मिश्र पाठ की सम्भावना से बचते हुए, मूल पाठ में स्वीकार कर लेना चाहिए।

7. जो पाठ सभी शाखाओं में भिन्न–भिन्न मिलते हों, पर पाठानुसंगति से कुछ पाठ भ्रष्ट हो तो भ्रष्ट पाठ सब से पहले छोड़ दिये जाते हैं और शेष पाठों में से यदि एक शाखा का पाठ शुद्ध हो और पाठानुसंगत हो तो उसे अन्य भ्रष्ट पाठों की तुलना में ग्रहण कर लेना चाहिए।

8. जो पाठ सभी शाखाओं का विशेष पाठ हो ओर वह अन्य शाखाओं में प्राप्त न हो, वह प्रायः प्रक्षिप्त पाठ होता है।

9. प्रमाण के आधार पर स्वीकृत तथा प्रमाण के आधार पर अस्वीकृत पाठों के अतिरिक्त सन्दिग्ध पाठों की भी स्थिति पाठालोचक के सम्मुख आती हैं। ऐसी स्थिति प्रायः उन स्थलों पर आती है जहाँ पाठानुसंगति से तो पाठ प्रक्षिप्त प्रतीत हो, पर प्रसंग आदि की अनिवार्यता से वह मूल का प्रतीत हो।

10. ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि जितने भी पाठ विभिन्न शाखाओं की प्रतियों में मिलते हों, वे सभी भ्रष्ट हों। ऐसी दशा में उन पाठों का संशोधन पाठालोचक प्रस्तुत करता है।

इन मूल सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर पाठालोचक, अपने कार्य की आवश्यकतानुसार, अपने सिद्धान्त और मानदण्ड स्थापित करते चलते हैं, और उनके नित नवीन प्राप्त होने वाले अनुभव इस विषय की सीमा बढाते चलते हैं। संकीर्ण सम्बन्ध का निराकरण करते समय मिश्रपाठ की सम्भावनाओं से सदैव सतर्क रहना चाहिए। संकीर्ण सम्बन्ध जहाँ मूल या एक शाखा के मूलांश से चलने वाले मूल स्रोत के प्रवाह के साथ प्रतिलिपिकार की सचेष्ट या निश्चेष्ट भूलों के कारण उत्पन्न होते हैं, वहाँ मिश्रपाठ की प्रतियों में दो भिन्न शाखाओं के पाठ को मिलाकर प्रस्तुत करने के कारण संकीर्ण सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं। मिश्रपाठ के निराकरण के उपरान्त ही संकीर्ण सम्बन्धों की छानबीन उपयोगी है।

10.4.2 पाठ सुधार

पाठ चयन के पूर्व ही सामग्री की समग्र परीक्षा करने के उपरान्त पाठालोचक विभिन्न पाठों के सम्बन्ध में जिस निर्णय पर पहुँचता है, उसके चार सोपान हो सकते हैं–

1. पाठ की स्वीकृति।
2. पाठ के सम्बन्ध में सन्दिग्धता।
3. पाठ का त्याग।

4. पाठ सुधार :

पाठ सुधार प्रतिलिपि परम्परा में प्राप्त होने वाले सभी अविश्वसनीय तत्त्वों को दूर करने का प्रयास है। यह अन्तरंग और बहिरंग सम्भावनाओं पर आधृत होता है। इन सम्भावनाओं को क्रमशः लेखानुसंगति तथा पाठानुसंगति भी कहा जाता है। पाठ चयन में उन पाठों का ग्रहण होता है जो पाठ उपलब्ध पाठों में सबसे अधिक लेखानुसंगत और पाठानुसंगत हो, पर पाठ–सुधार में प्रस्तुत कल्पित पाठ को पूर्णतः इन दोनों संगतियों की कसोटी पर खरा उतरना चाहिए। इस कल्पना का औचित्य केवल सम्भावना से निश्चित या निश्चितता के निकट होने पर ही नहीं माना जा सकता, प्रत्युत इसका औचित्य कल्पित पाठ के सटीक और सर्वशुद्ध होने पर ही माना जाता है। डॉ. कात्रे ने पाठ सुधार की परिभाषा देते हुए कहा है कि पाठ सुधार शाब्दिक अर्थ में पाठ संशोधन नहीं होता जो प्रतियों में अर्थहीन या असन्तोषजनक अर्थयुक्त पाठों से उत्कृष्टतर अर्थ निकालने के लिए किया जाये, प्रत्युत यह परस्पर विरोधी पाठों को सहमति के एक बिन्दु पर मिलाने का एक काल्पनिक प्रयास होता है।

पाठ सुधार के सम्बन्ध में दो वर्ग अलग–अलग मत प्रस्तुत करते हैं। एक वर्ग के अनुसार पाठालोचक की कार्यसीमा पाठ चयन तक ही सीमित होनी चाहिए। इनकी दृष्टि में पाठ सुधार करना पाठालोचक का कार्य नहीं हैं क्योकि यदि पाठ सुधार करते हैं तो वह मूल रचयिता का न होकर पाठालोचक का पाठ होगा। चाहे पाठ भ्रष्ट ही हो हमें उसे ही प्रस्तुत करना चाहिए। जबकि दूसरे वर्ग के अनुसार भ्रष्ट एवं असंगत पाठ में सुधार किया जाना चाहिए। इसमें लेखानुसंगति व विषयानुसंगति का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। इन दोनों अतिवादी मार्गों का त्याग कर मध्यम मार्ग का अनुकरण करना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो पाठालोचक को पाठ सुधार से बचना चाहिए। उसे अपना कार्य पाठ चयन तक सीमित रखना चाहिए। जहाँ किसी पाठ का निर्णय पाठ चयन के अन्तर्गत न हो पाए वहाँ पर बहिरंग तथा अन्तरंग सम्भावनाओं से सम्मत पाठ सुधार प्रस्तुत किया जा सकता है। डॉ. सुकथणकर ने इस सम्बन्ध में अपनी मान्यता प्रकट करते हुए स्वयं कहा है कि मैने अच्छी हस्तलिखित प्रतियों के पाठ को त्याग करने और सुधारने में झिझक से काम लिया है। उपलब्ध पाठ की व्याख्या को पाठ सुधार पर आद्योपान्त वरीयता दी गई है।

10.5 निष्कर्ष

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाठालोचक को आलोच्य ग्रन्थ की उपलब्ध प्रतियों की विश्वसनीयता को जाँचकर सर्वाधिक विश्वसनीय प्रति के पाठ को मूल आधार मानते हुए अन्य प्रतियों के पाठ से तुलना कर लेखानुसंगति व विषयानुसंगति के आधार पर उपयुक्त पाठ का चयन करना चाहिए और पाठ सुधार से यथासम्भव बचना चाहिए। अत्यावश्यक होने पर ही पाठ सुधार किया जाना चाहिए और उसे भी विश्वसनीय व पाठानुसंगति व विषयानुसंगति के आधार पर ही संशोधित करना चाहिए। ऐसा करके ही हम मूल रचनाकार के साथ न्याय कर सकते हैं।

10.6 बोध प्रश्न

1. पाठालोचन प्रक्रिया को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
2. पाठ सम्पादन के विषय में अर्थ समस्या पर प्रकाश डालिए।
3. पाठ सम्पादन के सोपान कौन कोनसे हैं? पाठ चयन की प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।
4. पाठ सुधार विधि का प्रतिपादन कीजिए।

10.7 उपयोगी पुस्तकें

1. अनुसन्धान प्रक्रिया एवं पाठालोचन– डॉ. विनोद शास्त्री एवं डॉ. शालिनी सक्सेना, राजस्थान ज्योतिष परिषद् एवं शोध संस्थान, जयपुर 2007।
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर,1989।
3. पाठ सम्पादन के सिद्धान्त, डॉ. कन्हैया सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2006।

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई संख्या 10.2
2. इकाई संख्या 10.3
3. इकाई संख्या 10.4, 10.4.1
4. इकाई संख्या 10.4.2

इकाई–11

पाठालोचन–आवश्यकता, तथा उद्देश्य, विषय विस्तार, विषय विभाजन, आलोचना

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 परिभाषा

11.3 नाम की सार्थकता

11.4 पाठालोचन की आवश्यकता तथा उद्देश्य

11.5 विषय विस्तार

11.6 विषय विभाजन

11.7 आलोचना

11.8 सारांश

11.9 बोध–प्रश्न

11.10 उपयोगी पुस्तकें

11.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

11. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आप पाठालोचन का सामान्य अर्थ, परिभाषा आदि को जानते हुए उसकी आवश्यकता तथा उद्देश्य, विषय–विस्तार, विषय–विभाजन व आलोचना से सम्बन्धित जानकारी लेंगे।

11.1 प्रस्तावना

प्राचीनकाल में अधिकांशतः साहित्यिक रचनाएं अलिखित ही होती थीं। स्मरणशक्ति के सहारे वह ज्ञान पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमित होता रहता था।

जब यह लिपिबद्ध किया गया तबसे लिपिबद्ध लोकप्रिय ग्रन्थों की अनेक प्रतियाँ तैयार करने की प्रथा चल पड़ी और उन्हें राजपुस्तकालयों, धर्मसंस्थाओं आदि में सुव्यस्थित रखा जाने लगा। योग्य प्रसंगों पर उन्हें दान भी दिया जाता था। कहा भी गया है–

विप्राय पुस्तकं दत्वा धर्मशास्त्रस्य च द्विज।
पुराणस्य च यो दद्यात् स देवत्वमवाप्नुयात्।।

पद्मपुराण–उत्तरखण्ड, अ.117

प्राचीन काल में बहुत सा साहित्य एक ही नहीं अनेक लेखकों की कृति होता था। व्यास के नाम पर न जाने कितने पुराण मिलते हैं। वे किसी एक व्यास के नहीं अपितु अनेक व्यासों की रचना ही कहे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में समष्टि रचित साहित्य अधिक प्रचलित था। इसी कारण उनकी अन्य प्रतियों में कालानुसार परिवर्तन भी होते रहे हैं। लिपिक भी अपनी भाषा और विषय ज्ञान का आरोप मूल प्रति में करके उसे प्रायः भ्रष्ट करते रहे हैं।

समष्टि साहित्य के साथ व्यष्टि साहित्य (एक ही व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य) भी लिखा जाता रहा है।

स्मृति रक्षित साहित्य लिपिकारों द्वारा लिखा प्राप्त हो सकता है और लिपिबद्ध साहित्य लेखक द्वारा और लिपिकारों द्वारा लिखित प्राप्य है। लेखक द्वारा लिपिबद्ध रचना ही मूल ग्रन्थ कहलाती है उसकी नकल प्रति और प्रतिलिपियाँ कहलाती है। पाठालोचन का कार्य वहीं प्रारम्भ होता है जहाँ हमें कवि की मूलकृति उपलब्ध न होकर उसकी प्रतिलिपियाँ ही उपलब्ध होती है। प्रस्तुत इकाई में आप पाठालोचन के विषय में विस्तृत जानकारी ले सकेंगे।

11.2 पाठालोचन की परिभाषा

किसी रचना के विभिन्न पाठों से युक्त प्रतिलिपियों के अध्ययन, अनुशीलन एवं निश्चित सिद्धान्तों के अनुमान द्वारा उस रचना के मूल–पाठ तक पहुंचने की प्रक्रिया को पाठालोचन कहते हैं। मूल पाठ से तात्पर्य उस पाठ से है जो रचयिता का स्वहस्त लिखित हो।

पोस्ट गेट के अनुसार--

पाठालोचन शब्द का प्रयोग पाठ निर्धारण के लिए मानवीय बुद्धि द्वारा व्यवस्थित तथा कौशलपूर्ण बौद्धिक निर्णय के लिए होता है। पाठालोचन शास्त्रीय विधि को कहते हैं, जिससे पाठ के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए पाठ का निर्धारण किया जाता है।

जी.वी. ग्रे के अनुसार–

पाठ संपादन या आधारभूत आलोचना का कार्य यह है कि पाठ के अन्दर आयी हुई विकृतियों की पहचान करके यथासंभव मूल के निकटतम पहुंचने वाले पाठ का निर्धारण किया जाए।

डॉ. एस. एम. कात्रे के अनुसार–

रचना के मूल पाठ के स्वस्थ निर्धारण के प्रसंग में स्वीकृत, निपुण तथा विधि रहित प्रक्रिया का नाम पाठालोचन है। पाठ से हमारा तात्पर्य किसी भाषा में रचित ऐसे अर्थपूर्ण ग्रन्थ से है जो अन्वेषक को न्यूनाधिक रूप से ज्ञात है और जिसके विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा जा सकता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पाठालोचन का लक्ष्य मूल पाठ से भिन्नता, परिवर्तनों, भूलों, अभावों एवं लिपिकारों के प्रमाद के परिणाम को दूर करके उपलब्ध प्रतिलिपियों का यथासम्भव मूल पाण्डुलिपि के निकट लाना होता है।

11.3 नाम की सार्थकता

अंग्रेजी में इस विषय के लिए **Textual Criticism** शब्द का व्यवहार होता है तथा हिन्दी में पाठालोचन, पाठशोध, पाठानुसंधान, पाठ विज्ञान और पाठ संपादन आदि शब्द प्रचलित हैं।

श्री मूलचंद जैन से इसे संपादनशास्त्र नाम से कहा परन्तु यह नाम भी भ्रामक है। क्योंकि सम्पादन शब्द दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र–पत्रिकाओं के संपादन के लिए रूढ़ हो चुका है। इसलिए कहा है कि कहीं यह शब्द अंग्रेजी के जर्नलिज्म का पर्याय न बन जाए।

सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस शास्त्र के लिए तीन नाम प्रस्तुत किए 'पाठविज्ञान', 'पाठानुसंधान' तथा 'पाठालोचन'।

पाठविज्ञान शब्द ग्रन्थों के पाठ से सम्बन्धित होने के कारण विषय की ओर सीधा संकेत तो करता है परन्तु पाठ के साथ विज्ञान शब्द उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अंग्रेजी के प्रसिद्ध पाठालोचक हॉल ने भी इसको विज्ञान मानने से स्पष्ट मना कर दिया। इसी प्रकार पाठानुसन्धान शब्द भी पूर्णतः सटीक नहीं बैठता। क्योंकि पाठालोचन का कार्य केवल मूलपाठ का अनुसंधान करना ही नहीं अपितु अनुसंधान किए

गए मूल पाठ की आलोचना करना भी है कौनसा पाठ किसलिए स्वीकार किया गया है। पाठ में विभिन्न विकृतियाँ किस प्रकार आयीं, मूलपाठ कैसे इतना परिवर्तित हो गया आदि सभी बातें स्पष्ट करने के कारण पाठालोचन शब्द ही उपयुक्त है।

11.4 पाठालोचन की आवश्यकता तथा उद्देश्य

प्राचीन काल की अपेक्षा आधुनिक युग में मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार ने आधुनिक रचनाओं के संपादन की समस्याओं को समाप्त कर दिया। परन्तु प्राचीन युग से चली आने वाली साहित्य धारा के उचित मूल्यांकन हेतु यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक पद्धति द्वारा सर्वप्रथम प्राप्त ग्रन्थों का वास्तविक पाठ निर्धारण कर लिया जाए। पाठालोचित रचना को आलोचक द्वारा मूल रचना का पुनरूद्धार नहीं कहा जा सकता। उसे अधिक से अधिक सन्निकट समझा जा सकता है। यूरोप में पाठालोचन का कार्य समय पूर्व प्रारम्भ हो चुका था। भारत में भण्डारकर शोध संस्थान में डॉ. सुकथनकर ने 'महाभारत' के पाठ निर्धारण हेतु पाश्चात्य पाठालोचन सिद्धान्त का आश्रय लिया, इसके साथ ही भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल भी उसे बनाया गया। पूना के डेक्कन कॉलेज के शोध संस्थान के निर्देशक डॉ. कात्रे ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने अंग्रेजी में पाठालोचन की भूमिका लिखकर पाठालोचन शास्त्र को सुलभ बना दिया। परिणामस्वरूप विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनेकों मूल ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पुनर्निमाण होना संभव हुआ। हिन्दी में डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इस कार्य में दक्षता सिद्ध कर कई प्राचीन ग्रन्थों का पाठ निर्धारण किया।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की मूल प्रतियों के आधार पर ही पाठालोचन का कार्य अग्रसर होता है। पाठालोचन का उद्देश्य रचना के मूल पाठ को प्राप्त करना ही है। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करते समय पाठालोचन की प्रतिलिपि परमपरा में आए हुए तथा लेखक से इतर उत्पन्न हुए तत्त्वों को पृथक् करना पड़ता है। मूल पाठ के शोध प्रसंग में पाठालोचक की सीमा निर्धारित करते समय मुख्यतः निम्नलिखित बिन्दु देखे जाते हैं–

1. लेखक के मूल पाठ में किसी प्रकार का परिवर्तन या संशोधन न करना।
2. लेखक द्वारा की गई निश्चेष्ट विकृतियों का परिहार करना।
3. लेखक की मूल रचना में प्राप्त व्याकरणात्मक भूलों का परिहार करते हुए लेखक के मूल भाव का ध्यान रखना तथा उस भाव को प्रकट करने में यदि उचित हो तो अन्य शब्दावली का स्थानापन्न करना।
4. लेखक द्वारा प्रयुक्त उपर्युक्त पाठ के स्थान पर उससे भी सुन्दर लगने वाले पाठ को अपनी ओर से प्रस्तुत करना।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में विद्या के प्रति लोगों का अनुराग रहा है। लेखन कला का ज्ञान भी अत्यन्त प्राचीन काल से यहाँ के लोगों को है। मैक्समूलर के अनुसार भारतवासी रूई से कागज बनाने की कला में बहुत प्राचीनकाल से ही भिज्ञ है।

ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही है कि जब विश्व में लोगों ने लेखन कला का नाम भी न सुना था तब भारत में ग्रन्थों का निर्माण हो रहा था। परन्तु मुद्रण कार्य का प्रारम्भ यहाँ बाद में हुआ। परिणामस्वरूप हमारी बहुत सी प्राचीन कृतियाँ अब भी अप्रकाशित हैं। बहुत सी अप्राप्य हैं। कुछ व्यक्तिगत संरक्षणों में होने से सड़ गई हैं। इसमें संदेह नहीं है कि कुछ संस्थाओं द्वारा प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का कार्य बड़े ही लग्न से किया गया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि–

"अश्वघोष के नाटकों के कुछ पन्ने मंगोलिया की रेत में सुरक्षित न होते तो हम उन्हें जान भी नहीं पाते।"

11.5 विषय विस्तार

पाठालोचन का विषय अत्यन्त विस्तृत है क्योंकि प्राचीन ग्रन्थ सम्पादन का कार्य सहज साध्य न होकर कष्ट साध्य है। पूना के भण्डारकर शोध संस्थान में महाभारत का सम्पादन कार्य कई वर्षों से विभिन्न विद्वानों द्वारा किया जा रहा है। यह ठीक से कहा भी नहीं जा सकता कि उसे पूर्ण होने में कितना समय और लग जाएगा।

पाठालोचन लेखक द्वारा स्वहस्तलिखित ग्रन्थ का भी हो सकता है। वर्तमान मुद्रित ग्रन्थ भी पाठालोचित हो सकते हैं क्योंकि मुद्रित ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वह लेखक की मूल प्रति का यथावत् मुद्रण है। कई बार प्रकाशक व प्रूफरीडर भी अपनी इच्छानुसार वाक्यों या शब्दों में परिवर्तन कर देते हैं। ऐसे परिवर्तन जब लेखक के सामने आते हैं तो वह पुस्तक के अन्त में भूल–सुधार का पृष्ठ जुड़वा देता है, फिर भी कुछ त्रुटियाँ शेष रह जाती हैं।

पाठालोचन ग्रन्थों का ही नहीं अपितु शिलालेखों में उत्कीर्ण लेख या लघु रचना का भी किया जा सकता है। क्योंकि शिलालेख पर काल या मनुष्य का असंस्कारी कार्य उसके कुछ भाग को खंडित भी कर देता है। ऐसी स्थिति में पाठालोचक संदर्भ के शब्दों को यथास्थान जोड़कर मूल पाठ को निर्मित कर देता है। हिन्दी में स्व. माताप्रसाद गुप्त ने राउलवेला नामक कृति जो शिला पर उत्कीर्ण की व यत्र–तत्र खंडित भी थी पाठालोचन किया।

अभिलेखों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों और सिक्कों पर उत्कीर्ण प्रलेखों की प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है क्योंकि कारीगरों के मार्गदर्शन हेतु वे प्रारम्भ में सम्भवतः भोजपत्रों या ताड़पत्रों पर लेखकों द्वारा लिखे जाते होंगे। हस्तलिखित ग्रन्थों को तो लिपिकों द्वारा लिखवाया जाता रहा है अतः उनमें विकृतियों का आ जाना स्वाभाविक ही है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है कि कवियों को काव्यों की सुरक्षा के लिए उसकी कई प्रतिलिपियाँ तैयार करवा लेनी चाहिए। अतएवं ग्रन्थकारों के जीवन काल में ही अच्छे ग्रन्थ कई व्यक्तियों द्वारा लिखे जाते रहे होंगे तथा पुस्तकालयों में संगृहीत होने पर पुस्तकालयाध्यक्ष भी उनकी प्रतिलिपि करवाते रहे होंगे। इसी कारण मूल प्रति की सुरक्षा का ध्यान भी रखा जाता रहा होगा। श्री कात्रे की आधुनिक समय की धवला, जयधवला तथा महाधवला की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियाँ दक्षिणी कर्नाटक (कनाड़ा) के मुदविही नामक जैन भण्डार में सुरक्षित पायी गई।

अनेकों नष्ट ग्रन्थों का पता हमें अनुवाद अथवा अन्य ग्रन्थों से लगा है। कई बौद्ध ग्रन्थ चीन, तिब्बत तथा चीन के प्राचीन अभिलेखागारों तथा विद्वानों के यहाँ मोट या चीनी भाषा में अनूदित रूप में प्राप्त हुए। राहुल सांस्कृतायन, डॉ. रघुवीर आदि शोधकर्ता इस प्रकार के कई ग्रन्थों का पता लगाकर उन्हें अपने देश लाए तथा पुनः संस्कृत में रूपान्तरित कर सुरक्षित किया।

11.6 विषय विभाजन

प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिलिपियों की परम्परा भिन्न–भिन्न रही है व कहीं तो अनुवादरूप में कहीं चित्रलिपि में और कहीं भिन्न देश में प्राप्त होती है। अतः उनको प्राप्त कर उनका पाठ निर्धारण करना सहज कार्य नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने पाठालोचन हेतु निम्नलिखित प्रणाली के अनुसार विषय विभाजित किए–

1. सामग्री संग्रह एवं वंशवृक्ष निर्माण
2. पाठ चयन
3. पाठ सुधार

सामग्री संग्रह और वंशवृक्ष अर्थात् क्रमिक विवरणात्मक सूचना के चार्ट का निर्माण– इसके अन्तर्गत आलोच्य ग्रन्थ से सम्बन्धित समस्त सामग्री को एकत्रित करना पड़ता है। इसमें उस ग्रन्थ की समस्त हस्तलिखित प्रतियाँ और सहायक सामग्री आती है। इन सामग्रियों का संग्रह जिन भाषाओं में हुआ तथा हस्तलिखित पोथियों की तैयार सूचियों की सहायता से किया जा सकता है। सामग्री संग्रह के उपरान्त

सामग्री की अन्तरंग व बाह्य परीक्षा करके उसकी प्रामाणिकता और प्राचीनता के आधार पर उसका आपेक्षिक महत्त्व स्थिर किया जाता है।

प्रामाणिकता की जाँच के लिए पहले सभी सामग्री एकत्रित कर ली जाती है। तदुपरान्त हस्तलिखित ग्रन्थों के पत्रों को क्रमबद्ध करते हैं। कभी–कभी प्राप्त प्रतियों के पन्ने जो अलग–अलग पत्रों पर इधर–उधर हो जाते हैं तथा गलत ढंग से सिल जाते हैं, कई पन्ने तो फट भी जाते हैं। कई अधिक उपयोग के कारण धुंधले पड़ जाते है। इस कारण पन्नों में लिखे संकेत शब्द या शब्दांश की सहायता से पन्ने क्रमबद्ध किए जाते हैं।

प्रतियों की परीक्षा के उपरान्त समस्त उपलब्ध सामग्री की सूक्ष्म रूप से परीक्षण करना पड़ता है। इस सूक्ष्म परीक्षण में जो त्रुटियाँ आती हैं उन्हें दूर करना होता है।

जिन प्रतियों में पुष्पिका अर्थात् अन्त में दिया जाने वाला परिचायक विवरण अर्थात् **(Colophon)** दी हो उसकी प्रामाणिकता का परीक्षण करके उन प्रतियों का तिथि क्रम निर्धारित किया जा सकता है। तिथि क्रम के आधार पर ही उसकी तुलना की जाती है। तुलना में एक–एक पंक्ति को सावधानी से पढ़कर प्रत्येक प्रति का मिलान करना पड़ता है।

प्रतियों के परीक्षण के उपरान्त उनके पाठों का मिलान करके वंशवृक्ष के रूप में प्रस्तुत करना होता है।

पाठचयन– इसमें सामग्री संग्रह में किए गए सूक्ष्म निरीक्षण–परीक्षण के आधार पर प्रतियों का संबंध निर्धारित होता है। यदि प्रत्येक शाखा की प्रतियों की आदर्श प्रतियाँ उपलब्ध न हों तो उन शाखाओं के कल्पित आदर्श पाठ निर्धारित करके उपलब्ध पाठ की तुलना करते हुए मूल पाठ तक पहुँचना होता है।

पाठ सुधार– जिन स्थानों के पाठ की समस्या पाठ चयन की विधि से हल हो पाती है उसके लिए पाठालोचक को पाठ सुधार करना पड़ता है। यह समस्या प्रायः उन पाठों में पाई जाती है जो रचना की सभी उपलब्ध प्रतिलिपियों में भ्रष्ट पाए जाते हैं तथा किसी भी प्रकार के कवि–प्रयोग से सिद्ध नहीं हो पाते तथा प्रसंगानुकूल भी नहीं होते। ऐसी स्थिति में पाठालोचक को पाठसुधार लेखानुसंगत व विषयानुकूल रूप में ही करना चाहिए। भाव यह है कि पाठ सुधार बहिरंग एवं अंतरंग दृष्ट्या परिपुष्ट होना चाहिए।

11.7 आलोचना

सम्पादन की विधि और सामग्री के विवेचन को उच्चतम आलोचना कहते हैं। पाठ की सम्पूर्ण समस्याओं को हल कर लेने के उपरान्त जिज्ञासु पाठकों की संतुष्टि के लिए तथा आगे आने वाले विद्वानों के उपयोग के लिए सम्पादन संबंधी सूचना देना आवश्यक होता है। पाठालोचन के लिए उपलब्ध सामग्री का उल्लेख, सम्पादन के मानदण्डों की रूपरेखा, विवादग्रस्त पाठों के सम्बन्ध में पाठालोचन का निर्णय एवं कारणादि का निर्देश होना आवश्यक है। इसके साथ ही उस रचना का निर्माणकाल, प्रतिलिपियों का लिपिकाल तथा रचनाकार के सम्बन्ध में यदि विवाद हो तो उसका निराकरण भी होना अपेक्षित है।

पाठालोचन के सम्बन्ध में डॉ. सुकथनकर के सुझाव कुछ इस भाँति हैं–

"किसी काव्य ग्रन्थ का पाठालोचन करना हो तो किसी अच्छे संस्करण को आधारभूत मानकर कविता के एक एक पद को इकाई मानना चाहिए और उन्हें स्पष्ट रूप से वर्णक्रम के अनुसार कोष्ठकों में पृथक्–पृथक् कागज पर ऊपर वाले हिस्से में लिखना चाहिए। जिन पदों मे भेद हो उन्हें कागज के नीचे वाले हिस्से से सम्बन्धित पद के नीचे वर्णक्रम के अनुसार कोष्ठकों में लिखना चाहिए। कागज के बायें हाशिये में प्रत्येक कोष्ठक के साथ उन हस्तलिखित प्रतियों का नाम होगा जिनका परितुलन हुआ हो और दाहिने हाशिए में कुछ अन्य अतिरिक्त जानकारी लिखने के लिए खाली स्थान सुरक्षित रहना चाहिए।

11.8 सारांश

पाठालोचन का उद्देश्य किसी रचना के मूल पाठ का पुनः निर्माण होता है। अतः यह एक गम्भीर व कठिन अध्ययन है। यह कार्य श्रमसाध्य है। इसके लिए शोधार्थी को परिश्रमी, धैर्यशील, नानापुराण निगमागम, भाषाओं, लिपियों एवं शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिए। प्रस्तुत इकाई में हम ये सभी बातें समझ चुके हैं।

11.9 बोध प्रश्न

(1) निम्नलिखित विषयों पर लघुलेख लगभग 100 शब्दों में लिखिए।

1. पाठालोचन की परिभाषा
2. विषय विभाजन
3. आवश्यकता व उद्देश्य

(2) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए?

1. पाठालोचन की परिभाषा देते हुए उसकी आवश्यकता व उद्देश्य पर विस्तारपूर्वक निबन्ध लिखिए।
2. पाठालोचन के विषय विस्तार पर प्रकाश डालिए?

11.10 उपयोगी पुस्तकें

1. डॉ. सत्येन्द्र– अनुसंधान
2. विश्वनाथ प्रसाद– अनुसंधान के मूल तत्त्व
3. डॉ. विनय मोहन शर्मा– शोध प्रविधि, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली।
4. डॉ. मनमोहन सहगल– हिन्दी शोध तन्त्र की रूपरेखा, पंचशील प्रकाशन, फिल्म कॉलोनी, जयपुर

11.11 बोध प्रश्नोत्तर

1. (1) इकाई सं. 11.2 में देखिए
   (2) इकाई सं. 11.4 में देखिए
   (3) इकाई सं. 11.6 में देखिए
2. (1) इकाई सं. 11.2 व 11.4 में देखिए
   (2) इकाई सं. 11.5 में देखिए

इकाई 12

शोध प्रविधि तथा पाठालोचन

इकाई की रूपरेखा

12.1 उद्देश्य

12.2 प्रस्तावना

12.3 संस्कृत पालि एवं प्राकृत ग्रन्थों की पाठालोचना

12.4 पाठ और पाठालोचना

12.4.1 विविध पाठ

12.4.2 प्रथम प्रति

12.4.3 समीक्षित पाठसंपादन की व्याख्या

12.4.4 सामग्री संकलन

12.5 सहायक सामग्री

12.5.1 संकलित सामग्री की समीक्षा

12.5.2 अनुसन्धान

12.5.3 संशोधन

12.5.4 पाठ सुधार

12.5.5 उच्चतर समीक्षा

12.6 सारांश

12.7 उपयोगी पुस्तकें

12.8 शब्द सूची

12.9 बोध प्रश्न

12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

शोध–प्रविधि एवं पाठालोचन के इस प्रश्नपत्र का उद्देश्य यह है कि संस्कृत के छात्र जब सर्जनात्मक साहित्य (काव्य–नाटकादि) एवं विविध शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन करते हैं तब वे कथावस्तु, अलंकार, रस महाकाव्यादि के लक्षणादि का ही विचार करते हैं या दार्शनिक विचारों का महत्त्व सोचते है। परन्तु इस साहित्य के या शास्त्रों के ग्रन्थों में जो पाठ दिखाई पड़ता है वह मूल रूप में कहाँ सुरक्षित रहा होगा। यह सोचने का अवसर उन्हें प्राप्त ही नहीं होता है। एवमेव, संस्कृत भाषा में लिखे गये सभी ग्रन्थ जिस लिपि में आबद्ध है उस देवनागरी भाषा का क्या मूल है– वह छात्र को सोचने का या जानने का अवसर नहीं मिलता है। संसार के सभी देशों में हमारा ही देश ऐसा है जो भाषाज्ञान में तथा लेखनकला में सब से पहले अभिज्ञ हुआ था और हमारी ही आद्य ब्राह्मी–लिपि सर्वथा प्राचीन एवं पूर्णतः वैज्ञानिक है। यह गौरवास्पद हकीकत जानने योग्य है। एक और बात भी ज्ञातव्य है कि ब्राह्मी–लिपि से ही आज के भारत की सभी लिपियाँ विकसित हुई है। अतः लिपि का इतिहास जानना हमारा लक्ष्य है।

12.1 प्रस्तावना

अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुये काव्य–नाटकादि की साहित्यिक आलोचना कैसे की जाती है यह जानने के साथ–साथ, छात्र को यह जानना भी आवश्यक होता है कि वे जो ग्रन्थ पढ़ते हैं उनका पाठ मौलिक है या नहीं। क्योंकि हमारे किसी भी संस्कृत ग्रन्थकार का स्वहस्तलेख आज कहीं से भी प्राप्त नहीं होता है, प्राचीन काल की संस्कृत भाषा, पालिभाषा तथा प्राकृतभाषा में तथा मध्यकालीन अपभ्रंश भाषा में जो कुछ भी साहित्य लिखा गया था, उसका पाठ हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में पीढ़ी दर पीढ़ी संचरित होता हुआ आज हमारे पास आया है। लेकिन इन ग्रन्थों में कृतियों का जो पाठ है वह अपने मूल रूप से काफी हद तक विचलित हो गया है। प्राचीन एवं मध्यकालीन कृतियों के संचरित पाठ में बहुशः अशुद्धियाँ एवं पाठान्तर, प्रक्षेपादि प्रविष्ट हुये है और इसका प्रधान कारण यही रहा है कि प्राचीन भारत में मशीनों के द्वारा मुद्रण कार्य तो होता नहीं था, मूल लेखक की किसी हस्तलिखित पाण्डुलिपि को देखकर अल्पज्ञानी लिपिकारों के द्वारा संस्कृत ग्रन्थों की जब पाण्डुलिपयाँ बनाई जाती थीं तो उनमें अज्ञान एवं प्रमाद के कारणों से बहुत अशुद्धियाँ प्रविष्ट होती थीं। ऐसी स्थिति में संस्कृत ग्रन्थों के मूल पाठ की खोज करना न केवल आवश्यक है, वह अनिवार्य भी है। अतः इस प्रश्नपत्र के द्वारा संस्कृत ग्रन्थों की पाठालोचना कैसे की जाती है– उसकी शोध प्रविधि आपको सिखाई जायेगी।

12.3 संस्कृत, पालि एवं प्राकृत ग्रन्थों की पाठालोचना

कवियों और नाटककारों के द्वारा काव्य या नाट्य का सर्जन होने के बाद, मनीषी विवेचक उसकी आलोचना करते हैं। लेकिन ऐसे विवेचनों में प्रायः कुछ संकीर्णता भी दिखाई देती है। निष्पक्ष आलोचना ही साहित्यिक आलोचना अथवा पाठालोचना की श्रेणी में आती है। अतः तात्त्विक दृष्टि से सोचा जाये तो आलोचना दो तरह की होती है– 1. साहित्यिक आलोचना **(Literary Criticism)** एवं 2. पाठालोचना **(Textual Criticism).**

साहित्यिक आलोचना में काव्य के विषयवस्तु, छन्द, अलंकार, व्यंग्यार्थरूप रसादि की चर्चा की जाती है। परन्तु पाठालोचना में, विशेषरूप से जो मध्यकालीन एवं प्राचीन साहित्य है उसकी पाठालोचना में कवि, नाट्यकार का शास्त्रकार/टीकाकारादि की कृति का जो 'पाठ' **(Text)** होता उसकी प्राचीनता तथा मौलिकता के बारे में साशंक बनके विचारण की जाती है। क्योंकि हस्तलिखित प्रतियाँ, जिन्हें 'पाण्डुलिपियाँ' कहा जाता है, उनमें प्राप्त होने वाला कृति का लिखित पाठ बहुधा सर्वथा श्रद्धेय नहीं होता है। अतः संस्कृत, प्राकृत एवं पालि भाषा में उपनिबद्ध ग्रन्थों के (पाण्डुलिपि में मिलने वाले) लिखित जिन्हें पाठ के लिए ऐसा प्रश्न उठाया जाता है कि– ''क्या इस पाण्डुलिपि में जो पाठ लिखा हुआ मिलता है, वही पाठ यथातथ स्वरूप में मूल कवि ने या शास्त्रकार ने लिखा था?'' इस शंका के मूल में ऐसी सम्भावना रही होती है कि –क्योंकि मूल ग्रन्थकार का स्वहस्तलेख **(Autograph)** तो मिलता नहीं है, तथा आज जो पाण्डुलिपि हमारे सामने है वह तो प्रतिलिपि की प्रतिलिपि की..... प्रतिलिपि है। अतः मूलग्रन्थकार और हमारे बीच में जो अनेक अज्ञात प्रतिलिपि की बनाने वाले ज्ञानी–अज्ञानी लिपिकारों की शृंखला है, उन लोगों ने कदाचित् जानबूझकर या प्रमादवशात् कृति के मूल पाठ में कुछ परिवर्तन, प्रक्षेप या अशुद्धियाँ की होगी तो, हमें कैसे मालूम होगा कि इस पाण्डुलिपि में जो पढ़ा जाता है, वही मूल कवि या शास्त्रकार ने लिखा था? क्योंकि हम जानते हैं कि प्राचीन और मध्यकालीन भारत में जो–जो साहित्यिक रचनाएँ अस्तित्व में आयी थी, वे मौखिक परम्परा से अथवा प्रतिलिपिकरण की परम्परा से (हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के माध्यम से) हम तक पहुँची है। इस तरह प्रतिलिपियों में आया हुआ साहित्य प्रायः 'अनियंत्रित प्रतिलिपिकरण' द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी वैसे ही उतर आता है। परिणाम–स्वरूप मूल कवि के दिवंगत होने के पश्चात् लहियाओं के हाथों से कृति का जो पाठ प्रतिलिपियों में संचरित होता है, उसका पाठ अपने मूल स्वरूप से विचलित हुआ ही होता है। यह सर्वस्वीकार्य हकीकत है। इस कारण से विवेचकों को किसी भी कृति की साहित्यिक दृष्टि से आलोचना करने से पहले, उस कृति के मूल पाठ

की सच्चाई के बारे में पाठालोचना (Textual Criticism) करना अनिवार्य है ऐसा स्पष्ट होता है।

हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त होने वाला लिखित पाठ सर्वथा श्रद्धेय नहीं होता। इस कारण किसी भी कृति का जो लिखित पाठ प्राप्त होता है, उस विषय में ऐसा प्रश्न उठाना जरूरी बनता है कि – इस हस्तलिखित प्रति में प्राप्त होनेवाला लिखित पाठ क्या मूल कवि ने ही लिखा था, या उसमें अन्य लहियाओं की अशुद्धियाँ भी संमिश्रित हो गई है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि– लिपिकारों ने कवियों एवं शास्त्रकारों के मूलपाठ में परिवर्तन या परिवर्धन करके उसको मूलस्वरूप से विचलित कर दिया जाता है। इस कारण पाण्डुलिपियों में पढ़े जाने वाले पाठ के विषय में साशंकित होकर प्रश्न उठाये जाते हैं।

12.4 पाठ और पाठालोचना

पाठालोचना की चर्चा करने से पहले पाठ (Text) से हमारा आशय क्या है? यह जानना जरूरी है– इस विषय में ऐन्सायकलोपिडिया ब्रिटानीका (भाग–22) में कहा गया है कि–

Texts may be either autographs or they may be transmitted texts, these again, being immediate copies of autographs or copies of copies to any degree.

अर्थात् किसी कवि या शास्त्रकार के स्वहस्त से लिखे हुए जो लेख हो उसे "पाठ" कहते हैं। तदुपरांत ऐसे लेख प्रतिलिपि की प्रतिलिपि रूप में संचरित होकर (पीढ़ी दर पीढ़ी) लिखित हो तो उन्हें भी पाठ कहते हैं। इस प्रकार एक प्रति से दूसरी प्रति में वैसे का वैसे नकल करके लिखा हुआ जो पाठ लिखित स्वरूप में हो तो वो कभी प्रथम का प्रतिलिपिकरण भी हो सकता है अथवा अनेक प्रतिलिपिकरण के पश्चात् का भी प्रतिलिपिकरण हो सकता है। हमें भारतीय सन्दर्भ में यह कहना चाहिए कि केवल लिखित पाठ को ही पाठ न कहे, कंठस्थ किये हुए किसी साहित्य को भी, जो कि मौखिक परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के पास पहुँचा हो तो ऐसे (श्रुत–परम्परा से संचरित हुए) साहित्य को भी पाठ कहेंगे कहना ही चाहिए। (उदाहरण स्वरूप वेदमन्त्र तथा भगवान बुद्ध एवं महावीर की वाणी इत्यादि)।

12.4.1 विविध पाठ

पाठ (Text) के रूप में जिन लेखों की यहाँ चर्चा करना अभिप्रेत है उनमें (1) धार्मिक साहित्य (2) मानवीय संवेदनाओं को प्रतिबिम्बित करने वाले काव्य–नाटकादि रूप की साहित्यिक रचनाएं (3) ज्ञान–विज्ञान की शास्त्रीय चर्चा करने वाले ग्रन्थ (4) दानपत्र (5) ऐतिहासिक मूल्य रखने वाले सामाजिक एवं राजकीय दस्तावेज और (6) पर्यन्त या शिलाओं या स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेखों का समावेश होता है।

पाठसमीक्षा अर्थात् पाठालोचन के विषय में, इन्टर–नेट पर Wikepedia में निम्नानुसार ज्ञान दिया हुआ है–

Textual Criticism or lower Criticism is a branch of philology or bibliography that is concerned with the identification and removal of errors from text and Manuscripts.

अर्थात्–पाठालोचन को (जिसे लोअर क्रिटिसिज्म भी कहते हैं।) भाषा शास्त्र की एक शाखा माना जाता है। इस पाठालोचना के द्वारा संचारित श्रुत–पाठ या लिखित हस्तलिखित प्रतियों के पाठ या उत्कीर्ण लेख में रही अशुद्धियों को पहचान कर दूर किया जाता है।

12.4.2 प्रथम प्रति

हस्तलिखित प्रतियों की लिखित परम्परा में संचरित हुए किसी भी कृति के दस्तावेजी पाठ का 'मूलस्वरूप' निश्चित करना– पाठालोचना करने वाले विद्वान् व्यक्ति का लक्ष्य होता है। भूतकाल में लिखित, परन्तु आज जो कालग्रस्त हो गया है ऐसे मौलिक पाठ की प्रथम प्रतिलिपि में अर्थात् मूलादर्शप्रति के (मूल ग्रन्थ से तैयार की गई प्रथम प्रतिलिपि Archetype) पाठ की खोज

करना– पाठालोचना का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो आज के समय में उपलब्ध होने वाली प्रतियों में पढ़े जाने वाले पाठ के आधार पर अव्यक्त पुराने समय के अर्थात् मूल ग्रन्थकार के जितना हो सके उतने नजदीक के समय के प्राचीनतर पाठ को खोजने का उपक्रम पाठालोचक को स्वीकारना है। पाठालोचन की इस प्रक्रिया द्वारा प्राचीन पाठ में से प्राचीनतर–पाठ और प्राचीनतर पाठ में से प्राचीनतम पाठ को अलग करने का प्रयास करना चाहिए। यदि किसी ग्रन्थकार का स्वहस्तलेख सदा के लिए कालग्रस्त हो गया होता है, और हमारे पास तो अनेक प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ होते–होते अंतिम सौ दो सौ वर्ष पहले लिखित हस्तप्रतियाँ (पाण्डुलिपियाँ) उपलब्ध होती हैं। तब उन उपलब्ध प्रतियों के प्राचीनपाठ के आधार पर भूतकाल में पीछे चार कदम चलकर मूल ग्रन्थाकार को अभीष्ट हो ऐसे प्राचीनतम पाठ का अनुमान करने के कार्य को 'पाठालोचना' कहते हैं।

इस प्रकार पाठालोचन अर्थात् पाठ समीक्षा का जो लक्ष्य है उसको हम इस प्रकार से कह सकते हैं। हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में संचरित हुए अशुद्ध और प्रक्षिप्तांश से भरे हुए पाठ में से जो मौलिक हो या अधिक श्रद्धेय तथा प्राचीनतर या प्राचीनतम हो ऐसे पाठ की गवेषणा करके, उसे शुद्ध कर के पुनः प्रतिष्ठित करना पाठालोचना का लक्ष्य हैं। यहाँ 'मौलिक पाठ' शब्द से मूल ग्रन्थकार को जो अभीष्ट हो ऐसे पाठ का अनुसन्धान करना अभिप्रेत है।

12.4.3 समीक्षित पाठ–सम्पादन की व्याख्या

समीक्षित पाठसम्पादन तैयार करने की प्रक्रिया में सम्पादक को क्या–क्या कार्य करना है। यह सोचा जाय तो उसे सबसे पहले एक ही कृति की उपलब्ध होने वाली अनेक पाण्डुलिपियों को इकठ्ठा कर उनका ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से समीक्षण करना चाहिये। तत्पश्चात् उनमें से प्राचीनतर या प्राचीनतम दिखने वाले जो पाठ हो सकते हैं। अलग कर उनमें प्रविष्ट हुई अशुद्धियों को दूर करना चाहिये। कृति के कोई एक ही शब्द के स्थान पर यदि अपपाठ या पाठभेद (पाठान्तर) प्राप्त होते हो तो उसमें "अनुलेखनीय संभावना" वाला पाठ कौन सा है? और "आन्तरिक संभावना" वाला पाठान्तर कौन–सा है? उसका विवेकपूर्ण विचार कर, मौलिक या अधिक श्रद्धेय हो ऐसे किसी एक पाठ को स्वीकार करना होता है परंपरित पाठो में जहाँ–जहाँ "प्रक्षेप" (बाद में होने वाली बढ़ोतरी) की पहचान कर उसे उठा कर परिशिष्टों में रख देना चाहिये। अर्थात् आधुनिक पाठ–सम्पादक की जो जिम्मेदारी है वह इस तरह की है–

(1) अनेक पाठान्तरों में से कोई एक मौलिक या अधिक श्रद्धेय प्रतीत होने वाले पाठान्तर का स्वीकार करना, (2) त्रुटितांश का पुनर्गठन करना, तथा (3) अशुद्ध पाठ का परिमार्जन करना, एवं (4) कालान्तर में प्रविष्ट हुए प्रक्षेपों को दूर करना, यह 'समीक्षित पाठसम्पादन' का मुख्य कर्तव्य है। पाठसम्पादक का जो एक कर्तव्य और बताया गया है, वह यह है कि हस्तप्रतियों (पाण्डुलिपियों) में जो पाठ्यांश अवाच्य हो या खंडित (त्रुटित) हों उन स्थानों पर खंडित या अवाच्य अंश का "पुनर्गठन" भी करना चाहिये। इसके लिये सम्पादक के बहुश्रुत होने की अपेक्षा अवश्य रहती है। जब किसी कृति की एक ही हस्तलिखित प्रति मिलती हो तो वहाँ अशुद्धियों की जगह पर व्याकरण–संमत और प्रकरण संगत शुद्धपाठ सूचित करना चाहिये।

जब पाठसम्पादक उपर्युक्त मुख्य चार कार्य कर ले उसके पश्चात् उसके समीक्षित पाठ का प्रकाशन करते समय समीक्षणीय सामग्री तैयार कर के वाचक को सुलभ कर के देना होता है। उसमें मुख्यतया निम्नलिखित बातें ध्यान में रखने की हैं–

(1) पाठसंपादक द्वारा एकत्र की गई हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का विस्तृत विवरण प्रस्तावना में देना चाहिये, (2) जिस पाठ को श्रद्धेय मान कर, मूलपाठ के रूप में पुनः प्रतिष्ठित किया जा रहा है, उसी के नीचे जिन पाठान्तरों को अस्वीकार्य माना गया है, उन सभी का पाद टिप्पणी में

स्पष्ट उल्लेख भी करना होता है, तथा (3) कृति का पूरा पाठ समाप्त होने के बाद, उसके पीछे अलग–अलग परिशिष्टों में (क) अस्वीकार किये गये पाठों का प्रक्षिप्त अंश और (ख) अलग–अलग प्रकार की शब्द–सूचियों को तैयार करके उसमें जोड़ना होता है। पाण्डुलिपियों की सहायता से इस प्रकार से तैयार की गई किसी भी कृति के सम्पादन को "समीक्षित पाठ संपादन" (Critical Text Editing) कहते हैं।

12.4.4 सामग्री संकलन

संस्कृत ग्रन्थों की पाठालोचना में सबसे पहले सामग्री का संकलन करना जरूरी है। हमारे देश में जैसे प्रिन्टेड पुस्तकों के विविध ग्रन्थालय होते हैं वैसे हस्तलिखित पाण्डुलिपियों के भी अलग से ग्रन्थागार/ग्रन्थ भण्डार होते हैं। जिन्हें अंग्रेजी में **Manuscript Library** कहते हैं। ऐसे ग्रन्थ भण्डार देश–विदेश के विभिन्न स्थानों में पूणें, चेन्नई, मैसूर, जोधपुर, बीकानेर, होशियारपुर, दरभंगा, पाटन, बडोदरा, मुंबई, कोलकाता, लंदन, जर्मनी के बॉन, अमेरिका में हार्वर्ड इत्यादि शहरों में स्थित हैं। वहाँ से निकले हुए सूचिपत्रों को **(Descriptive Catalogues of Sanskrit Manuscripts)** देख कर कहाँ कौन से ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सुरक्षित है, इसकी जानकारी प्राप्त करके पत्राचार से उस ग्रन्थ की फोटोकॉपी या माईक्रोफिल्म या स्केन कॉपी मंगवानी होती है। कभी–कभी ऐसी सामग्री पुराने मठ–मन्दिरों, राजघरानों में, आश्रमों में या निजी संग्रहालयों में भी उपलब्ध हो सकती है।

12.5 सहायक सामग्री

पाठालोचन के लिये केवल पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि (फोटोकॉपियाँ) ही एकत्र करना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि आज उपलब्ध होने वाली पाण्डुलिपियाँ सौ–दोसौ साल से अधिक पुरानी नहीं होती हैं। अतः हमें प्राचीन से प्राचीनतर पाठ ढूँढने के लिये कोशिश अवश्य करनी चाहिये और यह सम्भव है। क्योंकि हमारे सभी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ/कृतियाँ ऐसी हैं कि उन ग्रन्थों के उपर किसी न किसी प्राचीन काल के टीकाकार ने या भाष्यकार ने टीका अवश्य लिखी होती है। इसी तरह से, उन सभी ग्रन्थों के विचार–मौक्तिकों को उद्धरण के रूप में किसी दूसरे ग्रन्थकार ने भी अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया होता है। पाठालोचक के लिये ऐसी आनुषंगिक सामग्री को भी एकत्र करना आवश्यक होता है। इसी आनुषंगिक सामग्री को **सहायक सामग्री** कहते हैं। मूल ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों के साथ–साथ यदि हमारे पास ऐसी टीका या उद्धरणादि के रूप में किसी दूसरे प्राचीन काल के ग्रन्थकार की दी हुई सहायक सामग्री भी है तो वह पाण्डुलिपियों की अपेक्षा अधिक श्रद्धेय मानी जाती है। सहायक सामग्री के रूप में (1) टीकायें, (2) भाष्य, (3) वार्तिक, (4) सुभाषित संग्रह, (5) अनुकरण के रूप में लिखे गये काव्य, (6) बड़े ग्रन्थों का संक्षेप (7) काव्य का नाट्य में रूपान्तर, (8) या काव्य के चम्पू में रूपान्तरण, (9) पञ्चतन्त्र जैसे कथा संग्रहों के प्राचीन काल में हुए अनेक भाषान्तर, (10) तथा महाकाव्य–नाटकादि के श्लोकों का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अमुक–अमुक अलंकार के उदाहरण के रूप में जो उल्लेख मिलते है उन सभी का समावेश होता है। ऐसी सहायक–सामग्री में जो आंशिक रूप से उद्धरण मिलते हैं उनकी सहायता से भी प्राचीन से प्राचीनतर काल में मूल पाठ क्या रहा होगा इसकी जानकारी मिलती है और पाण्डुलिपियों में संचरित हुए पाठ की प्रामाणिकता निश्चित की जाती है।

12.5.1 संकलित सामग्री की समीक्षा (अर्थात् पाठालोचना)

जिस कृति की आप पाठालोचना करना चाहते हैं उसकी अधिक से अधिक पाण्डुलिपियाँ एकत्र करने में ध्यानार्थ बात यह है कि (1) जो समय की दृष्टि से पुरानी हो, एवं (2) देश के प्रायः सभी प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करने वाली तथा (3) विभिन्न लिपियों में लिखी गई हो ऐसी पाण्डुलिपियों को हमें प्राप्त करनी चाहिये। उसके बाद इन उपलब्ध की गई पाण्डुलिपियों में

संचरित हुए पाठ की मौलिकता निश्चित करने के लिये जो पाठालोचना की जाती है उसकी प्रविधि निम्नोक्त है :–

पाठालोचना के चार सोपान है– (1) अनुसन्धान (Heuristics), (2) पाठ संशोधन (Recension), (3) संस्कार अथवा त्रुटि संशोधन (Emendation), (4) उच्चतर समीक्षा (Higher Criticism)।

12.5.2 अनुसन्धान

नामक प्रथम सोपान में अभीष्ट कृति की यथासम्भव विविध पाण्डुलिपियाँ एकत्र करनी होती है तथा उसी के साथ उसी कृति की जो भी सहायक–सामग्री मिल सकती हो उसे भी एकत्र कर लेना चाहिये। अब संकलित–सामग्री का अर्थात् पाण्डुलिपियों का विश्लेषण करना है। इसके लिये एक बड़े कागज पर सन्तुलन–पत्रिका (Collation Sheet) बनानी चाहिए। सन्तुलन पत्रिकाओं में दोनों साइड पर एक–एक मार्जिन (हाशिया) रखा जाता है और बीच में छोटे–छोटे समचौरस कोष्ठकों में एक–एक वर्ण लिखे जाते हैं। यानें कृति की पूरी पंक्ति को एक–एक अक्षर में विभक्त करके उस सन्तुलन पत्रिका पर लिखा जाता है। सब से पहले प्रथम पंक्ति में अभीष्ट कृति का बहुप्रचलित हो ऐसा पाठ (उदाहरण के रूप में गीता प्रेस, गोरखपुर में निकली आवृत्ति में जो पाठ छपा हो उसे) लिखा जाता है। इस तरह तुलना के लिये एक पाठ को आधार रूप में पहले स्थापित करके, उसके नीचे की पक्तियों में अलग–अलग पाण्डुलिपियों में पढ़े जाने वाले पाठान्तरों को, अशुद्ध पाठों को भी लिख देना चाहिए। ऐसा करने से अब एक ही पन्ने पर उपलब्ध की गई सभी पाण्डुलिपियों में संचरित हुए जो–जो समान या विषम पाठ/पाठान्तर होंगे उनका ब्यौरा पाठसम्पादक के सामने आ जाएगा। जिसके फलस्वरूप उपलब्ध की गई सभी पाण्डुलिपियों के विविध पाठों का चित्र युगपत् हमारे सामने आ जाएगा। अब ऐसी पाण्डुलिपियों के विविध पाठों के साम्य–वैषम्य का अनुशीलन शुरू किया जाना है। ऐसे साम्य–वैषम्य के आधार पर पाण्डुलिपियों के अन्तर्निहित आनुवांशिक सम्बन्धों का चित्र हमारे सामने स्पष्ट हो सकता है। तदनन्तर पाण्डुलिपियों के ऐसे पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर पाण्डुलिपियों का वंशवृक्ष निश्चित किया जाता है और कृति का पाठ कितने प्रवाहों में (कितनी प्रकार की वाचनाओं में) प्रवाहित हुआ है, यह हम जान सकते हैं।

12.5.3 संशोधन

पाठालोचना के पाठ संशोधन नामक द्वितीय सोपान का कार्य शुरू होता है। उसमें अभीष्ट कृति की पाण्डुलिपियों के वंश वृक्ष के आधार पर, उस कृति का पाठ जितने प्रवाहों में प्रवहमान दिखाई दे रहा हो उतनी उस कृति की वाचनायें हैं– ऐसा निर्णय किया जाता है। उदाहरण के रूप में हमारे महाभारत ग्रन्थ की दो वाचनायें हैं– (1) उत्तर भारतीय एवं (2) दक्षिण भारतीय, इस दोनों वाचनाओं में से उत्तर भारतीय वाचना में महाभारत का लघुपाठ प्रवहमान है, जबकि दक्षिण भारतीय वाचना में महाभारत का बृहत्पाठ प्रवहमान है ऐसा डॉ. वी.एस. सुकथनकरजी ने कहा है। इस वाचना–निर्धारण के बाद उनमें से कौनसी वाचना अधिक श्रद्धेय है, उसका निर्णय करके उसी वाचना के पाठ को समीक्षित पाठ के रूप में स्वीकारने का निश्चय किया जाता है। परन्तु इससे पहले यहाँ दोनों वाचनाओं की उपवाचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके, अर्थात् वंशज पाण्डुलिपियों के साम्य–वैषम्य को देखकर उनकी पूर्वज पाण्डुलिपियों के पाठ का अनुमान भी लगाया जाता है, जिसके फलस्वरूप हम मूल ग्रन्थ की जो प्रथम प्रतिलिपि बनी होगी, उसके पाठ का भी निर्णय कर सकते हैं। ऐसी प्रथम प्रतिलिपि को ही, अन्य लिपिकारों ने अपने समक्ष रखके, उसे आदर्श बना कर कालान्तर में अन्य प्रतिलिपियाँ बनाई होती है। उस प्रथम प्रतिलिपि को हम मूलादर्श प्रति (Archetype) कहते हैं। इस तरह के इस पाठ संशोधन नामक द्वितीय सोपान में वाचना–निर्धारण अर्थात् पाठान्तर निर्धारण के साथ–साथ मूलादर्श प्रति

के पाठ का भी अनुमान लगाया जाता है।

12.5.4 पाठ सुधार

पाठालोचना के तृतीय सोपान को त्रुटिसंशोधन अथवा पाठ सुधार या पाठ संस्करण कहा गया है। यहाँ पर जिस वाचना के पाठ को अधिक श्रद्धेय माना गया हो उसके पाठ का शुद्धीकरण करने के बाद, उसे मूल पाठ के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है तथा दूसरी वाचनाओं के जो–जो पाठान्तर अस्वीकार्य लगे हों उनको पाद टिप्पणी में रखा जाता है। यहाँ टीकाकारों के द्वारा जिस पाठ का समादर किया गया हो उसका भी विनियोग किया जाता है, या वह दूसरी परम्परा का यदि समर्थक होता है तो उसे भी पादटिप्पणी में निर्दिष्ट किया जाता है।

यदि किसी ग्रन्थ की एक ही पाण्डुलिपि मिलती हो तो उसके पाठ–सम्पादन में संतुलन–पत्रिका बनाने का सवाल ही नहीं उठता और वंश वृक्ष बनाने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। वहाँ कृति के किसी एक शब्द के स्थान पर पाठभेद या पाठान्तर मिलने का अवकाश ही नहीं होता। वहाँ तो केवल अशुद्ध पाठ की पहचान कर, उस अशुद्ध पाठ की बगल में ही, विविध कोष्ठकों के अन्दर, शुद्ध/व्याकरण सम्मत/छन्दो बन्धन विधि के अनुकूल जो पाठ हो सकता है उसे सूचित करना होता है। इसी को पाठसुधार एवं संस्करण कार्य कहा जाता है।

इस तरह से अनेक पाण्डुलिपियों को देख कर, अधिक प्राचीनतर एवं श्रद्धेय पाठ (वाचना) का निर्धारण करके जो पाठ सम्पादन किया जाता है उसे समीक्षित पाठ–सम्पादन कहते है। ऐसे समीक्षित पाठ–सम्पादन में अनेकानेक पाण्डुलिपियों में मिलनेवाले बहुविध पाठान्तरों को भी पादटिप्पणी में रखा जाता है ताकि कोई भी पाठक अपनी दृष्टि से भी, पाठ–सम्पादक के द्वारा अस्वीकार्य माने गये पाठान्तरों में से अपनी मति के अनुसार दूसरे कोई पाठ की संभावना और उसका औचित्य अथवा यथार्थता सोच सकता है। यहाँ आते–आते निम्न स्तरीय पाठालोचना का कार्य पूरा हो जाता है।

12.5.5 उच्चतर समीक्षा

पाठालोचना के चतुर्थ सोपान को उच्चतर समीक्षा कहते हैं। यहाँ पर मूल ग्रन्थ के आधारभूत स्रोतों का विश्लेषण करना होता है। जैसे–रामायण, महाभारत या पुरानादि जैसे अनेक कृतिक ग्रन्थों के विविध अंशों के विभिन्न रचनाकालों को पहचानने की कोशिश की जाती है। उदाहरण के रूप में –

आज के समय में प्राप्त होने वाली श्रीमद्भगवद्गीता में 700 (सात सौ) श्लोक है, परन्तु उपलब्ध अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर समीक्षित पाठसम्पादन तैयार हो जाने के बाद, उसके मूल पाठ के बारे में प्रश्न उठाया जा सकता है कि श्रीकृष्ण का मूलभूत वक्तव्य क्या रहा होगा। क्योंकि किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को ऐसा प्रश्न होता है कि क्या कुरूक्षेत्र के मैदान में कृष्ण–अर्जुन के बीच के संवाद छन्दोबद्ध श्लोकों में हुए होंगे या तो ये संवाद गद्य वाक्यों में हुए होंगे या संक्षिप्त वाक्यों में? फिर युद्ध करने के लिए तैयार दोनों सेनाओं के बीच में 700 श्लोकों को बोलने का इतना लम्बा समय क्या प्राप्त हुआ होगा? तो ये सत्य है कि इन प्रश्नों के विचार के पश्चात् तुरन्त ही सीधा अनुमान ऐसा करना पड़ता है कि आज के समय में प्राप्त होने वाली भगवद् गीता के 700 श्लोकों के मूल "पाठ" में युद्ध भूमि पर जैसा और जितना कहा गया होगा उतना वक्तव्य वैसे का वैसे– यथावत् स्वरूप में हम तक नहीं पहुँचा है तो फिर "मूल गीता" के उपदेश कैसे और कितने होंगे? यह उच्चतर समीक्षा का कार्यक्षेत्र बनता है। भगवद्गीता में उपनिषदों के कितने विचार कब प्रविष्ट हुये, या बौद्धों के कितने विचारों से गीता प्रभावित हुई है, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर ढूँढना उच्चतर समीक्षा का कार्य है।

इस सन्दर्भ में ओल्डनबर्ग का एक वाक्य यहाँ स्मरणीय है। Sanskrit is a very fertile field for higher Research अर्थात् संस्कृतविद्या में उच्चतर शोध के अनन्त अवकाश विद्यमान हैं। इस विद्या के विषय में किये हुए अनुसंधानात्मक यत्न कदापि निष्फल नहीं होते।

12.6 सारांश

संस्कृत ग्रन्थों के पाठ, जो आज पाण्डुलिपियों में पीढ़ी दर पीढ़ी संचरित होते हुए हम तक पहुँचे हैं उनका मूलगामी (अर्थात् कवि या शास्त्रकार को अभीष्ट रहा हो ऐसा) स्वरूप ढूँढना अनिवार्य है क्योंकि प्राचीन काल के संस्कृत ग्रन्थों की सर्वप्रथम पाठालोचना किये बिना, यदि साहित्यिक आलोचना कोई प्रस्तुत करेगा तो वह सर्वथा–सर्वदा–श्रद्धेय नहीं रहेगी एवं लेखनकला का इतिहास जाने बिना हम हमारी गौरवपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर को नहीं जान सकते हैं।

12.7 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय प्राचीन लिपिमाला – ओझा गौरीशंकर हीराचन्द्र, प्रकाशक मुन्शीराम मनोहरलाल दिल्ली, 1959।
2. पाण्डुलिपि विज्ञान – डॉ सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1978।
3. भारतीय पाठालोचन की भूमिका, मूल लेखक – डॉ. एस.एम. कत्रे, अनु. डॉ. उदयनारायण तिवारी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971।
4. An Introduction to Indian Textual Criticism, Dr. S.M. Katre, Deccan College, Pune, 1954.
5. Aspects of Manuscriptology, Dr. Ratna Basu & Karunasindhu Das, The Asiatic Society, Kolkata, 2005.
6. Problems of Editing Ancient Texts, Ed. V.N. Jha, Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Varanasi, 1993.
7. Manuscriptology & Text Criticism, Dr. Jayant P. Thaker, Oriental Institute, Vadodara, 2002.
8. www.wikipeadia.org
9. Prolegomena to Mahabharat, Adi-parvan, (Vol. 1), Ed. V.S. Sukthankar, Pub. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1933.

12.8 शब्द सूची

1.	अनुलेखनीय संभावना	Transcriptional Probability
2.	अनुसन्धान	Heuristics
3.	आन्तरिक संभावना	Intrinsic Probability
4.	उच्चतर समीक्षा	Higher Criticism
5.	उपयुक्त पाण्डुलिपि	Codex
6.	उपयुक्त पाण्डुलिपियाँ	Codices
7.	ग्रन्थभण्डार, सरस्वती–भवन, ग्रन्थागार	Manuscript Library
8.	त्रुटितांश का पुनर्गठन	Reconstruction

9.	निम्नतर पाठालोचना	Lower Criticism
10.	पसंदगीवाले पाठ के चयन के सिद्धान्त	Eclectic Principles
11.	पाठ–कृति का उच्चरित या लिखित स्वरूप	Text
12.	पाठसुधार, पाठसंस्कार	Emendation
13.	पाठान्तर, पाठभेद	Variants
14.	पाठालोचक	Text Critic
15.	पाठालोचन	Textual Criticism
16.	पाण्डुलिपियों की विवरणात्मक सूची	Manuscript
17.	पाण्डुलिपियों की विवरणात्मक सूची	Descriptive Catalogue
18.	प्रक्षेप	Interpolation
19.	प्रतिलिपि	Copy
20.	बहुप्रचलित पाठ	Vulgate
21.	भाषा शास्त्र	Philology
22.	मूलग्रन्थ का प्रथमलेख	Ur-Text
23.	मूलग्रन्थकार का स्वहस्तलेख	Autograph
24.	मूलादर्श प्रति	Archetype
25.	रूपान्तर	Versions
26.	लिपि	Script
27.	लिपिकार, कायस्थ, लेखक, प्रतिलिपिकर्ता, लहियो	Scribe
28.	लिपि–विज्ञान	Paleography
29.	वंश वृक्ष	Stemma Codicum
30.	वंश वृक्ष	Pedigree
31.	वंश वृक्ष	Genealogical Tree
32.	वाचना / पाठभेद / पाठसंशोधन / पाठान्तर	Recension
33.	संचरित पाठ	Transmitted Text
34.	संतुलन–पत्रिका	Collation Sheet
35.	संमिश्रित पाठवाली पाण्डुलिपियाँ	Misch-codices /Conflated MSS
36.	संशोधन / संस्कार / पाठान्तर	Recension
37.	समीक्षित पाठसम्पादन	Critical Text Editing
38.	सहायक सामग्री	Testimonials
39.	पाण्डुलिपि–विज्ञान	Manuscriptology

12.9 बोध प्रश्न

1. आलोचनायें कितने तरह की होती है? कौन सी?
2. पाठालोचना की क्या आवश्यकता है?
3. पाण्डुलिपि किसको कहते हैं?
4. पाठ किसको कहते है?
5. बुद्ध एवं महावीर की वाणी का पाठ शुरू मैं कैसे संचरित हुआ था?
6. किसको मूलादर्श–प्रति कहते हैं?
7. मौलिकपाठ–शब्द से क्या अभिप्रेत है?
8. किस को प्रक्षेप कहते हैं?
9. पाण्डुलिपि के किस अंश का पुनर्गठन किया जाता है?
10. पाठसम्पादक कौन सा पाठ सूचित करता है?
11. समीक्षित पाठसम्पादन किस को कहते हैं?
12. ग्रन्थाकार किसको कहा जाता है?
13. सहायक–सामग्री किस–किस स्वरूप में हो सकती है।
14. पाठालोचन के सोपान कितने है, कौन–कौन है?
15. संतुलन–पत्रिका पर क्या लिखा जाता है?
16. पाठालोचन के द्वितीय सोपान पर क्या ढूँढें जाता है?
17. पाठालोचन के तृतीय सोपान पर क्या किया जाता है?
18. निम्न–स्तरीय पाठालोचना क्या है?
19. उच्चतर समीक्षा में क्या किया जाता है?
20. भगवद्गीता के पाठ के बारे में क्या शंका होती है?

12.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई–3.0
2. इकाई–3.0
3. इकाई–3.0
4. इकाई–4.0
5. इकाई–4.0
6. इकाई–4.2
7. इकाई–4.2
8. इकाई–4.3
9. इकाई–4.3
10. इकाई–5.0

11. इकाई–5.3
12. इकाई–4.4
13. इकाई–5.0
14. इकाई–5.0
15. इकाई–5.2
16. इकाई–5.3
17. इकाई–5.4
18. इकाई–5.4
19. इकाई–5.5
20. इकाई–5.5

इकाई– 13

पाठालोचन का उपयोग, पाठ सुधार के महत्त्वपूर्ण पक्ष, पाठ विकृति के कारण एवं वंशवृक्ष निर्माण

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 पाठालोचन का अर्थ एवं स्वरूप

13.3 पाठालोचन प्रक्रिया

13.4 पाठालोचन की उपयोगिता

13.5 पाठालोचन के क्षेत्र

13.5.1 सामग्री संग्रह

13.5.2 पाठ चयन

13.5.3 पाठ सुधार

13.5.4 उच्चतर आलोचना

13.6 पाठसुधार की प्रक्रिया

13.7 पाठ विकृति के प्रकार एवं कारण

13.8 वंशवृक्ष निर्माण

13.9 निष्कर्ष

13.10 बोध प्रश्न

13.11 उपयोगी ग्रन्थ

13.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

अब तक आप शोध के विविध प्रकारों एवं स्वरूप का अध्ययन कर चुके हैं और जान चुके हैं कि सम्पादन भी शोध का एक प्रमुख अंग है। इस इकाई में आप पाठालोचन के स्वरूप को जान सकेंगे साथ ही पाठ सम्पादन के विभिन्न सिद्धान्तों से भी परिचित हो सकेंगे। इस इकाई में आप निम्न लिखित बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

- पाठालोचन का अर्थ व स्वरूप
- पाठालोचन का उपयोग
- पाठ सुधार की प्रक्रिया
- पाठ विकृति के प्रकार व कारण
- वंशवृक्ष निर्माण विधि

इनके अध्ययन से आप पाठ सम्पादन प्रक्रिया व उसमें आने वाली समस्याओं से परिचित हो सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

ज्ञान किसी एक व्यक्ति, समाज अथवा युग की देन नहीं होता। अथाह ज्ञान सम्पदा के लिए भी हम हमारे पूर्वजों के ऋणी हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम पूर्वजों के अर्जित ज्ञान को सुरक्षित रखते हुए उसका विस्तार करें। ज्ञान अनादि एवं अनन्त है। संस्कृत वाङ्मय का ज्ञान श्रुति एवं कण्ठ के माध्यम से सुरक्षित रहता हुआ परवर्ती पीढ़ी को प्राप्त हुआ। अपने ज्ञान को भावी पीढ़ी को सम्प्रेषित करने की उत्कट अभिलाषा से ही लेखन कला का प्रारम्भ हुआ। सामान्य रूप में पाठ से तात्पर्य है जो स्वयं द्वारा लिखा गया हो। कवि निर्मित मूल पाठ का निर्धारण कर निर्णीत पाठ का चयन करना ही पाठालोचन है। विस्तृत अर्थ में जो कुछ लिखित सामग्री पाण्डुलिपि है, उनमें जो क्षतियां हुई हैं उनको ध्यान में रखते हुए कवि अथवा लेखक द्वारा अभीष्ट पाठ तक पहुँचना पाठालोचन है। लेखक द्वारा लिखित प्रति हमें प्राप्त नहीं होती, उसकी प्रतिलिपियाँ मिलती हैं उनमें कई प्रकार की त्रुटियों की सम्भावना होती है। इन त्रुटियों के साम्य एवं वैषम्य के द्वारा वंशवृक्ष निर्माण करके वर्तमान पाठों के द्वारा कवि के अभिप्रेत पाठ तक पहुँचने का प्रयास ही पाठालोचन कहलाता है। धातु, बर्तन, मिट्टी आदि पर लिखित कृतियों पर भी पाठालोचन हो सकता है। वस्तुतः जो कुछ भी लिखित सामग्री हमें उपलब्ध है, उसमें जो कुछ परिवर्तन आ गया है उन सबका अध्ययन कर कवि के अभिप्रेत मूल पाठ तक पहुँचना पाठालोचन है।

13.2 पाठालोचन का अर्थ एवं स्वरूप

किसी रचना की विभिन्न पाठों से युक्त प्रतियों के परीक्षण एवं निश्चित वैज्ञानिक विधि के अनुगमन द्वारा उन प्रतियों के आधार पर रचयिता के अभीष्ट पाठ को प्राप्त करने की प्रक्रिया को ही पाठालोचन या पाठ सम्पादन कहते हैं। प्राचीन शब्दावली में इसे सम्पादन कहा गया है। दूसरे शब्दों में किसी रचना की विभिन्न पाठों से युक्त प्रतिलिपियों के अध्ययन, अनुशीलन एवं निश्चित सिद्धान्तों के अनुगमन द्वारा उस रचना के मूल पाठ तक पहुँचने की प्रक्रिया पाठालोचन कहलाती है। इसके लिए पाठ विज्ञान, पाठ शोध एवं पाठालोचन आदि नाम भी प्रचलित हैं। मूलराज जैन ने पाठालोचन को पाठ सम्पादन नाम दिया। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने इसको पाठविज्ञान के नाम से पुकारा। पाठविज्ञान कहने में प्रमुख समस्या यह है कि पाठालोचन को विज्ञान कहें या कला? कृतियों के बाहुल्य और व्यक्तित्व के बौद्धिक हस्तक्षेप के कारण हम इसे विज्ञान नहीं कह सकते। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने जब विज्ञान शब्द को हटवाया तो पाठानुसन्धान नाम दिया। यह नाम भी उपयुक्त नहीं माना गया क्योंकि उसमें आलोचना भी करनी पड़ती है। अन्त में उन्होंने ही पाठालोचन नाम दिया। पाश्चात्य देशों में इसे Criticism नाम दिया गया।

पाठ शब्द से तात्पर्य उस लेख से है जो किसी ऐसी भाषा में लिपिबद्ध हो, जिसके ज्ञात या अज्ञात अर्थ की जानकारी पाठशोध करने वाले को हो। डॉ. पोस्टगेट ने इसकी परिभाषा देते हुए Encyciopaedia Britanica भाग 2 पृ. 6 में लिखा है– पाठालोचन पाठ निर्णय की उस कुशल एवं विधिवत् प्रक्रिया को कहते हैं जो किसी रचना के मूल पाठ के निर्धारण हेतु अपनायी जाती है। पाठ से तात्पर्य ऐसी भाषा में आबद्ध लेख से है जिसका ज्ञान पाठशोधक को किसी न किसी सीमा तक हो और जिसमें किसी अर्थ की उपस्थिति, जिसका निश्चय हो चुका है या हो सकता है स्वीकार की गई हो।

पाठालोचन का स्वरूप

प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन साहित्य की श्रीवृद्धि में सदैव सहायक रहा है। प्रारम्भ में यह कार्य बिना किसी विशेष विधि के अनुगमन के निरंकुश ढंग से एवं सम्पादक की रूचि के अनुकूल सम्पादित होता रहा किन्तु लैटिन, ग्रीक तथा अंग्रेजी आदि के प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादकों ने अपने सम्पादन अनुभव के आधार पर कुछ निश्चित सिद्धान्त स्थापित किये और एक विधि विशेष का प्रचलन किया जो अनुभव के आधार पर अत्यन्त वैज्ञानिक सिद्ध हुई। इस विधि का परिचय डॉ. जे. सी. पोस्टगेट ने अपने लेख 'टैक्स्टुअल क्रिटिसिज्म ऑफ़ ब्रिटानिका' विश्वकोष में दिया है। इन सिद्धान्तों का दिग्दर्शन Companison to Classical Studies पुस्तक कराती है।

सामग्री का संकलन, वंशवृक्ष निर्माण, पाठ का निर्धारण, उसकी अन्य रचनाओं से पाठ की संगति बैठती है या नहीं। इत्यादि बिन्दुओं का अध्ययन पाठानुसन्धान के अन्तर्गत समाहित है।

संस्कृत में पहले हर्टेल ने तथा बाद में एजर्टन ने पंचतन्त्र का पाठ स्थिर किया। पिशेल ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् का, स्टेन कोनोवा ने राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी का मैक्समूलर ने ऋग्वेद का, लुडविन आल्स्फोर्ड ने हरिवंश का सम्पादित संस्करण प्रस्तुत किया। पाश्चात्य विद्वानों में से सुकथणकर ने महाभारत के आदि पर्व का डॉ. पी.एल. वैद्य तथा डॉ. आर. जी. भण्डारकर ने पुष्यदत्त के 'आदि पुराण' तथा भवभूति के 'मालती माधव' का वैज्ञानिक संस्करण प्रस्तुत किया।

13.3 पाठालोचन की प्रक्रिया

पाठ निर्धारण की इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में किसी निश्चित और अन्तिम सिद्धान्त अथवा मानदण्ड का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। पाठालोचन की मूल प्रक्रिया क्या है, इसके सम्बन्ध में **Old Testament** के सम्पादक श्री जी. वी. ग्रे तथा ए. एम. पीस का कथन है– आलोचना की कई शाखाएं होती हैं। सर्वप्रथम पाठ के अन्दर आई हुई विकृतियों की पहचान की जानी चाहिए तथा जहाँ तक सम्भव हो मूल के निकटतम पहुँचने वाले पाठ का निर्धारण होना चाहिए। यह पाठालोचन या निम्नतर अर्थान्तर आलेख की आलोचना का कार्य है।

पाठालोचन की प्रक्रिया अत्यन्त तर्कपूर्ण है इसमें कार्य कारण सम्बन्ध की एक सुनिश्चितता होती है। जैसे यदि दो हस्तलिखित प्रतियों में प्रथम हस्तलिखित प्रति की सम्पूर्ण निश्चेष्ट विकृतियाँ दूसरी प्रति में प्राप्त हो और दूसरी में कुछ और निश्चेष्ट विकृतियाँ हों जो प्रथम में न हों तो पाठ सम्पादन के नियमानुसार निश्चित ही दूसरी प्रति प्रथम प्रति की प्रतिलिपि होगी। इसी प्रकार सम्पादन की इस प्रक्रिया के अन्य नियमों में भी कार्यकारण सम्बन्ध सुनिश्चित होने के कारण यह प्रक्रिया वैज्ञानिक प्रक्रिया भी है। इसमें निर्धारित नियमों के अनुगमन द्वारा निर्धारित निश्कर्षों पर पहुँचा जाता है परन्तु इसकी तुलना भौतिक विज्ञान के नियमों से नहीं की जा सकती। अन्य विज्ञानों की भांति इसमें भी शोधकार्य इसकी सीमा को विस्तृत करता रहता है। यह आगमन शैली का न होकर निगमन शैली का शास्त्र है अर्थात् विद्वानों ने भिन्न–भिन्न रचनाओं की पाठ समस्याओं को देखा और सामान्य अनुभव सर्वत्र प्राप्त कर उनके आधार पर कुछ नियम प्रतिपादित किये जो पाठालोचन या पाठ विज्ञान के नियम कहलाये।

किसी एक ग्रन्थ का पाठालोचन करने के लिए यह अपेक्षित है कि पहले उस ग्रन्थ की प्रकाशित तथा हस्तलेख में प्राप्त प्रतियाँ इकट्ठी की जावे तत्पश्चात् कालक्रमानुसार इन ग्रन्थों के पाठ की पारस्परिक तुलना करनी होगी और प्रतियों का शाखाओं के अनुसार वर्गीकरण किया जाना चाहिये। इसके उपरान्त प्रत्येक शाखा के मूलादर्शों का पाठ तैयार करके उन मूलादर्शों के ऊपर पाठ सम्पादन के सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा रचना के मूल पाठ की शोधना की जाती है।

वैज्ञानिक या शास्त्रीय सम्पादन में पाठों के लिए प्रतियों का प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण होता है तथा बिना प्रमाण के कोई भी पाठ संशोधित नहीं किया जा सकता है, अतः कभी–कभी इस शास्त्रीय सम्पादन को प्रामाणिक सम्पादन भी कहा गया है।

13.4 पाठालोचन की उपयोगिता

किसी रचना की मूल प्रति न मिले और एकाधिक प्रतिलिपियाँ उपलब्ध हों, ऐसे में उसके मूल पाठ तक पहुँचने के लिए पाठालोचन की आवश्यकता महसूस होती है। आधुनिक युग में मुद्रण यन्त्रों के आविष्कार ने आधुनिक रचनाओं के सम्पादन की समस्या को समाप्त कर दिया है किन्तु प्राचीन युग से चली आ रही साहित्य धारा के उचित मूल्यांकन के लिए यह आवश्यक है कि वैज्ञानिक सम्पादन द्वारा सर्वप्रथम प्राप्त ग्रन्थों का वास्तविक पाठ निर्धारित कर लिया जाये। जब तक किसी ग्रन्थ के वास्तविक पाठ का निर्धारण नहीं हो जाता, उसके सम्बन्ध में प्रकट किये गये विचार निरर्थक या भ्रमपूर्ण हो सकते हैं। Old

Testament के सम्पादकों का मत है–

साहित्य के सभी प्रमुख अध्ययनों का मूलाधार पाठ निर्धारण है। यह पाठ निर्धारण उतना सही होना चाहिए जितना सही पाठालोचन की प्रक्रिया द्वारा इसे प्रस्तुत किया जा सके लेकिन बहुत दिनों तक साहित्य की इस प्रथम आवश्यकता पर ही कोई विचार नहीं हुआ।

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर ही वैज्ञानिक सम्पादन या पाठानुसन्धान का कार्य अग्रसर होता है। मुद्रण यन्त्रों के अभाव में किसी लेखक की मूल प्रति से प्रतिलिपि होती थी, पुनः उस प्रतिलिपि की प्रतिलिपि और इसी प्रकार प्रतिलिपि की एक परम्परा चल पड़ती थी। मूल प्रति की प्रतिलिपि में स्वभावतः ही मूल पाठ से कुछ अन्तर आ जाता है। इसी प्रकार प्रतिलिपि परम्परा में क्रमशः अन्तर आने लगता है और इस परम्परा में जितने नीचे की प्रति होती है उसमें मूल पाठ से उतना ही अधिक अन्तर होता है। इसके अतिरिक्त कभी–कभी प्रतिलिपियों में जानबूझकर प्रक्षेप भी किये जाते हैं। यह क्रिया कई उद्देश्यों से की जाती है और इसके कारण मूल पाठ और प्रतिलिपि में काफी बड़ा अन्तर पाया जाता है।

यह भी देखा जाता है कि रचना का लेखन आधार अस्थायी होने के कारण प्राचीन रचनाओं के मूलपाठ की प्रतियां प्रायः नहीं मिलती हैं और प्रतिलिपियाँ ऊपर वर्णित अन्तरों के कारण एक दूसरे से भिन्न पाठ धारण किये हुए मिलती हैं। ऐसी दशा में पाठानुसन्धान के निश्चित सिद्धान्तों के अनुगमन द्वारा हमें मूल पाठ प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है। वैज्ञानिक विधि का अवलम्बन न करने के कारण अनेकानेक भ्रान्तियों की सम्भावना रहती है।

13.5 पाठालोचन के क्षेत्र

पाठ सम्पादन का उद्देश्य किसी रचना के मूल पाठ का पुनर्निर्माण करना होता है। अतः इस सम्बन्ध में कार्य करने वाले विद्वानों ने अनुभूति के आधार पर पाठ पुनर्निर्माण के क्रमागत विकास की सीढ़ियों को ध्यान में रखकर उसके सोपान या क्षेत्रों का उल्लेख किया है। प्राचीन समय में पाठालोचन के दो भाग किए जाते थे– पाठनिर्धारण (Recenstion) व पाठ सुधार (emendation)। आधुनिक समय में इसके चार भाग हो गए– 1. पाठ संग्रह व वंशवृक्ष निर्माण, सभी प्रतियों का संकलन तथा तुलनात्मक अध्ययन। 2. पाठ निर्माण अर्थात् तुलना के आधार पर उचित पाठ का निर्माण 3. पाठ सुधार 4. पाठ विवेचन। कात्रे के अनुसार स्रोतों का अध्ययन भी इसमें शामिल है। पाश्चात्य पाठ सम्पादन की चार सीढियाँ रही हैं–

1. सामग्री संग्रह (Heuristics)
2. पाठ चयन (Recension)
3. पाठ सुधार (Emendation)
4. उच्चतर आलोचना (Higher Criticism)

13.5.1 सामग्री संग्रह

सर्वप्रथम जिस पाठ का पुनर्निर्माण करना हो उससे सम्बन्धित सामग्री का संग्रह करना पड़ता है। इस प्रकार की सामग्री में मुख्य सामग्री व सहायक सामग्री इस प्रकार दो प्रकार की सामग्रियों का संग्रह होता है। इन सामग्रियों का संग्रह जिस भाषा में हुआ है और जिनकी हस्तलिखित पोथियों की सूचियाँ तैयार की गईं हों उनकी सहायता से यह कार्य किया जा सकता है। राजस्थान या सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजकीय पुस्तकालयों, निजी पुस्तकालयों, विभिन्न सरस्वती भण्डारों, जैन भण्डारों, अन्य हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डारों के सूचीपत्रों, शोधपूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों में उल्लिखित विवरणों के आधार पर सामग्री संग्रह में सहायता प्राप्त की जा सकती है।

सामग्री एकत्र कर हस्तलिखित ग्रन्थों के पत्रों को क्रमबद्ध कर लिया जाता है। कभी–कभी प्रतिलिपियों के पन्ने अलग–अलग पत्रों पर होने के कारण इधर–उधर हो जाते हैं और कभी वे

गलत ढंग से ग्रन्थित हो जाते हैं। कोई–कोई पन्ने टूट–फूट जाते हैं। कभी–कभी पत्रों के क्रम को ठीक रखने के लिए आने वाले पन्ने का प्रथम शब्द पहले वाले पन्ने पर लिख दिया जाता है, इनकी सहायता से पन्नों को क्रमबद्ध किया जा सकता है।

इसके पश्चात् सामग्री की सूक्ष्म परीक्षा की जाती है। प्रतियों की पुष्पिका के आधार पर उनकी प्रामाणिकता व काल का निर्धारण कर उन्हें तिथि क्रम से लगाना चाहिए। एक–एक पंक्ति को पढ़कर प्रत्येक प्रति से मिलान कर कम, अधिक व भिन्न पाठों को नोट कर लेना चाहिए।

13.5.1.1 सम्पादन सामग्री

सम्पादन के लिए उपयोगी ग्रन्थ व मूल ग्रन्थ की सभी प्रतिलिपियां सम्पादन सामग्री के अन्तर्गत आते हैं। यह सामग्री भी मुख्य व सहायक भेद से दो प्रकार की होती है।

(अ) मुख्य सामग्री

जिन हस्तलेखों में प्रस्तुत रचना का पाठ मिलता हो उन्हें मुख्य सामग्री कहा जाता है। इस वर्ग में प्रायः सम्पाद्य रचना की हस्तलिखित प्रतियाँ आती हैं जो मुद्रण के पूर्व हाथ द्वारा लिखी गई हों। मुख्य सामग्री को साधारणतया तीन भागों में विभाजित करते हैं–

1. **स्वहस्तलेख**– लेखक या कवि के हाथ की लिखी हुई मूल प्रति को स्वहस्तलेख कहते हैं। इस प्रकार की प्रति मिलने से सम्पादन व पाठ निर्णय की समस्या ही समाप्त हो जाती है।
2. **प्रथम प्रतिलिपि**– जिस प्रति का आदर्श लेखक की मूल प्रति हो, उसे प्रथम प्रति कहा जा सकता है। प्रथम प्रति एक भी हो सकती है और कई भी हो सकती हैं।
3. **प्रतिलिपि की प्रतिलिपि**– किसी भी रचना का प्रसार पहले प्रतिलिपियों के माध्यम से होता था। एक लेखक की एक प्रति से कई प्रतियां बन जाती थीं। ये सब प्रतिलिपियाँ कहलाती हैं।

ये दो प्रकार की हो सकती हैं एक तो शुद्ध पाठ की प्रतियाँ दूसरी मिश्र पाठ या भ्रष्ट पाठ की प्रतियाँ। शुद्ध पाठ की प्रतियों में किसी एक ही शाखा का पाठ सुरक्षित रहता है जबकि मिश्र पाठ की प्रतियों में एकाधिक शाखाओं का पाठ मिलता है। प्रतिलिपियाँ उपलब्धता व अनुपलब्धि के आधार पर भी दो प्रकार की हो सकती हैं।

(ब) सहायक सामग्री

सहायक सामग्री से तात्पर्य उस सामग्री से होता है जिसको पाठालोचक मुख्य आधार के रूप में प्रयुक्त न करके उसकी सहायता मात्र लेता है। ये कई प्रकार की हो सकती हैं– 1. संग्रह ग्रन्थ 2. टीका ग्रन्थ 3. अनुवाद या रूपान्तर 4. विवेचन ग्रन्थ 5. परिचय ग्रन्थ 6. अनुकरण ग्रन्थ 7. उसी रचयिता के अन्य ग्रन्थ 8. आधार ग्रन्थ।

प्राचीन काल में अच्छे लेखकों की रचनाओं के संग्रह तैयार किये जाते थे जिसमें वह कृति सुरक्षित रहती थी। टीका ग्रन्थों में भी उनका मूल रूप मिल जाता था या मूल पाठ निर्धारण करना आसान रहता है। कई महत्त्वपूर्ण कृतियों का अन्य भाषा में रूपान्तरण किया गया है जिसमें उस रचना के सुरक्षित रूप रहता है और उसके पाठ निर्धारण में सहायता मिलती है। लेखक की रचना या

जीवनी से सम्बन्धित कोई ग्रन्थ भी पाठ सम्पादन में सहायक हो सकता है। इसी प्रकार रचना या रचनाकार के परिचय से सम्बन्धित ग्रन्थ भी पाठ निर्धारण में सहायक होते हैं। किसी रचना का अनुकरण कर लिखे ग्रन्थ भी पाठ सम्पादन में सहायक हो सकते हें। जैसे मेघदूत की दो पंक्तियाँ लेकर लिखा पार्श्वाभ्युदय। किसी रचयिता के अन्य ग्रन्थ व उनकी भाषा भी किसी रचना विशेष के पाठ निर्धारण में सहायक हो सकते हैं। जिस कृति के आधार पर ग्रन्थ लिखा गया है, वह भी कृति के पाठ निर्धारण में सहयोगी बन सकता है।

13.5.2 पाठ चयन

पाठ चयन की क्रिया ही वस्तुतः पाठालोचन की मूल क्रिया है। इसमें सामग्री संग्रह में किये गये सूक्ष्म निरीक्षणों के आधार पर प्रतियों का सम्बन्ध निर्धारित करते हैं और उनका वंशक्रमानुसार वर्गीकरण करते हैं। पाठालोचन के कुछ विशिष्ट नियमों के आधार पर यदि प्रत्येक शाखा की प्रतियों की आदर्श प्रति उपलब्ध न हो तो उन शाखाओं के कल्पित आदर्शों या उपलब्ध आदर्शों के पाठ की तुलना द्वारा कल्पित मूलादर्श के पाठ तक पहुँचते हैं, जो पाठ रचना के अभीष्ट पाठ के अत निकट होता है।

13.5.3 पाठ सुधार

जिन स्थानों के पाठ की समस्या पाठ निर्धारण की विधि से नहीं हल की जा सकती है, उसके लिए पाठालोचक को पाठ सुधार करना पड़ता है। यह समस्या उन पाठों के सम्बन्ध में खड़ी होती है जो उस कृति की सभी उपलब्ध प्रतियों में भ्रष्ट मिलते हैं और किसी भी प्रकार से कवि प्रयोग सिद्ध नहीं कहे जा सकते तथा प्रसंगानुकूल भी नहीं होते हैं। वहाँ पर पाठालोचक पाठ सुधार कर सकता है परन्तु उसके द्वारा किया गया पाठ सुधार लेखानुसंगत और विषयानुसंगत होना चाहिए अर्थात् वह बहिरंग और अन्तरंग सम्भावनाओं द्वारा पुष्ट होना चाहिए।

13.5.4 उच्चतर आलोचना

पाठ की सम्पूर्ण समस्याओं को हल कर लेने के उपरान्त जिज्ञासु पाठको की मनस्तुष्टि के लिए तथा परवर्ती विद्वानों के उपयोग के लिए सम्पादन सम्बन्धी सूचनाएं दे देनी आवश्यक होती हैं। पाठालोचन के लिए उपलब्ध सामग्री का उल्लेख, सम्पादन के मानदण्डों की रूपरेखा तथा विवादग्रस्त पाठों के सम्बन्ध में पाठालोचक का निर्णय और उनके कारण आदि का निर्देश इसमें आवश्यक है। इन प्रमुख बातों के उल्लेख के साथ ही उस रचना के निर्माणकाल तथा उसकी प्रतिलिपियों का लिपिकाल आदि निर्धारण और यदि रचनाकार के सम्बन्ध में विवाद हो तो उसका निर्धारण आदि करना भी पाठालोचक का कर्तव्य है। ये बातें प्रायः भूमिका में दे दी जाती हैं।

13.6 पाठसुधार की प्रक्रिया

पाठ चयन के पूर्व ही सामग्री की समग्र परीक्षा करने के उपरान्त पाठालोचक विभिन्न पाठों के सम्बन्ध में जिस निर्णय पर पहुचता है, उसके चार सौपान हो सकते हैं–

1. पाठ की स्वीकृति
2. पाठ के सम्बन्ध में सन्दिग्धता
3. पाठ का त्याग
4. पाठ सुधार।

पाठ सुधार प्रतिलिपि परम्परा में प्राप्त होने वाले सभी अविश्वसनीय तत्त्वों को दूर करने का प्रयास है। यह अन्तरंग और बहिरंग सम्भावनाओं पर आधृत होता है। इन सम्भावनाओं को क्रमशः लेखानुसंगति तथा

पाठानुसंगति भी कहा जाता है। पाठ चयन में उन पाठों का ग्रहण होता है जो पाठ उपलब्ध पाठों में सबसे अधिक लेखानुसंगत और पाठानुसंगत हो, पर पाठ सुधार में प्रस्तुत कल्पित पाठ को पूर्णतः इन दोनों संगतियों की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए। इस कल्पना का औचित्य केवल सम्भावना से निश्चित या निश्चितता के निकट होने पर ही नहीं माना जा सकता, प्रत्युत इसका औचित्य कल्पित पाठ के सटीक और सर्वशुद्ध होने पर ही माना जाता है। डॉ. कात्रे ने पाठ सुधार की परिभाषा देते हुए कहा है कि पाठ सुधार शाब्दिक अर्थ में पाठ संशोधन नहीं होता जो प्रतियों में अर्थहीन या असन्तोषजनक अर्थयुक्त पाठों से उत्कृष्टतर अर्थ निकालने के लिए किया जाये, प्रत्युत यह परस्पर विरोधी पाठों की सहमति के एक बिन्दु पर मिलाने का एक काल्पनिक प्रयास होता है।

अन्तरंग सम्भावनाएं

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत जिन बातों की परीक्षा करके पाठ की उपयुक्तता का पता लगाया जा सकता है, उन्हें अन्तरंग सम्भावनाएं कहते हैं। इस दृष्टि से निम्नलिखित बातों की परीक्षा की जानी चाहिए–

1. **प्रसंग**– सम्भावित पाठ को प्रस्तुत करते समय पाठालोचक को प्रसंग का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। शब्द साम्य या तुकान्त साम्य के कारण होने वाली विकृतियों से पाठ कुछ छूट जाता है और प्रस्तुत प्रसंग में व्यवधान पड़ जाता है। पाठ सुधार सर्वदा अर्थानुकूल व प्रसंगानुकूल होना चाहिए।
2. **सार्थकता**– पाठ की सार्थकता का प्रसंग से अनन्य सम्बन्ध है। निरर्थक पाठ कभी प्रसंग के अनुकूल नहीं हो सकता। किन्तु पाठ की सार्थकता का निराकरण होने के साथ–साथ पाठालोचक के लिए विशेष ज्ञान तथा सतर्कता की अत्यन्त आवश्यकता होती है।
3. **छन्द की गति**– जो पाठ छन्द की गति के प्रतिकूल पड़े वहाँ अन्य सम्भावनाओं पर विचार करके देखना चाहिए कि वहाँ पर क्या उपयुक्त पाठ रहा। इसी प्रकार पाठ सुधार में प्रस्तुत किया जाने वाला पाठ भी कवि प्रयोग सिद्ध छन्दोविधान के अनुकूल पड़ना चाहिए। यथा रामायण का पाठ सुधार करते समय अनुष्टुप् छन्द का विचार करना आवश्यक है।
4. **व्याकरण शैली**– पाठ सुधार में ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्तुत पाठ कहीं परवर्ती व्याकरण के प्रयोग के अनुकूल तो नहीं है। उसे तो रचनाकाल के प्रयोगों के अनुकूल होना चाहिए। वैदिक वाङ्मय सम्बन्धी रचना में लौकिक व्याकरण को दृष्टि में रखकर पाठ सुधार किया जाना पाठालोचन के विरुद्ध कहलायेगा। यथा वहाँ तृतीया बहुवचन में 'देवेभिः' पाठ मिलता है, जबकि लौकिक में 'देवैः' इसे ध्यान में रखकर ही पाठ सुधार किया जाना चाहिए।

इन संगतियों की सम्पूर्ण परीक्षा को अन्तरंग परीक्षा कहते हैं। अन्तरंग सम्भावना का सम्बन्ध केवल उन्हीं पाठों से होता है जो मूल लेखक के होते हैं। इनका सम्बन्ध प्रतिलिपिकारों द्वारा प्रस्तुत प्रक्षिप्त पाठ नहीं होता।

बहिरंग सम्भावनाएं

मूल पाठ के ऊपर बाह्य प्रभावों के कारण पाठ कुछ का कुछ बन जाता है। ये कारण साधारणतया लिपि सम्बन्धी ही हुआ करते हैं। प्रत्येक लिपि में कुछ वर्ण एक–दूसरे से मिलते–जुलते रहते हैं। उनके इस साम्य के कारण एक शब्द के स्थान पर दूसरा हो जाना अत्यन्त सरल हो जाता है। लिपि– भ्रम या लेखन प्रमाद से हुई विकृतियों की परीक्षा को बहिरंग सम्भावनाएं कहते हैं। इन विकृतियों का सीधा सम्बन्ध प्रतिलिपिकार से होता है, लेखक से नहीं।

पाठ सुधार वहीं प्रस्तुत किया जा सकता है, जहाँ प्रस्तुत किया जाने वाला पाठ अन्तरंग और बहिरंग दोनों सम्भावनाओं के अनुकूल पड़ता हो। पाठ सुधार में इन दोनों सम्भावनाओं का सामान महत्त्व है। यदि कोई पाठ अन्तरंग सम्भावना से तो उपयुक्त हो, किन्तु उसकी बहिरंग सम्भावना की कोई संगति

न हो तो उसे पूर्व पाठ के स्थान पर सुधार के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता है। इस भाँति जिस प्रस्तुत किये जाने वाले पाठ की बहिरंग सम्भावना तो पूरी–पूरी सम्भव हो जाए, किन्तु अन्तरंग सम्भावनाओं की दृष्टि से वह निरर्थक हो तो उसे भी सुधार के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। प्रतियों में दो या दो से अधिक पाठ मिलते हों, तो उस दशा में पाठालोचक को सर्वाधिक सुन्दर पाठ ग्रहण करना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो पाठालोचक को पाठ सुधार के कार्य से परहेज ही करना चाहिए। उसे अपने कार्य को पाठ– चयन तक ही सीमित रखने का प्रयास करना चाहिए। टूटे– फूटे अंश को स्थायी काम चलाऊ पाठों से स्थानापन्न कर देना चाहिए। यदि निश्चेष्ट विकृतियां हैं, चाहें प्रतिलिपिकार की हों या लेखक की, वह उसका सुधार कर सकता है। महाभारत के आदि पर्व के सम्पादक डॉ. सुकथनकर ने कम से कम पाठ सुधार किया है। उन्होंने 7000– 8000 श्लोकों के आदि पर्व में केवल 36 पाठ सुधार किये, वह भी उन्हीं स्थानों पर जहाँ वह अत्यावश्यक था। डॉ. सुकथनकर ने इस सम्बन्ध में अपनी मान्यता प्रकट करते हुए स्वयं कहा है कि मैंने अच्छी हस्तलिखित प्रतियों के पाठ को त्याग करने और सुधारने में झिझक से काम लिया है। उपलब्ध पाठ की व्याख्या को पाठ सुधार पर आद्योपान्त वरीयता दी गई है। पाठ सुधार करते हुए कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है–1. पाठ प्रसंगोचित होना चाहिए। 2. अर्थ से संगति रखता हो। 3. कवि या लेखक की विचारधारा या दृष्टिकोण के अनुरूप हो। 4. कवि की विशिष्ट भाषाशैली के अनुरूप हो। 5. व्याख्या सम्मत हो। 6. छन्द योजना भी कवि के अनुरूप हो।

13.7 पाठ विकृति के प्रकार एवं कारण

प्राचीन काल में मुद्रण कला का विकास न होने के कारण रचनाकार अपनी रचनाओं का प्रतिलिपि के माध्यम से संरक्षण व प्रचार करते थे। जब रचयिता स्वयं अपने ग्रन्थ की प्रतिलिपि करता था तो पाठ विकृति की सम्भावना नगण्य रहती थी। जब प्रतिलिपि का कार्य अन्य व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया जाता था तब लिपिक की कितनी ही प्रकार की अयोग्यताओं के कारण पाठ अशुद्ध हो जाता था, यथा लिपिक में रचयिता की लिपि को ठीक–ठीक पढ़ने की योग्यता न हो तो पाठ अशुद्ध हो जायेगा। सभी लेखकों के हस्तलेख सुन्दर नहीं होते, यदि लिपिक बुद्धिमान् न हुआ और ग्रन्थ के विषय से अपरिचित हुआ अथवा उसका शब्दकोष बहुत सीमित हुआ तो वह किसी शब्द को कुछ का कुछ लिख सकता है। प्रतिलिपि के समय मूल पाठ में परिवर्तन, परिवर्धन, प्रक्षेप, लोप आदि द्वारा कई विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं, इन्हें पाठ विकृति कहा जाता है। पोस्टगेट ने **Encyciopaedia Britanica** में पाठ विकृति के दो प्रकार बतायें हैं–

1. बाह्य विकृतियां– पन्ने फटना, कीड़े लगना आदि।
2. अन्तरंग विकृतियां– 1. सहज 2. सचेष्ट।

पाठालोचन सम्पादन कार्य का ही एक नाम है। पाठ शब्द टैक्स्ट **(Text)** का ही वाचक है। किसी भी लेखक द्वारा प्रयुक्त वह शब्द जो मूल रूप में वहाँ पाया गया है उसे पाठ कहते हैं। पाठ सम्पादन के स्तर के आधार पर उसके दो प्रकार हो सकते हैं– 1. स्थानीय स्तर– यथा प्रत्येक विश्वविद्यालय में हो रहा पाठ सम्पादन विषयक अनुसन्धान। ऐसा शोधार्थी सभी लिपियों को नहीं जानता। अतः क्षेत्रीय आधार पर कार्य करता है। सीमित ज्ञान के कारण यहाँ पाठ विकृति की सम्भावना बनी रहती है। 2. राष्ट्रीय स्तर– राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले सम्पादन में इन बातों को ध्यान रखना होता है कि (क) पाठ निर्धारण के लिए कौनसा पाठ उपयुक्त है। (ख) शब्दकोष, होना आवश्यक है। (ग) शुद्ध रूप से संस्कृत व्याकरण का ज्ञान (घ) पारिभाषिक शब्दकोष का ज्ञान। बृहत्सम्पादन के अन्तर्गत सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि को पाठ के लिए मूल प्रति मानकर फिर कितनी लिपि की पाण्डुलिपि हैं। इनका परिज्ञान करके प्रत्येक लिपि के विज्ञ सम्पादक नियुक्त करने होंगे। मूलप्रति के पाठ को लिखकर अन्य प्रतियों में आये परिवर्तनों का अंकन करते जायेंगे। प्रमुख सम्पादक ग्राह्य व अग्राह्य लिपि का निर्धारण करते हैं

और मूल पाठ में परिवर्तन अपेक्षित हों तो उसे निर्धारित करते हैं।

प्रतिलिपियों में आए पाठ भेदों अथवा विकृतियों के अनेकानेक कारण होते हैं– 1. चाक्षुष कारण– प्रतिलिपि कर्ता 'व' 'ब' का भेद 'प' 'ष' का भेद दृष्टिदोष के कारण नहीं कर पाता और पाठ विकृत कर बैठता है।

1. मनोवैज्ञानिक

मानसिक रूप से अस्वस्थ होने पर लिपिकार कुछ का कुछ लिख देता है।

2. आकस्मिक

अक्षर आदि छूटने, अक्षर विपर्यय आदि से उत्पन्न विकृतियां इसी प्रकार की विकृतियां हैं। यथा 'मद् विषयवासिनः' के स्थान पर 'मदविषवासिनः' का प्रयोग होना।

3. भ्रान्तिमूलक

कभी–कभी लिपिकार भ्रमवश अनेकानेक गलतियां कर बैठता है। ये भ्रान्ति कई कारणों से होती है।

1. वर्ण साम्य– जब पंक्ति में पास–पास एक से अधिक समान वर्ण आ जाते हैं तो बीच का वर्ण समान वर्ण होने से लिखने से छूट जाता है।
2. शब्द साम्य– कभी–कभी समान शब्दों का एक वाक्य में प्रयोग होने से अषुद्धि की सम्भावना बढ जाती है। साधारण समरूपता के कारण शब्दों को अशुद्ध लिख देता है। साथ ही एक पेरे में एकाधिक समान शब्द होने से प्रतिलिपि कर्ता पूरी की पूरी पंक्ति भी लुप्त कर देता है।
3. संक्षिप्त रूपों का विपरीत अर्थ लगाने से भी समस्या हो सकती है। प्रतिलिपिकार लेखक के संकेत चिह्नों को नहीं समझ पाता और अशुद्धि कर बैठता है।
4. अशुद्ध समास विग्रह के कारण भी अशुद्धि की सम्भावना बढ़ जाती है। व्याकरण ज्ञान की न्यूनता इस अशुद्धि का कारण होता है।
5. शब्द का अन्वय नहीं कर पाने के कारण भी अशुद्धि हो जाती है।
6. पुनरावृत्ति– प्रतिलिपि करते समय कई बार लिपिकार शब्द, पंक्ति अथवा वाक्य के वाक्यों की पुनरावृत्ति कर बैठता है, इस कारण भी कई बार भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है।
7. शब्दों के अन्तिम अक्षरों को अशुद्ध रीति से मिलाने से भी पाठ विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।
8. कभी–कभी वर्णों, शब्दों, वाक्यों, खण्डों अथवा पृष्ठों का विपर्यय हो जाता है। ऐसा खुली पाण्डुलिपियों में अधिक होता है। लेखक लिखते लिखते बीच में विराम देता है, पुनः लेखन के समय पन्ना पलट जाने से कुछ अंश छूट सकता है अथवा आगे पीछे हो सकता है।
9. प्राकृत अथवा आधुनिक भाषाओं में संस्कृत का अशुद्ध प्रयोग होने से तथा प्राकृत आदि भाषाओं के अंशों का संस्कृत में अशुद्ध प्रयोग होने से भी पाठ विकृति उत्पन्न हो सकती है।
10. उच्चारण परिवर्तन अथवा गलत उच्चारण के कारण भी पाठ विकृति हो सकती है।
11. अंकों को ठीक से नहीं समझ पाने के कारण भी पाठ अशुद्ध हो जाता है।
12. नाम वाचक संज्ञाओं में भ्रान्ति के कारण। यथा दक्षिण भारत में सुन्दरम् (Sundaram)

का राजस्थानी में सूंडाराम उच्चारण नाम वाचक संज्ञा में भ्रम के कारण हो सकता है।

13. पुरानी वर्तनी के स्थान पर नई वर्तनी के प्रयोग से भी पाठ सम्बन्धी अशुद्धि होती है।

14. क्षेपक अथवा अनजाने में हुई भूलों के परिणामों में सुधार का प्रयास करता हुआ लिपिकार नई गलतियां कर बैठता है।

15. दो पंक्तियों के बीच अथवा हाशिये में अपनी ओर से कुछ जोड़कर पाठ वृद्धि कर देता है। साथ ही निकटवर्ती छन्द अथवा पाठ की पुनरावृत्ति कर देता है।

16. प्रक्षिप्त पाठ का प्रक्षेप करके भी पाठवृद्धि की जा सकती है।

F.W.Z.Hale ने Companion to classical text में तीन भेद किए हैं– 1. भ्रम और उनको दूर करने के उपाय, 2. पाठह्रास 3. पाठवृद्धि। भ्रम के कारण होने वाली विकृतियों को 13 वर्गों में बांटा गया है– समानाक्षरों से, सूत्रों की गलत व्याख्या से, अशुद्ध समीकरण से, अज्ञात भाव से आदि।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने आठ विकृतियां बताई हैं– 1. सचेष्ट पाठ विकृति, 2. लिपि जनित, 3. लेखन सामग्री जनित, 4. भाषाजनित, 5. छन्द जनित, 6. प्रतिलिपि जनित, 7. प्रक्षेप जनित, 8. पाठान्तर जनित।

मिथिलेश कांति के अनुसार दो भेद हैं–

1. बाह्य विकृतियां

2. अन्तरंग विकृतियां

(अ) पाठ परिवर्तन (ब) पाठ वृद्धि (स) पाठह्रास

पाठवृद्धि के भेद

कभी–कभी पाठ के वर्णों व अक्षरों में परिवर्तन की बजाय नवीन पाठ का संयोजन कर दिया जाता है।

1. पुनरावृत्ति – यद्यपि लिपिकार का संकल्प 'मक्षिका स्थाने मक्षिका पात' अर्थात् मूल को देखकर ज्यों की त्यों प्रतिलिपि कर देना ही होता है, लेकिन अज्ञान, प्रमाद अथवा भूलवश ऐसा नहीं हो पाता। कभी–कभी लिखते समय वर्ण, शब्द अथवा वाक्य की भी पुनरावृत्ति हो जाती है। एक समय लेखन नहीं होने से पुनः लिखते वक्त कई बार सम्पूर्ण पृष्ठ का पुनर्लिपिकरण हो जाता है।

2. हाशियें को मूल में मिला देना – मूल लेखक किसी बिन्दु विशेष के स्पष्टीकरण अथवा स्मृति के लिए लिखते समय हाशिये में कुछ लिख देता है, लिपिकर्ता उसे मूल के साथ मिलाकर लिख देता है। इससे पाठवृद्धि हो जाती है।

3. मिश्रपाठ – लिपिकार एंकाधिक प्रतियों से प्रतिलिपि करता हुआ दोनों या अधिक प्रतियों से कुछ अंश लेता हुआ प्रति तैयार करता है, ऐसी प्रति मिश्रपाठ कहलाती है। प्रत्येक प्रति की कुछ कुछ विकृतियां इससे जुड़ जाती हैं।

4. सदृश लेख – कई बार लिखते समय लेखक समान लेख होने के कारण भी पाठ वृद्धि कर देता है।

5. प्रक्षेप – पाठवृद्धि का महत्त्वपूर्ण कारण प्रक्षेप कहे गए हैं। प्राचीन ग्रन्थ में क्षेपकों अथवा प्रक्षेपों का समावेश प्रचुर मात्रा में हो जाता है। क्षेपकों के कारण कुछ काव्यों को नये नाम से पुकारा जाने लगा है। उन्हें विकसनशील काव्य कहा जाता है। प्रक्षेपों के कारण ही महाभारत 'जय', 'भारत' एवं 'महाभारत' रूप में परिणत हुई। महाभारत के अध्येता मानते हैं कि मूल रूप में यह काफी छोटा था।

हमारे यहाँ कथा कहने की परम्परा रही है। कथावाचक कुछ संक्षिप्त प्रकरणों एवं प्रसंगों के विश्लेषण व स्पष्टीकरण के लिए उसमें विस्तार कर देता है और स्वयं की रचना को उसमें जोड़ देता है। रामचरितमानस में गंगावतार का प्रसंग ऐसा ही प्रक्षेप माना गया है।

प्रक्षेप के कारण

ग्रन्थों में प्रक्षेप के कई कारण हो सकते हैं। सामान्यतः पाँच कारणों से किसी रचना में प्रक्षेपों का समावेश होता है।

1. किसी कवि द्वारा अपने उपयोग के लिए ऐसे स्थलों को जोड़ देना, जो उसे उपयोगी प्रतीत होते हैं, यह उपयोगिता दो रूपों में हो सकती है।
   (क) किसी विशेष प्रकरण को और अधिक पल्लवित करने के लिए।
   (ख) कवि का अपना स्वतन्त्र ग्रन्थ जो उसके पाठ्यग्रन्थ के किसी अंश से सम्बन्धित हो और जो उसे लगे कि मूल कवि की कृति में जुड़कर उसे प्रसन्नता प्रदान करेगा।
2. एक ही विषय के भिन्न–भिन्न स्वतन्त्र कृतित्त्वों को किसी अन्य व्यक्ति द्वारा एक में यथा सन्दर्भ सम्पादित कर देना। कुछ कवि इस बात को स्वयं लिख देते हैं, कुछ चुप रहते हैं।
3. कभी–कभी कवि के अधूरे काव्य को उसी कवि के पुत्र या शिष्य पूरा करते हैं या उसमें आगे कुछ परिवर्द्धन करते हैं, कभी कभी पूर्व कृतित्व को भी संशोधित कर देते हैं। कादम्बरी के सम्बन्ध में सर्वविदित है कि बाणभट्ट के पुत्र पुलिन भट्ट ने कथा को पूर्ण किया था।
4. किसी बिखरी सामग्री को एक व्यवस्था में रखते समय बीच की लुप्त कड़ियों को जोड़ने के प्रयत्न भी कविगण करते हैं और ये कड़ियां या तो व्यवस्था करने वाला कवि अपने कोशल से जोड़ देता है। जैसे कुशललाभ ने लोक प्रचलित **ढोला मारू रा दूहा** के दोहा को लेकर उन्हें व्यवस्था में बांधा और कथा पूर्ति के लिए बीच बीच में चौपाई द्वारा अपना कृतित्त्व दिया। इस प्रकार पूरक कृतित्व के रूप में वह एक अन्य कृति में अपने कृतित्व का समावेश कर देता है।
5. मुक्तक संग्रह में समान भाव के मुक्तक अन्य कवियों द्वारा जोड़ दिये जाते हैं। कभी–कभी प्रक्षेप करने वाला कवि की लोकप्रियता देखकर उसके नाम से अपने पद्य प्रस्तुत कर देता है। भर्तृहरि के शतकों में ऐसे कई प्रक्षेप जुड़ गए हैं।

पाठह्रास

प्रक्षेपों की भांति ही काव्यों में छूट भी हो सकती है। प्रतिलिपिकार कभी तो प्रमाद में कोई पंक्ति, शब्द या अक्षर छोड़ जाता है पर कभी वह प्रतिलिपि किसी विशेष दृष्टि से करता है और कुछ अंशों को अपने लिए अनावश्यक समझ कर छोड़ देता है। एक ही शब्द या अक्षर से आरम्भ या अन्त होने वाले शब्दों को छोड़ देने से पाठह्रास होता है। यह प्रमाद दृष्टिकोण कहा जा सकता है। लोपकप्रमाद के कारण लिपिकार किसी शब्द को या वाक्य के किसी अंश को ही छोड़ देता है।

पाठ परिवर्तन

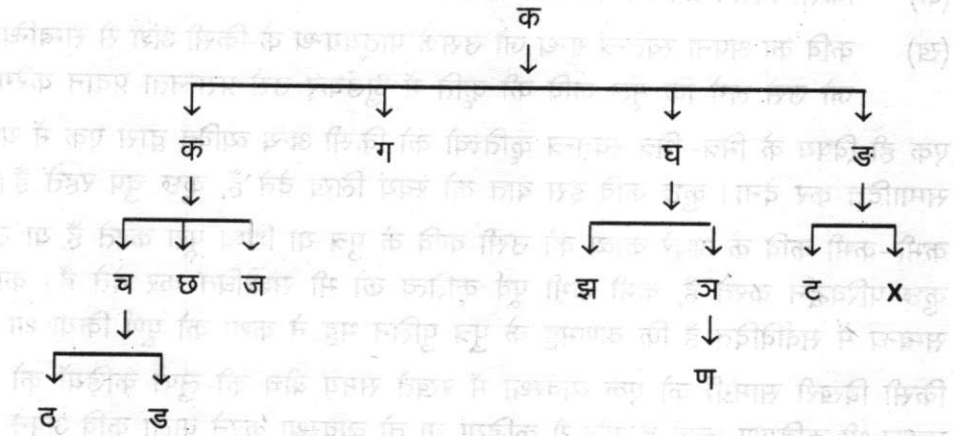
शब्द विकार, शब्द विपर्यय आदि अनेकानेक कारणों से पाठविकृति उत्पन्न होती है। भ्रान्तिमूलक कारणों में अधिकांश पाठ परिवर्तन के कारण कहे जा सकते हैं। सदृश या असदृश पर्यायों या विपर्ययों का स्थानान्तरण भी पाठ परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण कारण है। यथा– 'अधिगच्छ दिशं पूर्वाम्' के स्थान पर 'अभिगच्छ दिशं पूर्वाम्' पाठ अथवा 'नरेश्वर' के स्थान पर 'नरोत्तम' या 'नराधिप' का प्रयोग भी पाठ परिवर्तन का कारण बनता है।

13.8 वंशवृक्ष निर्माण

वंशवृक्ष के निर्माण का उद्देश्य प्रतियों का विकास क्रम क्या रहा है? यह देखना है। त्रुटियां भी वंशवृक्ष को बनाने में सहायक होती हैं। 'क' नामक मूल प्रति पूर्ण शुद्ध है। 'क' से चार प्रतिलिपियां हुई 'ख' 'ग' 'घ' 'ङ'। 'ख' में दो अशुद्धियां प्रतिलिपिकार द्वारा हो गईं। 'ग' में तीन और इसी प्रकार 'घ' व 'ङ' में क्रमशः चार व पाँच अशुद्धियां हो गईं। 'ख' से फिर तीन प्रतिलिपि हुई– 'च' 'छ' 'ज'। 'ख' की दो

अशुद्धियां व अपनी–अपनी 3, 4, 5 और हो गईं। 'ग' से 'झ' 'ञ' प्रतियां हुईं जिनमें तीन त्रुटियां तो 'ग' की एवं 6, 7 अपनी हो गईं। इसी प्रकार 'घ' और 'ङ' की भी हुईं। इनकी (ख ग घ ङ) समान अशुद्धियां एक शाखा का निर्माण करने में सहायता देती हैं और वंशवृक्ष का निर्माण करने में समर्थ होती हैं। प्रतियों के विकास क्रम की पुनर्स्थापना ही वंशवृक्ष की जाती है। इसका महत्त्व दो दृष्टियों से परे हैं– 1. पाठ निर्धारण 2. उन प्रतियों का आपेक्षिक महत्त्व।

वंशवृक्ष का निर्माण



जिससे प्रतिलिपि की जाती है उसे आदर्श कहते हैं। प्रतिलिपि की आधार प्रति मूल प्रति भी हो सकती है और प्रतिलिपि भी। दोनों ही भावी प्रतिलिपि की आदर्श हो सकती हैं।

वंशवृक्ष निर्माण के सोपान

1. सामग्री संग्रह और उनका परीक्षण
2. सामग्री में उपलब्ध विशिष्टताओं का अध्ययन
3. सम्बन्ध निर्धारण और वंशवृक्ष का निर्माण

प्रामाणिक व विश्वसनीय प्रतियों की परीक्षा के बिन्दु –

1. जिनमें भाषा व व्याकरण के रूप सुरक्षित हैं वे अधिक विश्वसनीय हैं और जो नवीन रूप हैं वे कम विश्वसनीय हैं।
2. जिनमें काव्यशास्त्र की मानयताओं का पालन किया गया हो उनको अधिक विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है।
3. जिन प्रतियों में आदर्श प्रति के त्रुटित अंशों का उल्लेख है, वह अधिक विश्वसनीय हैं।
4. जिनमें कम प्रक्षेप होंगे वे अधिक विश्वसनीय होंगी।
5. 1660 वाली प्रति 1670 वाली की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होगी। परन्तु कोई यदि प्रथम पीढ़ी से प्रतिलिपि है तो वह बाद के समय की होने पर भी अधिक विश्वसनीय है।
6. पाठरूप का अध्ययन (अ) पूरा पाठ एक प्रतिलिपिकार का है या नहीं (ब) जो प्रतिलिपि की गई है वह एक ही प्रति से की गई है या अनेक प्रतियों से की गई।
7. प्रत्येक खण्ड का अलग–अलग निर्धारण करना।
8. प्रति का मूल पाठ क्या है।
9. प्राप्ति का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है–यथा प्रति किस परम्परा को दे रही है।
10. क्या प्रति कवि की हस्तलिखित है? यदि है तो पूर्ण विश्वसनीय है।

11. कवि की वंश परम्परा में प्राप्त प्रति का पाठ सर्वाधिक प्रामाणिक है, यह मानना भी ठीक नहीं।

12. पाठ की शुद्धि, व्याकरण सम्मत प्रयोग, प्रसंगों का औचित्य, सुन्दर लिपि आदि इस बात का, निश्चित प्रमाण नहीं है कि प्रति प्रामाणिक है। इन गुणों के अभाव में भी प्रति को प्रामाणिक माना जा सकता है किन्तु गुणों के सद्भाव में प्रति को निश्चित रूप से प्रामाणिक माना जाये ऐसा नहीं है।

13. पूर्व धारणाओं से बचना चाहिए। जैसे सूरदास सगुण ब्रह्म के उपासक हैं अतः निर्गुण की बात नहीं करेंगे– ऐसी पूर्व धारणा नहीं रखनी चाहिए।

प्रतियों का परस्पर मिलान

(अ) सर्वप्रथम संक्षिप्त रूप वाली प्रति लेनी चाहिए।

(ब) प्रतियों का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन।

1. ग्राफ विधि 2. खाने बनाकर।

प्रतियों के सम्बन्ध निर्धारण के साधन

1. पाठ लोप और पाठ व्यत्यय (उलट–पुलट) से परस्पर शाखाओं के सम्बन्ध निर्धारण के काम आते हैं।

2. विशिष्ट समानताएं– अ. विशिष्ट पाठ– कोई अंश विशिष्ट रूप से जुड़ा हो। ब. शैली की विशिष्टता कथन की श्रृंखला– कुछ प्रतियों में इस क्रम को तोड़ा गया है। इस बाधा को विशिष्ट समानता कहा जाता है।

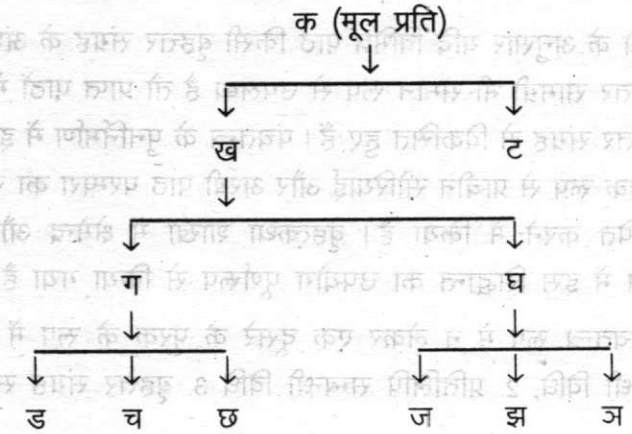
3. प्रक्षेपों के आधार पर– पूरा–पूरा अंश अध्याय कथायें, जोड़े गए अंश का समान प्रतियों में मिलना और किसी विशिष्ट स्थान पर होना इस रूप में अलग कर सकते है। कबीर ग्रन्थावली में डॉ0 पारसनाथ तिवारी ने निम्न विशेषताओं को महत्त्व दिया है– 1. फारसी लिपि जनित विकृति साम्य 2. काशी लिपि जनित विकृति साम्य 3. राजस्थानी प्रभाव साम्य 4. पंजाबी प्रभाव साम्य 5. पुनरावृत्तियों में साम्य।

पाठ सम्बन्ध के प्रकार

1. मुख्य 2. गौण।

1. मुख्य – प्रथम सम्बन्ध का दूसरा नाम ही शुद्ध सम्बन्ध है। मुख्य सम्बन्ध वह सम्बन्ध है जिसके द्वारा किसी कृति के पाठ विकास की विभिन्न शाखा की प्रतियों का सम्बन्ध मूलादर्श से होता है। यह वह विशेषता है जो कि मूलादर्श थी तथा जो ग्रन्थ की पाठ परम्परा की समस्त शाखाओं में प्रतिलिपि द्वारा चली जाती है।

मुख्य सम्बन्ध के दो भेद हैं– 1. अशुद्धि साम्यजनित 2. शुद्धि साम्य जनित।



'ख' और 'ट' का सम्बन्ध शुद्धि साम्य के आधार पर है। अशुद्धियों के अतिरिक्त जो शुद्ध पाठ है वह इन दोनों का समान है और उन दोनों का मूलादर्श कोई दूसरा होगा।

अन्तः साक्ष्य विषयानुसंगति के आधार पर यह प्रति कवि की मूल प्रति है, इसका पता चलता है। यह हमें प्रतियों की प्राचीनता के आधार पर पाठ को एकदम कविकृत मान लेने की गलती से सावधान करता है। संक्षेप में मुख्य शुद्ध पाठ वाली प्रति का महत्त्व यह निश्चित करने में हैं कि यह प्राप्त पाठ मूलपाठ हैं या नहीं।

2. गौण साम्य (संकीर्ण सम्बन्ध) – वे समस्त साम्य जिनके आधार पर मूलपाठ से नीचे के स्तर का पाठ ज्ञात होता है संकीर्ण या गौण साम्य कहलाता है और उस आधार पर निर्मित सम्बन्ध संकीर्ण या गौण सम्बन्ध कहलाता है। संक्षेप में जब किसी ग्रन्थ की कुछ उपशाखाओं में ही (सभी शाखाओं में नहीं) ऐसा साम्य मिलता है, जिसके द्वारा उनका परस्पर सम्बन्ध प्रतीत होता है तो इन साम्यों को संकीर्ण साम्य कहते हैं। विकार होने के कारण यह मूल प्रति की तुलना में गौण हो जाते हैं। इसीलिए इन्हें गौण सम्बन्ध कहा जाता है।

संकीर्ण या गौण सम्बन्ध निर्धारण की विधि से इजर्टन (एडगर्टन) ने पंचतन्त्र के पाठ को निर्धारित किया था।

1. प्रक्षिप्त कथाओं के आधार पर इस सम्बन्ध को स्थापित किया है। समाख्यायिका की 5 कथायें क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी में एक ही स्थान पर उपलब्ध होती हैं। अनेक शाखाओं में अनेक स्थलों पर महत्त्वपूर्ण और ध्यानाकर्षित करने वाले ऐसे स्थल मिलते हैं जो मूलादर्श में नहीं मिल सकते। स्वतन्त्र रूप से विभिन्न शाखाओं से आकर एक ही स्थल पर होना सम्भव नहीं है अतः वे संकीर्ण सम्बन्ध स्थापित करेंगे। ये स्थल जितने विस्तृत होंगे सम्बन्ध उतना ही संकीर्ण होगा।
2. इसका प्रयोग भी इजर्टन ने किया था। छोटे–छोटे विवरणों में निरन्तर और प्रभूत पाठ साम्य हो, ये साम्य अतिनियमित हो और यह भी स्पष्ट हो कि वह मूलपाठ से सम्बद्ध नहीं है तब उससे संकीर्ण सम्बन्ध निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार के सम्बन्ध निर्धारण में 4 बातों का ध्यान रखना आवश्यक है– (अ) पाठ साम्य छोटे–छोटे शब्दों और प्रयोगों तक में पाया जाये। (ब) इसकी व्याप्ति नियमित और आद्यन्त होनी चाहिए। (स) इसकी स्थापना में भिन्न–भिन्न शाखाओं के पाठों की सर्वांगीण तुलना की गई है। कुछ स्थलों की तुलना के आधार पर निर्णय न लिया गया हो। (द) उक्त पाठ साम्य ऐसा दोषपूर्ण हो कि इसे मूल पाठ का न माना जा सके। उदाहरणार्थ– नेपाली पाठ और हितोपदेश में तथा तंत्राख्यायिका और पूर्णभद्र में संकीर्ण सम्बन्ध के आधार पर ही दक्षिणी पंचतन्त्र को सिद्ध किया गया है। इजर्टन ने पंचतन्त्र के सम्बन्ध में इस विधि का प्रयोग किया है और यह ऊपर की दो प्रतियों की अपेक्षा कम प्रामाणिक मानी जाती है।
3. इस तीसरी विधि के अनुसार यदि विभिन्न पाठ किसी बृहत्तर संग्रह के अंश हैं और उनमें बृहत्तर संग्रह की विषयेतर सामग्री भी समान रूप से उपलब्ध है तो प्राप्त पाठों में संकीर्ण सम्बन्ध होगा और वे उस बृहत्तर संग्रह से विकसित हुए हैं। पंचतन्त्र के पुनर्निर्माण में इजर्टन ने इसी सिद्धान्त का प्रयोग आंशिक रूप से प्राचीन सीरियाई और अरबी पाठ परम्परा का संकीर्ण सम्बन्ध पहलवी शाखा से स्थापित करने में किया है। बृहत्कथा शाखा में क्षेमेन्द्र और सोमदेव के संकीर्ण सम्बन्ध निर्धारण में इस सिद्धान्त का उपयोग पूर्णरूप से किया गया है।

इन तीनों विधियों को स्वतन्त्र रूप में न लेकर एक दूसरे के पूरक के रूप में लेना चाहिए। ये तीन विधियां हैं– प्रक्षेप सम्बन्धी विधि, 2. प्रतिलिपि सम्बन्धी विधि 3. बृहत्तर संग्रह सम्बन्धी विधि।

इनमें से प्रतिलिपि सम्बन्ध को अधिक प्रामाणिक माना जाता है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त का मत है कि प्रक्षेप सम्बन्ध में पाठ निर्धारण उतना निर्णायक नहीं होता जितना प्रतिलिपि सम्बन्ध में हुआ करता है इसलिए सम्पादन शास्त्र में प्रतिलिपि सम्बन्ध को मुख्य सम्बन्ध और प्रक्षेप सम्बन्ध को गौण सम्बन्ध कहा गया है। किन्हीं दो प्रतियों का प्रक्षेप सम्बन्ध केवल इतना सिद्ध करता है कि प्रक्षेप के आदान–प्रदान के सम्बन्ध में दोनों परस्पर आबद्ध हैं। यद्यपि वह इस बात की सम्भावना अवश्य सामने रखता है कि इसमें ग्रन्थ के सामान्य पाठ के सम्बन्ध में भी आदान–प्रदान हुआ होगा। प्रक्षेप सम्बन्ध विशेषतः प्रबन्ध काव्यों में ही काम में लाया जा सकता है। मुक्तक साहित्य में उसका महत्त्व गौण है अथवा नहीं भी है।

प्रतिलिपि सम्बन्ध निश्चेष्ट विधि पर आधारित होने के कारण भी प्रामाणिक कहा जा सकता है। प्रतिलिपि सम्बन्ध के लिए पाठ विकृति, पाठलोप, पाठ व्यत्यय या अन्य किसी प्रकार का असाधारण साम्य होना चाहिए जो कि कवि सम्भव न हो। यह भी आवश्यक है कि ये विकृतियां निश्चेष्ट हों तथा स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होने की सम्भावना न हो। प्रक्षेप सम्बन्ध के लिए प्रक्षिप्त अंश की शब्दावली में प्रभूत नियमित और आद्यन्त साम्य हो। यदि यह प्रक्षिप्त अंश किसी अन्य संग्रह का भाग हो तो उन प्रतियों में संग्रह ग्रन्थ के विषयेतर पठ भी प्राप्त हों। संकीर्ण सम्बन्ध और मिश्र पाठ में संकीर्ण तत्त्वों का सम्बन्ध किसी एक ही उपादर्श की प्रतिलिपि परम्परा से होता है। जब मिश्रित पाठ में विभिन्न स्वतन्त्र शाखाओं के पाठों क्रा अनियमित और मनमाना मिश्रण होता है।

संकीर्ण सम्बन्ध का महत्त्व – संकीर्ण सम्बन्ध निर्धारण पाठालोचन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। हस्तलिखित प्रतियों में शाखागत वर्गीकरण का यही एक मात्र साधन है। एक प्रकार से यह वंशवृक्ष निर्माण का मूलाधार है। इसी के द्वारा पाठालोचक सम्पाद्य सामग्री की स्वतन्त्र शाखाओं को पहचान सकता है और लिपिकारों की व्यक्तिगत विशेषताओं से छुटकारा पा जाता है। इस प्रकार वह महत्त्वहीन तथा गौण सामग्री का पृथक्करण कर सकता है और इस व्यर्थ की सामग्री से छूट जाने के कारण वह पाठ के पुनरुद्धार की मूर्त समस्या पर एकाग्रचित्त हो पाता है और पाठशोध की स्थिति में पहुँचता है।

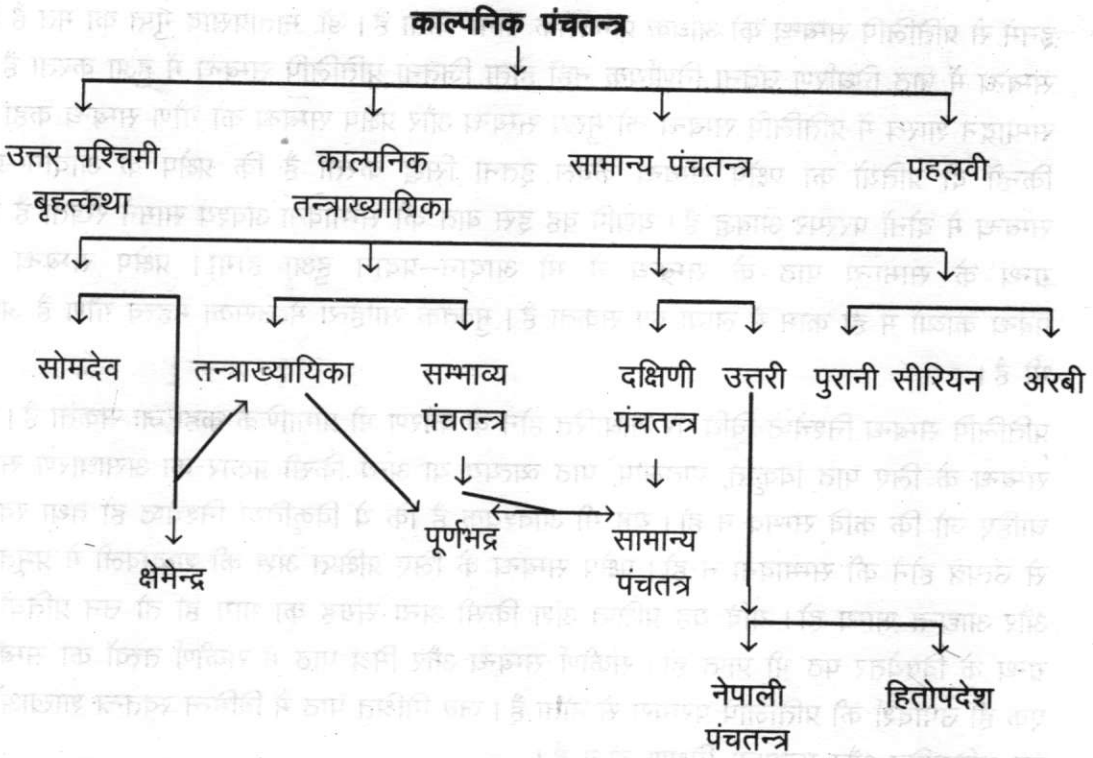
यह ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त विधियां मार्ग निर्देशन मात्र हैं। पाठ समस्या को सुलझाने में इसका उपयोग दृढ़ता से नहीं किया जा सकता। यह भी ध्यान रखना है कि निश्चेष्ट पाठविकृतियों एवं असाधारण और विलक्षण पाठों के आधार पर ही संकीर्ण सम्बन्ध का निर्धारण होता है। मिश्रित प्रतिलिपियों के वंशवृक्ष का निर्माण कठिन होता है। इसमें तीन चीजों का उपयोग करते हैं– प्रक्षेप, साम्य व बृहत्तर ग्रन्थ के अंश के साम्य का निर्धारण।

लाभ – जो मूल से भिन्न सामग्री है उसको छाँटने में हम समर्थ होते हैं तथा आवश्यक सामग्री का ग्रहण करते हैं। कुछ प्रतियों का पाठ कठिन, कुछ का उत्तम, कुछ का निकृष्ट होता है। जटिल व उत्तम पाठ प्रायः प्राचीन होगा, अतः निकृष्ट पाठ आदि को हम छोड़ देंगे। जो मूल के अधिक निकट है, वह उत्तम तथा जो मूल से दूर है वह निकृष्ट पाठ है।

पंचतन्त्र का उदाहरण

मिश्रित पाठ के रूप में पंचतन्त्र का उदाहरण लिया जा सकता है। रामकृष्ण भण्डारकर ने मालती माधव के संस्करण के लिए इसी (उत्कृष्ट निकृष्टवाली) विधि का अवलम्बन लिया था अर्थात् जो प्रतियां उत्तम पाठ दे रही थीं उनको एक वंश से सम्बद्ध मानकर ग्राह्य किया गया और निकृष्ट पाठावली को अन्य शाखा से संग्रह किया।

पंचतन्त्र की मिश्रित प्रतियां प्राप्त होती हैं। इजर्टन ने इस प्रणाली का प्रयोग करते हुए इसका (पंचतन्त्र का) वंश निर्माण इस प्रकार किया है–



पूर्णभद्र का कोई पाठ ऐसा भी मिलता है जो कि किसी अन्य में नहीं मिलता है (भिन्न है)। अतः उसका महत्त्व अधिक है क्योंकि वह पाठ किसी ऐसी प्रति में रहा होगा जो आज अनुपलब्ध है। हितोपदेश में कुछ सामग्री ऐसी है जो कि सीरियन सामग्री के समक्ष बनी होगी।

जिस प्रकार सामग्री संकलन और उसकी परीक्षा पाठालोचन का उपक्रम है उसी प्रकार उच्चतर आलोचना पाठालोचन का उपसंहार है। उच्चतर आलोचना यद्यपि पाठालोचन द्वारा पाठानुसन्धान के पश्चात् ही प्रारम्भ होती है तथापि ग्रन्थ के सम्यक् अध्ययन के लिए वह अपरिहार्य है। यद्यपि विभिन्न विद्वानों में इस सम्बन्ध में मतभेद है कि उसे पाठालोचन का अंग माना जाये अथवा नहीं। उच्चतर आलोचना के क्षेत्र निर्धारण के सम्बन्ध में भी मतभेद है। G.B.Gray तथा A.S.Peak का विचार है कि उच्चतर आलोचना का क्षेत्र लेख निर्णय, लेखन तिथि एवं दूसरे साहित्यिक विवेचन तक ही सीमित होना चाहिए। कात्रे ने उच्चतर आलोचना को अति संक्षेप में ग्रन्थ निर्माण में लेखन द्वारा प्रयुक्त स्रोतों का विश्लेषण कहा है। वस्तुतः उच्चतर आलोचना का क्षेत्र इससे अधिक विस्तृत है। इसके अन्तर्गत लेखन निर्धारण, ग्रन्थ की मूल लिपि का निर्धारण, ग्रन्थ का रचनाकाल, उपलब्ध पाठ का काल निर्धारण, रचयिता और प्रमुख स्रोतों का निर्धारण तथा लेखक की समस्त रचनाओं में उस रचना का स्थान निर्धारण आता है।

उच्चतर आलोचना के अन्तर्गत ग्रन्थों की प्रामाणिकता का निर्णय भी समाविष्ट है। उच्चतर आलोचना विस्तृत रूप में स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप ले सकती है किन्तु सामान्य रूप में सम्पादित ग्रन्थ की भूमिका के रूप में वह प्रस्तुत की जाती है। इसमें मुख्यतः निम्नलिखित बातों का सप्रमाण उल्लेख होना चाहिए।

1. **मूल रचना की भाषा, छन्द आदि की विशेषतायें–** इसके अन्तर्गत सम्पादक यह बताता है कि मूल ग्रन्थ किस भाषा में लिखा गया था। उस भाषा के प्रयोग में कवि जनित कौन–कौनसी विशेषताएं हैं। रचयिता ने उस भाषा के मानक व्याकरण, छन्द आदि के प्रयोग को न समझने के कारण भ्रम हो गये हैं अथवा कवि के समय में छन्दों के प्रचलित रूपों को न समझ सकने के कारण प्रतिलिपिकारों ने अनेक स्थानों पर संशोधन कर पाठभ्रष्ट कर दिया है। रचयिता की इन विशेषताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करना सम्पादक का कर्तव्य है।

2. **मूल प्रति की लिपि**– मूल प्रति की लिपि सम्बन्धी निर्णय भी प्रमाण पुष्ट होना चाहिए। इसके द्वारा भी प्रतिलिपियों के अनेक भ्रमों का निराकरण हो जाता है।

3. **रचना का नाम**– कभी–कभी रचना के नाम की भी समस्या उत्पन्न हो जाती है। जब किसी ग्रन्थ की प्रतियों में एक से अधिक नाम मिलते हैं। ऐसी स्थिति में प्रतियों के सापेक्षिक महत्त्व आदि के द्वारा सम्पादक को रचना के नाम का निर्णय करना पड़ता है।

4. **रचयिता का नाम**– रचयिता के नाम सम्बन्धी समया भी इसी प्रकार से उठती है। जब किसी ग्रन्थ के रचनाकार के रूप में दो या अधिक व्यक्तियों के नाम उपलब्ध होते हैं। ऐसी परिस्थिति में सम्पादक को यह निर्णय करना पडता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ दोनों रचयिताओं की सम्मिलित रचना है अथवा एक ही रचना का आधार लेकर दूसरे व्यक्ति ने उसमें कुछ संशोधन एवं परिवर्धन कर रचयिता के रूप में अपना नाम भी सम्मिलित कर लिया है।

5. **विभिन्न रचयिताओं द्वारा रचित अंशों का पृथक्करण**– अन्य ग्रन्थ के निर्माण में अनेक रचयिताओं का हाथ हो तो सम्पादक को यह भी बताना होता है कि विभिन्न रचयिताओं का कितना कितना अंश है।

6. **ग्रन्थ का रचनाकाल**– रचनाकाल का निर्णय भी प्रायः सम्पादक को करना पड़ता है। ग्रन्थ में रचनाकाल न दिया हुआ हो अथवा दिया हुआ रचनाकाल अमान्य ठहरता हो तो ऐसी स्थिति में अन्तः और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर ग्रन्थ के काल का निर्णय किया जाता है।

7. **स्रोतों का विश्लेषण**– इसके अन्तर्गत उन स्रोतों का उल्लेख एवं रचयिता पर उनके गुण का उल्लेख होता है जिसके आधार पर उसने अपनी रचना की है। उदाहरणार्थ रामचरितमानस की रचना में वाल्मीकिरामायण, अध्यात्म रामायण आदि का कितना प्रभाव है और कहाँ–कहाँ यह प्रभाव है इसका निर्णय सम्पादक को करना होता है।

यदि संक्षेप में कहें तो उच्चतर आलोचना के द्वारा हम कवि के पाठ से आगे बढ़कर उसकी रचना के सम्बन्ध में अन्य अनेक बातों को जानने का प्रयत्न करते हैं जो कि सतह पर प्रकट नहीं होतीं।

पाठ निर्धारण इत्यादि के बाद सम्पादन करने के लिए सम्पादन कार्य में जिस आलोचनात्मक सामग्री का उपयोग किया जाता है उस सामग्री के विवरण के साथ भूमिका का प्रारम्भ होना चाहिए। अतः सर्वप्रथम उपलब्ध समस्त हस्तलिखित प्रतियों का यथासम्भव विस्तृत वर्णन, उन प्रतियों की संख्या एवं सूची जिनका आलोचनात्मक संस्करण के लिए प्रत्यक्षतः अध्ययन किया गया है तथा उन प्रतियों की संख्या एवं सूची जो पूर्ण अथवा आंशिक रूप से सम्पादन कार्य के लिए चुनी गई हैं, देनी चाहिए तथा इन प्रतियों के चुने जाने के कारणों का विवरण भी देना चाहिए।

सम्पादन के कार्य के लिए स्वतन्त्र प्रतियों का उपयोग करना चाहिए और उन प्रतियों को छोड़ देना चाहिए जो विद्यमान या उपलब्ध स्वतन्त्र प्रतियों की प्रतिलिपि हों।

भ्रष्ट पाठ के सम्बन्ध में पाठालोचक के कर्तव्य

1. **रूढ़िवादी दृष्टिकोण**– पाठालोचक का कर्तव्य है कि पाठालोचन के माध्यम से निर्धारित पाठ को प्राप्त करे। कुछ विद्वान् पाठ व्याख्या पर बल देते हैं। व्याख्या करने पर अर्थ नहीं बैठता है तो निर्धारित अंश ही रख देता है पर पाद टिप्पणी में अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दे। इसका लक्ष्य है प्राचीन पाठ को प्राप्त करना।

2. **उदारवादी दृष्टिकोण**– इसका लक्ष्य है कवि कृत पाठ तक पहुँचना। अन्तिम तीन परिस्थितियों के आधार पर उदारवादी पाठालोचक कविकृत पाठ को प्राप्त करता है। कवि की भाषा शैली व तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर केन्द्र तक पहुँचने का प्रयत्न करता है।

लेखानुसंगति या बाह्य साक्ष्य– प्रस्तुत पाठ को बाह्य साक्ष्य के आधार पर भी देख लेना चाहिए।

1. लिपिकृत वर्णों के भेद के कारण कालक्रमानुसार लिपियों का विकास अथवा परिवर्तन हुआ है यथा– ब्राह्मी के पश्चात् गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, देवनागरी लिपि तथा आधुनिक भाषाओं की लिपियां उपलब्ध होती हैं। इन पृथक्–पृथक् लिपियों में भी वर्णों का स्वरूप कालक्रम की दृष्टि से परिवर्तित हुआ है। एक–एक वर्ण के अनेक रूप एक ही लिपि में उपलब्ध होते हैं। हमारा प्रस्तावित पाठ सुधार लिपियों में होने वाले वर्णों के परिवर्तनों के अनुरूप हो सकता है।
2. जब एक लिपि से दूसरी लिपि में पुस्तक को लिखा जाता है तो उस दूसरी लिपि की अपनी सीमाओं के कारण शब्दों में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं। यथा गुरुमुखी लिपि में संयुक्ताक्षर या अर्धवर्ण के अभाव में जो लिखा जायेगा वह निश्चित रूप में मूल से भिन्न होगा। जैसे 'शब्द' के स्थान पर 'सबद' ही लिखा जा सकेगा। इसी प्रकार 'य' वर्ण के स्थान पर 'अ' वर्ण का प्रयोग होगा। इसी प्रकार फारसी लिपि में अथवा उर्दू लिपि में वर्णों की अल्पता के कारण अनेक परिवर्तन हो जायेंगे। नुक्ते की जरा सी भ्रान्ति में अर्थ का अनर्थ हो सकता है। अतः पाठालोचक लिपि की इन सीमाओं को ध्यान में रखते हुए यह जानने का प्रयास करेगा कि जो पाठ वह संशोधन के रूप में प्रस्तावित कर रहा है क्या वह ऐसा पाठ है जो शब्द के भ्रष्टरूप से लिपि जनित परिवर्तनों के आधार पर निर्गत किया जा सकता है।
3. प्रतिलिपिकार के लेख अथवा प्रमाद के द्वारा क्या इस परिवर्तन को समझाया जा सकता है।

सुधार की ओर अग्रसर होते समय ये बातें ध्यान में रखने योग्य है–

1. कठिन पाठ हो, उसे न समझने के कारण अस्वीकार कर दिया हो।
2. पाठ सरल लग रहा हो, अतः ऐसा लगे कि ऐसा सरल पाठ कविकृत नहीं हो सक्रता और उसे उत्कृष्ट करने लग जाये। इन दोनों ही प्रकार के प्रमाद से बचना चाहिए।

13.9 निष्कर्ष

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि किसी भी रचना या पाण्डुलिपि का पाठ निर्धारण करते हुए सम्पादक को बड़ी सूक्ष्मता के साथ काल, परिस्थिति एवं रचना की प्रकृति को देखते हुए निर्णय लेना चाहिए और मूल पाठ में अनावश्यक हस्तक्षेप से बचना चाहिए। पाठालोचन करते समय यदि मूल प्रति उपलब्ध न हो तो एकाधिक प्रतियों को प्राप्त कर सम्पादन करना चाहिए और उन प्रतियों को प्रामाणिक मानना चाहिए जो मूलपाठ के निकट दिखाई देती हों। यदि भ्रष्ट पाठ में सुधार करना अपेक्षित हो तो भी मूल पाठ को पाद टिप्पणी में दे देना चाहिए।

13.10 बोध प्रश्न

1. पाठालोचन के विविध पर्यायों का नामोल्लेख करते हुए उसके अर्थ व स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. पाठालोचन की प्रक्रिया को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।
3. पाठालोचन की उपयोगिता एवं महत्त्व का प्रतिपादन कीजिए।
4. पाठालोचन के क्षेत्र को विस्तार से समझाइये।
5. पाठ सुधार की प्रक्रिया का विवेचन कीजिए।
6. पाठ विकृतियों एवं उनके कारणों पर प्रकाश डालिए।
7. वंश वृक्षनिर्माण विधि को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

13.11 उपयोगी ग्रन्थ

1. अनुसन्धान प्रक्रिया एवं पाठालोचन– डॉ. विनोद शास्त्री एवं डॉ. शालिनी सक्सेना, राजस्थान ज्योतिष परिषद् एवं शोध संस्थान, जयपुर 2007।
2. पाण्डुलिपि विज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1989।
3. पाठ सम्पादन के सिद्धान्त, डॉ. कन्हैया सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2006

13.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 13.2
2. इकाई 13.3
3. इकाई 13.4
4. इकाई 13.5 के 1–4 बिन्दु
5. इकाई 13.6
6. इकाई 13.7
7. इकाई 13.8

इकाई– 14

सूचीपत्र–ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, निर्माण, मुद्रण कला, प्रूफ संशोधन के चिह्न

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 सूचीपत्र निर्माण प्रकार एवं प्रक्रिया

14.3 मुद्रण कला

14.4 मद्रण प्रक्रिया

14.5 प्रूफ संषोधन के चिह्न

14.6 निष्कर्ष

14.7 बोध–प्रश्न

14.8 उपयोगी ग्रन्थ

14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

राजाओं, शासकों एवं श्रेष्ठीवर्ग ने प्राचीन काल से ही ज्ञान विज्ञान को संरक्षित व सुरक्षित रखने के उद्देश्य से अपने अपने निजी संग्रहालयों की स्थापना की। इन संग्रहालयों में रखे ग्रन्थों की जानकारी के लिए सूचीपत्रों का निर्माण किया गया। कालान्तर में सूचीपत्र निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति प्रचलित हो गई और बड़े–बड़े संग्रहालयों में सूचीपत्र निर्माण की प्रक्रिया शुरु हुई। सूचीपत्रों को समझने के लिए इनके स्वरूप को जानना आवश्यक है। इसके साथ ही ग्रन्थ के प्रकाशन एवं मुद्रण सम्बन्धी बातों को समझना भी लेखक के लिए आवश्यक है ताकि किसी भी कृति के प्रकाशन की सभी सरणियों का ज्ञान उसे हो सके। इस इकाई में आप सूचीपत्रों के स्वरूप, उनकी निर्माण विधि एवं मुद्रण में उपयोगी प्रमुख बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

14.1 प्रस्तावना

सार्वजनिक व्यक्तिगत संग्रहालयों के ग्रन्थों की भौतिक तथा विषयगत जानकारी के लिए उनके सूचीकरण की आवश्यकता महसूस हुई। प्रारम्भ में केवल ग्रन्थों के नाम से ही सूचियाँ बनीं। धीरे–धीरे ग्रन्थ के सम्बन्ध में और अधिक जानकारियों की आवश्यकता महसूस हुई। जैसे–लेखक का नाम, उसके विषय एवं परिमाण आदि। पहले ये सूचियाँ हाथ से बनती थीं, बाद में इनके प्रकाशन का कार्य भी प्रारम्भ हुआ और अधिकाधिक जानकारियों के साथ कैटलॉग प्रकाशित होने लगे। इन सूचीपत्रों में उदाहरणार्थ महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों के अंश भी प्रकाशित किए जाने लगे। अलग–अलग स्थानों के सूचीपत्रों में उपलब्ध सामग्री को एकत्र करने के उद्देश्य से 'कैटेलोगस कैटेलोगोरम्' नाम से एक बृहद् प्रोजेक्ट शुरु हुआ और इसके अन्तर्गत एक पाण्डुलिपि देश के किन–किन भाण्डागारों में किस स्थिति में विद्यमान है, इस सबकी सूचना उपलब्ध करवायी गई। इस सूचीपत्र का पहला भाग 1968 में प्रकाशित हुआ और उसके बाद इसके 10 भाग निकले। फिर प्रोजेक्ट में कुछ व्यवधान आया और मद्रास विश्वविद्यालय ने

'न्यू कैटेलोगस केटेलोगोरम्' नाम से इस प्रोजेक्ट को फिर से प्रारम्भ किया। आज देश के लगभग सभी प्रसिद्ध शोधागारों के सूचीपत्र प्रकाशित हैं।

14.2 सूचीपत्र निर्माण प्रकार एवं प्रक्रिया

प्राचीन काल में मुद्रण के अभाव में ज्ञान–विज्ञान के प्रसार का माध्यम हस्तलेख ही थे। ये अपने लिप्यासनों के आधार पर विविध प्रकार के होते थे। लेखक, राजा, श्रेष्ठिवर्ग एवं धर्मप्रचारक अपने अभिमत को शिलापट्टों पर उत्कीर्ण करवाकर मन्दिरों, तीर्थस्थलों एवं सार्वजनिक स्थलों पर गढवा देते थे। साहित्यिक ज्ञान–विज्ञान के प्रसार का माध्यम हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ थीं। प्राचीन काल में राजाओं एवं श्रेष्ठिवर्ग ने विद्वानों, ब्राह्मणों एवं कलाकारों को आश्रय प्रदान किया। राज्याश्रय में रहकर विद्वानों ने अनेकानेक ग्रन्थों की रचना की। राजाओं ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की सुरक्षा एवं प्रसार की दृष्टि से उनकी अनेक प्रतिलिपियाँ करवाकर अपने निजी संग्रहों एवं प्रसिद्ध पुस्तकालयों में रखवा दीं। अतः प्राचीनकाल से ही देश के विविध भागों में ग्रन्थागारों की स्थापना की गई, जिनमें देश के अलग–अलग भागों से लाकर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का संकलन किया गया। कालान्तर में ग्रन्थों की बढ़ती संख्या के कारण अवसर पर उन्हें प्राप्त करना कठिन हो गया, साथ ही देश के अलग–अलग भागों के लोगों को उनकी जानकारी भी नहीं होती थी। इन समस्याओं के समाधान के लिए विविध हस्तलेखागारों के सूचीपत्र तैयार किये गए। संकलित सूचनाओं के आधार पर सूचीपत्रों के विविध रूप हो सकते हैं–

1. केवल ग्रन्थों के नाम से।
2. ग्रन्थ एवं लेखक का नाम।
3. ग्रन्थ, लेखक एवं विषयवस्तु।

ग्रन्थों के नामोल्लेख अथवा ग्रन्थ एवं लेखक के नाम के साथ सूची प्रस्तुत करना एक सामान्य प्रक्रिया है। सूचीपत्र निर्माण की वैज्ञानिक प्रक्रिया में ग्रन्थ का विस्तृत परिचय दिया जाता है। देष के समृद्ध पुस्तकालयों में सूचीपत्र निर्माण की वैज्ञानिक प्रक्रिया का निर्माण किया गया। मद्रास विश्वविद्यालय में सूचीपत्र निर्माण की बृहद् योजना के अन्तर्गत देश के विविध सूचीपत्रों को लेकर बृहद् सूचीपत्र 'न्यू केटेलोगस केटेलोगोरम्' का निर्माण किया गया।

इस दीर्घकालीन 'योजना के अन्तर्गत कई भागों में ग्रन्थसूची का प्रकाशन किया गया। इसके अन्तर्गत ग्रन्थ देश के किन किन हस्तलेखागारों में किस क्रमांक पर, किस स्थिति में उपलब्ध है, इसकी समग्र जानकारी उपलब्ध है। इसी प्रकार अलग–अलग पुस्तकालयों के भी अपने–अपने सूचीपत्र हैं।

सूचीपत्र बनाते समय पाण्डुलिपि के नाम का उल्लेख किया जाना चाहिए। पाण्डुलिपि का नाम जो कि प्रारम्भ या पुष्पिका में मिल सकता है अथवा अक्षरावल्ली अंक/अध्याय की समाप्ति पर भी ग्रन्थ का नाम हो सकता है। उसका उल्लेख सूचीपत्र में करना चाहिए। पाण्डुलिपि मात्र मूलग्रन्थ है या टीका सहित है, टीकाकार का नाम, लिप्यासन (कागज, ताड़पत्र, भूर्जपत्र) लिपिकाल का उल्लेख भी सूचीपत्र में किया जाना चाहिए। ग्रन्थ की पुष्पिका में लिपिकर्ता, लिपिकाल के साथ ग्रन्थकार का परिचय भी उपलब्ध हो जाता है। कभी–कभी पुष्पिका में ही रचना के स्थान, आश्रयदाता एवं गुरु परम्परा का उल्लेख भी मिल जाता है। सूचीपत्र में विशेष टिप्पणी के अन्तर्गत पाण्डुलिपि के वैशिष्ट्य का उल्लेख करना चाहिए। इसके साथ ही ग्रन्थ का आकार माप (लम्बाई x चौड़ाई) अक्षर, पंक्तियाँ, लिपि, सम्पूर्णता, अपूर्णता आदि के उल्लेख के साथ सम्बन्धित विषय का उल्लेख करने से सूचीपत्र द्वारा पाण्डुलिपि का संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। सूचीपत्र के अन्त में महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का आदि व अन्त का कुछ भाग उद्धृत कर दिया जाता है और सूचीपत्र के पाण्डुलिपि क्रमांक के पास 'म' चिह्न से उसे प्रदर्शित कर दिया जाता है ताकि अनुसन्धाता उसके बारे में पीछे देख सके।

सूचीपत्र का विषयगत विभाजन उचित रहता है। एक विषय से सम्बन्धित सभी पाण्डुलिपियों को एक

साथ अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया जाना उचित रहता है। सूचीपत्र में ग्रन्थ की क्रम संख्या के साथ पाण्डुलिपि क्रमांक भी दिया जाता है। विषयगत आधार पर संस्कृत के सूचीपत्र को लगभग पच्चीस भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. वेद–ऋक्, यजु, साम, अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्।
2. वेदांग– शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण एवं ज्योतिष।
3. स्मृतियां व निबन्ध– अष्टादश स्मृति, उपस्मृति, निबन्धग्रन्थ।
4. इतिहास पुराण।
5. दर्शन– भारतीय षड्दर्शन एवं नास्तिक दर्शन।
6. बौद्ध– हीनयान, महायान।
7. जैन, अंग, उपांग, प्रकरण, सूत्र, स्तोत्र।
8. भक्ति।
9. तन्त्र साहित्य।
10. आगम ग्रन्थ– शैव, वैष्णव।
11. मन्त्र शास्त्र।
12. काव्य– महाकाव्य, लघुकाव्य, गीतिकाव्य, रूपक, चम्पू, कथा, आख्यायिका, सुभाषित, नीतिकाव्य, प्राकृत, अपभ्रंश काव्य।
13. व्याकरण– पाणिनी, कातन्त्र–व्याकरण, चान्द्र–व्याकरण, जैनेन्द्र–व्याकरण, शाकटायन, हेम, कोमार, बोपदेव, माईनर–ग्रामर, प्राकृत–व्याकरण, पालि– व्याकरण आदि।
14. निघण्टु।
15. छन्दशास्त्र।
16. अलंकारशास्त्र।
17. नाट्य लक्षण ग्रन्थ।
18. गीत।
19. शिल्प।
20. अर्थशास्त्र।
21. रत्नशास्त्र।
22. कामशास्त्र।
23. आयुर्वेद।
24. ज्योतिष।
25. प्रकीर्णक।

सम्पूर्ण सूचना की दृष्टि से सूचीपत्र को 11 भागों में प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरणार्थ–

क्र.सं.	पुस्तकालय क्रमांक	ग्रन्थ नाम टीका नाम	कर्ता	व्याख्याकार / टीकाकार	आधार लिप्यासन
1	2	3	4	5	6

लिपि	आकर ल. x चौ. x पंक्ति अक्षर	पूर्ण या अपूर्ण कटी, जली	काल	विशेष ज्ञातव्य
7	8	9	10	11

सूचीपत्र के अन्त में संकलित ग्रन्थों की आकारादि क्रम से सूची दी जाती है, जिसके साथ उनका विवरण पृष्ठ क्रमांक भी दिया जाता है। सूचीकरण पाँच प्रकार से किया जा सकता है–

1. पुस्तक के नाम से पृष्ठ संख्या
2. ग्रन्थकार के नाम से पृष्ठ संख्या
3. टीकाकार के नाम से पृष्ठ संख्या
4. लिपिकर्ता के नाम से पृष्ठ संख्या
5. स्थान के नाम से पृष्ठ संख्या

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के सम्बन्ध में ग्रन्थ की सम्पूर्ण सूचना के बाद ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्राप्त अन्य जानकारी एवं वैशिष्ट्य टिप्पणी रूप में अंकित कर देनी चाहिए। यथा चित्रांकित पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में सूचना दे देनी चाहिए। अधिकांश सूचीपत्रों में पुस्तक अथवा ग्रन्थकार के नाम से पृष्ठ–संख्या का उल्लेख किया जाता है।

शोधार्थी को पाण्डुलिपि विषयक अनुसन्धान विषय का चयन करते समय सर्वप्रथम केटलोगस केटलोगरम् को देखना चाहिए। इसके साथ ही क्षेत्रीय हस्तलेखागारों के सूचीपत्रों का अवलोकन करके सम्बन्धित सामग्री लेनी चाहिए।

संकलित पाण्डुलिपियों के सूचीकरण में कार्ड पद्धति का उपयोग वैज्ञानिक दृष्टि से उपयोगी रहता है। अकारादि क्रम से पाण्डुलिपियों के कार्ड बनाकर प्रत्येक पाण्डुलिपि का विवरण कार्ड पर लेते चलना चाहिए। जिन सूचनाओं की सूचीपत्र में आवश्यकता हो यथा ग्रन्थ का नाम, ग्रन्थकर्ता, टीका, टीकाकार, लिप्यासन, आकार, पंक्ति, अक्षर, पृष्ठ–संख्या, पूर्ण–अपूर्ण, लेखन वर्ष या लिपि वर्ष, पाण्डुलिपि का प्रारम्भ एवं अन्त के अंश उतार लेना चाहिए ताकि सूचीपत्र तैयार करते समय पुनः पाण्डुलिपि खोलने की आवश्यकता नहीं होती और पाण्डुलिपि क्रमांक देकर सूचीपत्र तैयार किया जा सकता है।

यदि कई भाषाओं के ग्रन्थों का सूचीपत्र हो तो भाषानुसार उनका विभाजन किया जाना चाहिए। विषयानुक्रमणिका में इसका उल्लेख क्रमशः किया जाना चाहिए। जिस संग्रहालय का सूचीपत्र हो उसका परिचय, इतिहास एवं वैशिष्ट्य भी सूचीपत्र के प्रारम्भ में दिया जाना चाहिए। इसके साथ ही सूचीपत्र में आए संकेतों की सूची भी दे देनी चाहिए ताकि अध्येता को समझने में आसानी हो। नामानुक्रमणिका पृष्ठांक सहित दी जानी चाहिए।

14.3 मुद्रण कला

मुद्रणकला का प्रारम्भ सर्वप्रथम चीन में हुआ। लकड़ी के ठप्पे तैयार कर उसमें स्याही, या रंग भरकर मुद्रण कार्य किया जाता था। मुद्रण कला के द्वारा सर्वप्रथम बाईबल ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ।

भारत में मुद्रण कार्य सर्वप्रथम कलकत्ता में 1805 में प्रारम्भ हुआ। इसके बाद 1831 में बम्बई में तथा 1864 में निर्णयसागर प्रेस की स्थापना हुई।

पाण्डुलिपि प्रेस की दृष्टि से तैयार हस्तलेख की प्रेसकॉपी होती है। प्रेसकॉपी सबसे अच्छी होनी चाहिए। उसके शीर्षक व उपशीर्षक भी होने चाहिए।

मुद्रण कला के लिए कागज के नाप (Size) का ज्ञान आवश्यक है। प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ के अनुसार ही कागज का प्रयोग होता है। कागज के विभिन्न नाप (Size) इस प्रकार हैं–

1. 18 x 22 डिमाई
2. 22 x 36 डबल डिमाई
3. 15 x 20 क्राउन
4. 20 x 30 डबल क्राउन
5. 20 x 30 इम्पीरियल
6. 17 x 26 फुलस्केप
7. 17 x 27 फुलस्केप

18 x 22 डिमाई साइज के चार पेज निकलेंगे। जैसे साप्ताहिक हिन्दुस्तान। 20 x 30 डबल क्राउन साइज के आठ पृष्ठ निकलेंगे। जैसे महाभारत। 20 x 26 के आठ पृष्ठ चन्दा मामा की तरह। उपन्यास 20 x 30/16

ऐसे कागज का प्रयोग किया जाना चाहिए, जिससे पुस्तक आकर्षक बने। यदि पुस्तक में ग्राफ हों, रेखाचित्र हों, अधिक समय तक रखने योग्य सामग्री हो तो उतना ही कीमती कागज प्रयोग करना होगा। कागज किलो के हिसाब से मिलता है। एक रिम 15, 20, 10, 8 किलों का भी हो सकता है। कम वजन का कागज हल्की किस्म का होता है। कागज की प्रसिद्ध मिलें सहारनपुर टीटा आदि में हैं। राजस्थान में हाथ के बने हुए कागज मिलते हें। चित्रों पर आर्ट पेपर लगाते हैं। आर्ट पेपर का भी यही साइज मिलता है।

टाईप का चयन

सीसे के बने हुए अक्षर टाईप कहलाते हैं। मुद्रणकला के लिए चाहे हस्तलेख दुष्पाठ्य हो, पेपर का ज्ञान न हो परन्तु टाईप का ज्ञान अत्यावश्यक है। टाईप में 1 इंच में 6M होता है। अर्थात् एक इंच की ऊंचाई का अक्षर 6M होता है। 1M = 12 अर्थात् 1M = 12 पाइण्ट के बराबर होता है।

हिन्दी में 8 से 72 पाइण्ट और अंग्रेजी में 5 से 80 पाइण्ट तक के अक्षर मिलते हैं। इससे अधिक बड़े अक्षर लकड़ी के बनते हैं।

1 इंच = 6M 1M =12 पाइण्ट

1. ब्लेक फेज (Black Phase)
2. वाईट फेज (White Phase)

1M = 14 पाइण्ट

1. ब्लेक फेज– शाकुन्तलम् का मूल
2. वाईट फेज– संवाद

1M =16 पाइण्ट

1. ब्लेक फेज (Black Phase)
2. वाईट फेज (White Phase)

1M = 18 पाइण्ट में पुस्तकों के नाम लिखे जाते हैं।

1M = 20 पाइण्ट

1M = 24 पाइण्ट

1M = 36 पाइण्ट

1M = 48 पाइण्ट

1M = 72 पाइण्ट

हस्तलेख तैयार होने पर शीर्षक मेघदूत डालने पर उसके आगे 14 पाइण्ट + ब्लेक फेज (Black Phase) लिखा होगा तो कम्पोजिटर इसी तरह कम्पोज करेगा।

सम्पादित ग्रन्थों में फुटनोट (पादटिप्पणी) भी आवष्यक है। अंग्रेजी में 8 पाइण्ट का व हिन्दी में 10 पाइण्ट का फुटनोट (पाद टिप्पणी) होता है।

कम्पोजिटर के पास चार कैस होते हैं। वह सीसे के अक्षरों को अलग–अलग खानों में जोड़ता है, उसे कम्पोज करना कहते हैं। कम्पोज करते समय भी अशुद्धि रह सकती है उसे प्रूफ रीडर शुद्ध करता है। कम्पोजिटर एक स्टिक से अक्षर उल्टा रखता है। जितने च के अक्षर होते हैं, उतने च की स्टिक लेता है। फिर यह देखा जाता है कि कौन सा ग्रन्थ कितने कॉलम में आ सकता है। 20 x 30 डबल क्राउन साइज में दो ही कॉलम बनाते हैं। स्टिक उतनी ही बड़ी होती है, जितना बड़ा कॉलम।

अक्षर पूरे भी होते हैं आधे भी। उसमें बारहखड़ी जैसी मात्राएं जोड़ी जाती हैं। जैसे 'कु' के लिए 'उ' की मात्रा टाइप श्कश के साथ जोड़ दी जाती है। विसर्ग की भी टाइप अलग से होती है।

कलकत्तिया टाइप अखण्ड होती हैं, जिसमें मात्रा अक्षर के साथ जुड़ी होती है। बम्बईया टाइप सखण्ड होती है जिसमें मात्रा अक्षर के साथ अलग से जोड़ी जाती हैं करण टाइप में एक–एक मात्रा के अलग–अलग टाइप इस्तेमाल होते हैं। इसमें त्रुटियों की अधिक सम्भावना रहती है। ह्म, ह्य, ह्र, ह्व, ड्ड, ड्ड, द्भ ये टाइप न मिलने के कारण इसके लिए करण टाइप का इस्तेमाल होता था अब कम्प्यूटर के कारण यह सुविधा उपलब्ध हो गई है।

जितने बड़े कागज का निर्देष किया जाता है उतना ही कागज कम्पोज किया जाता है, जिसे काटकर पेजों को बांधा जाता है, उसे मेकअप (Mackup) करना कहते हैं।

18 x 22 डिमाई साइज के चार पेज को फार्म कहा जाता है। उन्हीं चार पेजों को प्रेस पर चढ़ाते हैं तो उसे चेस कहते हैं। लोहे के चौकोर एंगिल में उन चारों पेजों को कसते हैं। चेस में जाने पर एक साथ चार नम्बर का पेज छपेगा तो उसे इम्पोज कहते हैं। इसी प्रकार दो नम्बर का पेज छपेगा तो छः नम्बर का उसके साथ छपेगा कुछ में 1 व 4 नम्बर, 4 व 5 नम्बर व शेष पेज एक साथ छपते हैं। इम्पोज में गलती होने के कारण किताब की पृष्ठ संख्या गलत हो जाया करती है।

प्रूफ रीडर मूल कॉपी से उसका मिलान करता है। उस मिलान में गलतियों को ढूंढना ही प्रूफ रीडर का काम है। जहाँ शब्द को अलग–अलग करना हो वहाँ # ऐसा चिह्न लगा दिया जाता है। जहाँ मात्रा छूट गई हो वहाँ पूरा शब्द काटने के बजाय संकेत करके मात्रा दर्शा दी जाती है जैसे ददति में (ददाति मूल शब्द है।) अतः ददति में द में दद के बाद (ा) की मात्रा दिखाना।

कभी–कभी कम्पोज करते समय अक्षर उल्टे पड़ जाया करते हैं तो उल्टे अक्षर को सीधा करने के लिए चिह्न बना दिया जाता है, जैसे कलम (कमल) ओ की मात्रा अलग उल्टी हो। यदि किसी शब्द या अक्षर या मात्रा को हटाना हो तो उसको डिलिट (Delete) कहते हैं। जैसे सम्बोधन एक के राम में विसर्ग लगा हो और उसे हटाना हो तो रामः De या d।

इस प्रकार पुस्तक पहले कम्पोज होगी, उसकी दो तीन बार प्रूफ रीडिंग की जायेगी फिर वह मशीन में जायेगी।

14.4 मुद्रण प्रक्रिया

1. ऊपर से दाब देकर भी छापा जाता है। इसको ट्रेडिल (Tredle) या प्रैसिंग भी कहते हैं।
2. सिलेण्डर
3. लीथो
4. एम्बोसिंग में ताँबे की चादर में स्याही भर लेते हैं।

5. ऑफसैट से रंगीन छपाई होती है।

6. रोटरी सर्वश्रेष्ठ है, जिससे एक घण्टे में एक लाख प्रति निकाली जा सकती हैं। इसमें अक्षर टूटने का भय नहीं रहता। इससे छपाई जल्दी व ज्यादा होती है।

7. हाइड्रो में क्रोमो कार्ड का पुट्ठा मशीन पर लगाते हैं। कागज की रीम मशीन पर लगा देने पर कागज अपने आप निकलता है, कटता रहता है।

ग्रन्थ छपने पर बाइडिंग की जाती है। सस्ती किताबों में सामान्य सी स्टिच कर दी जाती है। मूल्यवान किताबों में कपड़े, चमड़े आदि की जिल्द बांधी जाती है। कार्ड को मोड़ने के लिए मशीन से गेजिंग होती है, जिससे गहरी दाब पड़ जाने से वह अपने आप मुड़ जाता है।

रसीद बुक में किये गये एक साथ छिद्रों को प्रफोरिंग कहते हैं। अगरबत्ती या अन्य कोई भी डिब्बे में छपाई के साथ ढ़क्कन के मोड़ साथ ही होते हैं और उसे डाई कहते हैं।

डाई कटिंग– 0 बैज में अन्दर का मैटर तो छपता ही है साथ ही ऐसी डाई बना दी जाती है, जिससे गोलाई में कटिंग भी साथ–साथ होती रहती है। छपाई के साथ नम्बरिंग भी हो जाती है। बैंक खाते की रसीद में जैसे– □ □ □ मशीन के तीन खानों पर एक ही नम्बर के बटन होते हैं। पहली व दूसरी बार तक तो एक ही नम्बर आयेगा परन्तु तीसरी बार बदल जायेगा।

किताबों पर लेमिनेशन मोम की पर्त से किया जाता है। रंगीन छपाई के बाद चमक के लिए वार्निश भी की जाती है। साधन का सहयोग ही मुद्रणकला का आविष्कार है। इसके साथ ही अनेक रोजगार भी जुड़े हैं। प्रमाण पत्र के लिए लौहे के चौकोर टाइप होते हैं, जिनमें अक्षर नहीं होते। ये भी एम. में मिलते हैं उसे क्वार्ड कहते हैं।

मुद्रण कला सिद्धान्त और उनका प्रायोगिक पक्ष

मुद्रण स्थान सफाई युक्त हो, छोटा न हो, जहाँ सूर्य का स्वाभाविक प्रकाश आता हो। मुद्रण व जिल्द बाँधने से लेकर सभी उपकरण एक ही स्थान पर हों।

स्टिक्स– पहले छड़े लकड़ी की होती थीं। आजकल लेड की प्रयुक्त होने लगी हैं। ये लाइन सीधी करने के लिए प्रयुक्त होती हैं। गेली– लोहे की प्लेट होती है, जिससे पेज काटते हैं।

कैंची– यह एक विशेष प्रकार की कैंची होती हैं, जो मैटर कसने के काम में ली जाती है। इससे मैटर इधर–उधर नहीं हिलता है। यह आंकड़ेनुमा या चाबी जैसी होती है।

हथौड़ा– ऊपर की ओर निकले हुए टाइप व हल्की दाब होने से अक्षरों के पूर्ण रूप से न उभर पाने की सम्भावना होने पर टाइप पर कागज बिछाकर हल्का–हल्का मारा जाता है।

तेल– स्याही को मिट्टी के तेल से साफ किया जाता है।

ब्रश– स्याही सूख जाने पर टाइप फंस जाती है तो अक्षर अस्पष्ट हो जाता है। साफ छपाई के लिए टाइप को लोहे के ब्रश से साफ किया जाता है।

परफोरेटिंग मशीन– रसीद बुक में छोटे छिद्र करने की मशीन।

आइग्लास– अक्षर पहचानने के लिए हेता है। जैसे 12 पाइण्ट, 14 पाइण्ट मात्रा व वर्ण के अन्तर को आई ग्लास Eye Glass से जाना जाता है। इस प्रकार के अन्तर होने पर प्रूफरीडर (wf) वाऊण्ड फाऊण्ड (Wound Found) कहता है।

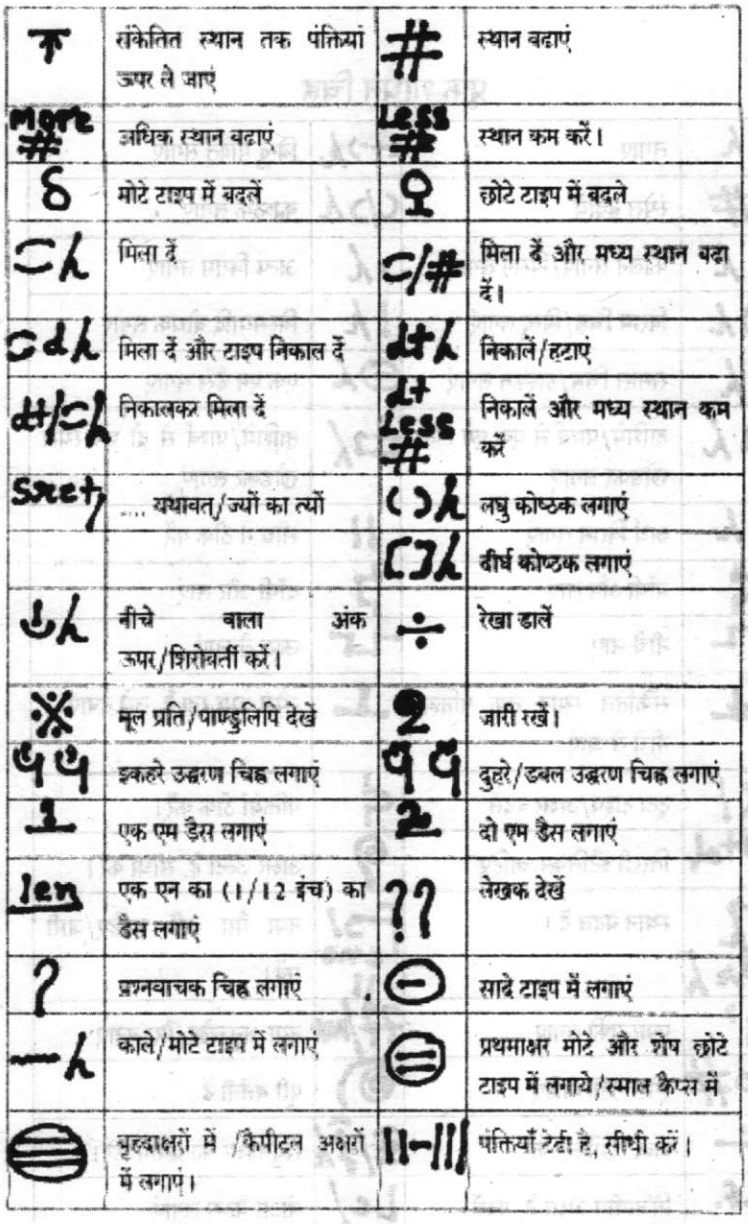
ट्रेडल मशीन– मुद्रण कार्य के लिए सर्वाधिक प्राचीन है, जो पाँव से चलाई जाती थी। निमन्त्रण पत्र मोटे कागज कार्डशीट पर छापे जाते हैं। कार्डशीट प्लास्टिक कोटेड होती है। Vorysheets पर अलग से लेप लगा दिया जाता है, जिससे ऊपर का भाग चिकना और नीचे का खुरदुरा रहता है।

गेटअप– सौदर्यीकरण के लिए सुन्दरता की व्यवस्था के लिए अर्थात् फोलियो आदि का स्थान उपस्थित हो।

14.5 प्रूफ संशोधन के चिह्न

प्रूफ शोधन चिह्न

	लगाएं		बिन्दु पंक्ति लगाएं
	स्पेस बढायें		कोष्ठक लगाएं
	कोलन लगाएँ/विसर्ग लगाएं		अल्प विराम लगाएं
	विराम चिह्न/बिन्दु लगाएं		विस्मयादि बोधक लगाएं
	समास चिह्न/हाइफन लगाएं		एक एम डैस लगाएं
	हाशिये/पार्श्व से एक एम स्पेस छोडकर लगाएं		हाशिये/पार्श्व से दो एम स्पेस छोडकर लगाएं
	अर्ध विराम लगाएं		सीध में ठीक करें
	बांयी और लाएं		दाँयी और लाएं
	नीचे लाएं		ऊपर ले जाएं
	संकेतित स्थान तक पंक्तियां नीचे ले जाएं		स्पेस उभर रहा है, उसे दबाएं
	टूटा टाइप/अक्षर बदलें		पंक्तियां ठीक करें।
	तिरछी इटैलिक्स चाहिए		अक्षर उल्टा है, सीधा करें।
	स्थान बदल दें।		नया पैरा नहीं चाहिए/जारी रखें।
	एपास्ट्राफी लगाएं		नया अनुच्छेद/पैरा बनाएं
	स्पेस नहीं चाहिएं		पूरी बर्तनी दें
	शब्द रेखांकित करें		संयुक्ताक्षर का प्रयोग करें।
	विजातीय अक्षर है, बदलें		लोअर केप्स लगाएं
	स्माल केप्स लगाएं		केपीटल अक्षर लगाएं
	कोलन व डैश लगाएं		हाइफन/समास लगाएं
	बिन्दु (नुक्ता) लगाएं		अनुस्वार लगाएं
	समान स्पेस/समान मध्य स्थान करें		दोनों ओर स्पेस देकर लगाएं
	पंक्ति टीली है, कसें।		शब्दों को त्रिकोण की स्थिति में लगाएं
	अनुच्छेद बनाने की आवश्यकता नहीं		



14.6 निष्कर्ष

इस अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी पुस्तकालय की महत्ता एवं समृद्धि का ज्ञान उसके सूचीपत्रों के माध्यम से होता है। सूचीपत्रों में जितनी ज्यादा सूचनायें होती हैं, शोधार्थी के लिए वह उतना ही उपयोगी होता है। आजकल इंटरनेट पर भी ऐसे कैटलॉग उपलब्ध करवाये जाने लगे हैं। किसी भी ग्रन्थ का सम्पादन करने वाले को सम्पादन के उपयोगी सभी तथ्यों की जानकारी आवश्यक है। उसे मुद्रण के सामान्य सिद्धान्तों का भी ज्ञान होना चाहिए। प्रकाशन के अवसर पर आने वाली दिक्कतों को जाने बिना यदि कोई इस कार्य में प्रवृत्त होता है तो उसे अपेक्षाकृत ज्यादा परेशानियां आती हैं और जो इस प्रक्रिया को जानता है वह सुविधापूर्वक प्रकाशन कार्य में समर्थ होता है, अतः मुद्रण कला की जानकारी भी आवष्यक हो जाती है।

14.7 बोध प्रश्न

1. सूचीपत्र निर्माण की विधि पर प्रकाश डालिए।

2. सूचीपत्र की आवश्यकता क्यों पड़ती है और सूचीपत्र में प्रमुख सूचनाएं कौन कौनसी होती है?
3. मुद्रणकला पर प्रकाश डालिए।
4. मुद्रण में उपयोगी सामग्री का विवेचन कीजिए।
5. मुद्रण में उपयोगी कागज व टाइप के प्रकारों का विवेचन कीजिए।
6. मुद्रण के प्रयोगिक पक्ष का विवेचन कीजिए।
7. प्रूफरीडिंग में उपयोगी महत्त्वपूर्ण चिह्नों पर प्रकाश डालिए।

14.8 उपयोगी ग्रन्थ

1. अनुसन्धान प्रक्रिया एवं पाठालोचन– डॉ. विनोद शास्त्री एवं डॉ. शालिनी सक्सेना, राजस्थान ज्योतिष परिषद् एवं शोध संस्थान, जयपुर 2007।
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1989।
3. पाठ सम्पादन के सिद्धान्त, डॉ. कन्हैया सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2006।
4. अनुसन्धान की प्रविधि और प्रक्रिया, डॉ. राजेन्द्र मिश्र, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली।
5. अनुसन्धान स्वरूप एवं प्रविधि, डॉ. रामगोपालशर्मा दिनेश, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

14.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 14.2
2. इकाई 14.1
3. इकाई 14.3
4. इकाई 14.4
5. इकाई 14.3
6. इकाई 14.4
7. इकाई 14.5

इकाई 15

लिपि विज्ञान

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भारत की प्राचीन लिपियाँ

15.3 भारतीय लिपि विचार

15.4 सारांश

15.5 बोध प्रश्न

15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

आप एमफिल पाठ्यक्रम के तृतीय प्रश्नपत्र की पन्द्रहवीं इकाई का अध्ययन करने जा रहे हैं। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने जा रहे है। प्रस्तुत इकाई में भारतीय लिपियों के अध्ययन की दृष्टि से लिपियों की उत्पत्ति तथा भारतीय लिपियों के परिवार के इतिहास का अध्ययन करेंगे। प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी से निकली लिपियों में ही अधिकांश पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। उनके इतिहास का संकेत भी अध्ययन योग्य है। खरोष्ठीआदि लिपियों का भी संकेत आप देखेंगे। इससे प्रमुख भारतीय लिपियों का इतिहास भी स्पष्ट होगा और उनके अध्ययन की दिशा भी।

15.1 प्रस्तावना

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से हस्तलिखित ग्रन्थों की परम्परा रही है। जिनमें विभिन्न लिपियाँ प्रयुक्त हैं। ईसा पूर्व तीन सहस्राब्दियों से ग्रन्थ लेखन किसी न किसी रूप में होता रहा है। यह धारणा कुछ समय पूर्व तक प्रचारित रही थी कि वेद काल में भारत में लिपि नहीं थी, केवल मौखिक परम्परा से ही वेद प्राणवान रहे। इसीलिये उन्हें श्रुति कहा गया। यह भी कहा जाता है कि लिपि का उद्‌भव युरोप में हुआ। इस भ्रान्त धारणा का खण्डन भी अनेक विद्वानों ने किया है जिनमें जयपुर के मधुसूदन ओझा प्रमुख है। उन्होंने बताया है कि श्रुति और स्मृति शब्द केवल प्रथम ज्ञान और अनुवर्ती ज्ञान के सूचक है। प्रथम ज्ञान को श्रुति कहा जाता है अर्थात् ईश्वर से उतरा ज्ञान। उस ज्ञान के आधार पर अभिलिखित ज्ञान को स्मृति कहते हैं। हमारे यहाँ श्रुतियाँ की लेखबद्ध होती थीं तभी तो उनका वेदव्यास के सम्पादन किया। मौखिक ज्ञान का क्या कभी कोई सम्पादन हो सकता है। उन्होंने वेद मंत्रों के प्रमाणों से भी सिद्ध किया है कि हमारे यहाँ लिपि थी। प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी मानी गई है। उसके अतिरिक्त खरोष्ठी, शारदा, नन्दिनागरी, देवनागरी आदि लिपियाँ रहीं। इन सभी का परिचय हम इस पाठ में प्राप्त करेंगे।

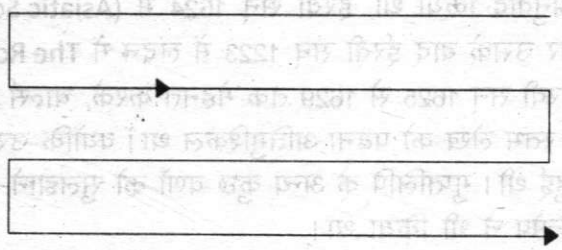
15.2 भारत की प्राचीन लिपियाँ

लिपि की उत्पत्ति

प्राचीन भारत में लिपियों के उपयोग विषयक उल्लेख ईसा पूर्व 5वीं सदी जितने पुराने हैं। "प्राचीन भारतीय लिपिमाला" नामक ग्रन्थ में श्री गौरीशंकर ओझा ने ही इस विषय पर जानकारी दी है और अनेक

आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। उन्होंने बताया है कि बौद्ध साहित्य में जो 'ललितविस्तर' नामक ईसा. पूर्व 300 में रचा गया ग्रन्थ है, उसमें 64 लिपियों की सूची है। पाणिनि (ईसा पूर्व 600) के अष्टध्यायी व्याकरण में भी– **इन्द्र–वरुण–भव–शर्व–रूद्र–मृड–हिमारण्य–यव–यवन–मातुलाचार्याणाम् आनुक्। 4–9–49 (दुष्टो यवो यवानी। वार्त्तिकम्– "यवनात् लिप्याम्", यवनानां लिपिः 'यवनानी'।।)** 'यवनानी' लिपि का उल्लेख मिलता है। दूसरी ओर से सिन्धु नदी के आस–पास के विस्तार में उत्खनन कार्य करने पर प्राप्त हुए मोहें–जो–दड़ो और हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों से भी जानकारी प्राप्त हुई है कि इस संस्कृति के लोगों ने भी लेखनकला का विकास साधा था। हड़प्पा की इस संस्कृति का समय ईसा पूर्व 2400 से ईसा पूर्व 1600 तक का आँका गया है। (इसे सिन्धु लिपि कहा जाता है लेकिन इस लिपि को अभी तक संसार का कोई भी विद्वान् निर्विवाद रूप से पढ़ नहीं पाया है।) तीसरी ओर उपलब्ध प्राचीनतम लिपियों में (1) ब्राह्मी लिपि और (2) खरोष्ठी लिपि का स्थान उल्लेखनीय है। इस लिपि का प्रसार ई.सा. पूर्व 500 में हुआ था ऐसा लगता है। अब ईसा पूर्व 2400 से 1500 में प्रचलित ऐसी हड़प्पीय लिपि और ईसा पूर्व 500 में प्रचलित ऐसी ब्राह्मी लिपि के बीच का कालखण्ड हमारे लिए अन्धकारग्रस्त है। इस कालखण्ड–मध्यकाल में कौन सी लिपि थी, अथवा हड़प्पीय लिपि से कालक्रम में किस प्रकार ब्राह्मीलिपि उद्भूत हुई, अथवा क्या ब्राह्मीलिपि का अन्य किसी प्रकार से या स्वतंत्र रूप से उद्भव हुआ होगा? इत्यादि के विषय में कुछ भी नहीं जाना जा सका है।

हड़प्पीय सभ्यता की लिपि अद्यावधि बूझी–सुलझाई नहीं जा सकी है। तथापि उसके विषय में कुछ बातें जानना रसप्रद होगा। मोंहे–जो–दड़ो और हड़प्पा के खोदे गए नगरों में से कुछ मुद्राएं, ताम्रपट्टिकाएं आदि प्राप्त हुई हैं। जिनके ऊपर कुछ लेखन किया गया हो ऐसा देखने को मिलता है। (1) डॉ. हन्टर ने इन लेखों का अभ्यास करके उसमें से 234 अक्षरों का पृथक्करण कर दिया है और उसमें से 102 मूलाक्षर होने की कल्पना की है। इस लिपि का स्वरूप अंशतः चित्रात्मक, भावात्मक, ध्वन्यात्मक अथवा श्रुत्यात्मक है। (अर्थात् ब्राह्मी इत्यादि लिपियों की भाँति वह पूर्णतः वर्णात्मक नहीं है।) तदुपरान्त, (2) (खरोष्ठी या उर्दू लिपियों की भाँति) इस हड़प्पीय लिखाई की दिशा दाँयी ओर से बाँयी ओर होती है ऐसा माना जाता है। जहाँ तीन जितनी पंक्तियों की लिखाई है ऐसा लगता है वहाँ खेती के दौरान बैल को चलाने के जो पद्धति होती है, (बलीवर्द–आवर्तन–गति) तदनुसार अक्षर पहली पंक्ति में दाहिने से बाँये, और दूसरी पंक्ति में बाँये से दाहिने और फिर तीसरी पंक्ति में दाहिने से बाँयें जाते हों ऐसा लगता है।



इसे गोमूत्र लिपि कहा जाता है। अंग्रेजी में इसे **Boustrophedon** कहा जाता है और ऐसी लिपि विश्व की प्राचीनतम लिपि मानी जाती है। कहीं–कहीं ऐसे आकार में भी हड़प्पीय लिखाई चलती है। परन्तु यह लिपि आज तक बिना सुलझें ही रह गई है और जिन्होंने इसे सुलझा देने का दावा किया है वे सर्वसम्मत नहीं बन सके हैं।

(क) ब्राह्मी लिपि – आज भारतवर्ष में जो–जो लिपियाँ प्रचलित हैं, वे सभी प्रायः ब्राह्मी लिपि से ही अवतरित हुई है। इस ब्राह्मीलिपि की मुख्यवंशवेल (1) पूर्वकालिक ब्राह्मीलिपि, (2) उत्तरकालिक ब्राह्मीलिपि और (3) नागरी/देवनागरी ऐसे क्रम में चली है। भारत के इतिहास को जानने–समझने के लिए जिन–जिन शिलालेखों को पढ़ने का प्रयास हुआ है उनमें दिल्ली, इलाहाबाद, सांची माथिया, राधिया, गिरनार और धोली इत्यादि स्थलों के प्राचीन शिलालेख (या स्तंभ के ऊपर उत्कीर्ण लेख)

उल्लेखनीय हैं। इन शिलालेखों में पूर्वकालिक ब्राह्मीलिपि प्रयुक्त है। उनमें "देवों के प्रिय प्रियदर्शी राजा" (सम्राट अशोक) के लेख हैं ऐसा पढ़ने में आने के बाद, काफी समय बाद यह समझ में आया कि– ये तो मौर्यसम्राट अशोक (ईसा पू. 250) ने लिखवाए लेख हैं। ब्राह्मी लिपि से विकसित हुई गुप्तलिपी की वर्णमाला का उपयोग करके गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त ने (ईसा पू. 400) एक शिलास्तंभ उत्कीर्ण (खुदवाया) कराया है। जो इलाहाबाद (उत्तरप्रदेश) में आज सुरक्षित है।

लिपि की उत्पत्ति – भाषा की उत्पत्ति होने के बाद कालान्तर में लिपि की उत्पत्ति हुई है या भाषा की उत्पत्ति के साथ में ही उसकी उत्पत्ति हुई होगी। यह बात आज तक निश्चिततापूर्वक हम नहीं जान सकते है। आज उपलब्ध होने वाली जो सब से प्राचीनतम लिपि है वह मोहें–जो–दड़ो की लिपि है। परन्तु वह अद्यावधि निर्विवाद रूप से पढ़ी नहीं गई है। अतः हमारे लिये तो भारत की सब से पुरानी लिपि ब्राह्मीलिपि ही कही जायेगी। 'ब्राह्मीलिपि' ऐसा नामाभिधान कैसे हुआ होगा? इस विषय में अनेक अनुमान किए गए हैं– (क) 'ब्राह्मी' शब्द 'ब्रह्मन्' में से बनाया गया है और ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण या वेद। अतः ब्राह्मणों की लिपि, या वेद के रक्षण के लिए आर्यो के द्वारा खोजी गई लिपि वह "ब्राह्मीलिपि" ऐसा एक समाधान दिया गया है। (ख) एक जैन ग्रंथ में बताया है कि आदिनाथ ऋषभ देव ने एक लिपि तैयार करके, अपनी ब्राह्मी नाम की पुत्री को सिखाई थी, जिसके कारण उस लिपि को 'ब्राह्मीलिपि' ऐसा नाम मिला है। (ग) चीन के बौद्धविश्वकोश "फा–युअन–युलिन" (ईस्वी सन् 662) में ब्राह्मी लिपि ब्रह्मा ने उत्पन्न की है ऐसा बताया है।

ब्राह्मी लिपि के मूलाक्षर किस प्रकार पहचाने गए? उसका इतिहास भी रस प्रद है। इस इतिहास की जानकारी संक्षेप में पहले देखने के बाद फिर ब्राह्मीलिपि में से अवतरित हुई उत्तर–उत्तरकालीन लिपियों की जानकारी देखेंगे। भारत में मुसलमानों का आगमन हुआ तब चौदहवीं सदी में फिरोजशाह तुरा द्वारा पंजाब के अंबाला जिले में से टोपरा गाँव में स्थित सम्राट अशोक का एक पत्थर का स्तंभ जिसके ऊपर कुछ 'लिखाई' की गई थी, खुदवाकर दिल्ली में ले आया गया। परन्तु कोई भी पंडित उसे समझ नहीं सका। वर्णों का घुमाव नितान्त अपरिचित होने के कारण वह किसी से भी पढ़ा नहीं जा सका था। इसके बाद, दूसरा प्रयत्न बादशाह अकबर ने ईस्वी सन् 1562 से 1605 में किया, परन्तु किसी भी पंडित को सफलता नहीं मिली।

तीसरा प्रयत्न अंग्रेज भारत में आए उसके बाद प्रारम्भ हुआ। सर विलीयम जॉन्स ने जिन्होंने शाकुन्तल का प्रथम अंग्रेजी अनुवाद किया था, ईस्वी सन् 1624 में **(Asiatic Society, Bengal)** की कलकत्ता में स्थापना कराई, (और उसके बाद ईस्वी सन् 1223 में लंदन में **The Royal Asiatic Society** की स्थापना हुई।) उसके बाद इस्वी सन् 1625 से 1629 तक मेहनत करके, चार्ल्स विल्कीन्स ने पढ़कर बताया, परन्तु इन शिलालेख और स्तंभ लेख को पढ़ना अतिमुश्किल था। क्योंकि उसमें गुप्तलिपि से भी पुरानी प्राचीन ब्राह्मीलिपि प्रयुक्त हुई थी। गुप्तलिपि के अन्य कुछ वर्णों को सुलझाने–बूझने का काम कैप्टन ट्रॉयर, डॉ. मिल और जेम्स प्रिन्सेप ने भी किया था।

चौथा प्रयत्न 1634–35 ई.सन् को समयावधि में जेम्स ने पुनः प्रारंभ किया। उन्होंने राधिया, माथिया, इलाहाबाद, दिल्ली के सभी स्तंभ लेखों के लेखन (लिखाई) की प्रतिकृति (नकल) एकत्र करके, पास–पास रखकर तुलनात्मक अभ्यास प्रारम्भ किया। परिणाम स्वरूप उन्हें तुरन्त यह बात ध्यान में आई कि इन सभी स्तंभों की लिखाई एक समान ही है। दूसरा उन्हें यह भी समझ में आया कि जैसे गुप्तलिपि में व्यंजन के पीछे/नीचे/ऊपर स्वरचिह्न लगाए गए हैं वैसे ही इन उत्कीर्ण लेखों में भी व्यंजनों के पीछे स्वरमात्रायें जोड़ी गई है। इस दूसरे अनुमान से यह बात खुल गई कि–शुरूआत में जिन अंग्रेजों ने इन (अशोक के) स्तंभलेखों को सिकन्दर की विजययात्रा के स्मारक स्तंभ–मानकर, वह लिखाई प्राचीन ग्रीक–लिपि में है ऐसी कल्पना की थी, वह नितान्त असत्य थी–यह सिद्ध हो गया। इस तरह से, व्यंजनों में स्वरचिह्नों की मिलावट पहचान में आने के बाद गुप्त–लिपि के साथ तुलना कर–करके प्राचीन ब्राह्मी

के अमुक–अमुक वर्णों की पहचान खड़ी की गई। जेम्स स्टिवन्सन नामक खिस्ती पादरी ने भी इस प्राचीन ब्राह्मी के क, प, ज, ब– को पहचान लिया।

पाँचवे प्रयत्न में यह बात समझ में आई कि इन स्तंभलेखों के लेख "संस्कृत भाषा में लिखे हुए है"– यह मान्यता भी गलत है। जेम्स प्रिन्सेप का इस बात पर ध्यान गया कि लेख के बहुत से शब्दों के अंत में दो अक्षर एक समान हैं और उनमें एक अक्षर "स" है। यह "स" अक्षर संस्कृत भाषा की षष्ठी विभक्ति एकवचन के 'स्य' प्रत्यय का भ्रष्टरूप है। पालि–प्राकृत का यह 'स' प्रत्यय है। इस प्रकार, संपूर्ण लेख 'पालि–प्राकृत भाषा में है' ऐसा पाँचवे प्रयत्न में समझ में आया और "दानम्" शब्द को सबसे आखिर में पहचान लिया गया तब प्राचीनतम ब्राह्मीलिपि की वर्णमाला के समस्त अक्षरों को पूरा–पूरा पढ़ा जा सका और ईसा पूर्व 263 के सम्राट अशोक की समयावधि के प्राचीन भारत के इतिहास का आधार जाना जा सका।

यहाँ एक मुद्दे की और ध्यान खींचना जरूरी बनता है कि – सम्राट अशोक (ईसा पूर्व 263) के शिलास्तंभों पर उत्कीर्ण लिपि "ब्राह्मी लिपि" है, जो भारत की प्राचीनतम उपलब्ध लिपि है और सफलतापूर्वक सुलझाई जा सकी लिपि है। परन्तु यहाँ दो बातें ध्यानास्पद हैं – (1) अशोक के समय से भी पूर्व कितने समय से यह लिपि प्रचलित हुई थी? ये बात जानना अभी भी बाकी है। अशोक के समय से भी पूर्व (250 वर्ष पहले) भगवान् बुद्ध के समय में भी यह ब्राह्मीलिपि प्रचार में होनी चाहिए। कारण की भगवान बुद्ध का भ्रमण–प्रान्त नेपाल से बिहार तक का भाग नालंदा विश्वविद्यालय का क्षेत्र रहा है, इसलिए उस विद्याधाम में लेखन कला और लिपि भी अस्तित्व में होगी ही। दूसरी और उसी समयावधि में वर्तमान पाकिस्तान में पेशावर के पास तक्षशिला विश्वविद्यालय था जो समय और स्थल पाणिनि का भी माना जाता है। इस प्रकार ईसा पूर्व 563 की समयावधि में (बुद्ध के समकाल में ही) यदि व्याकरण ग्रन्थ की रचना हुई हो तो वहाँ भी 'लिपि' और लेखनक्रिया होगी ही।

15.3 प्रादेशिक लिपियाँ

अब, हम ब्राह्मी लिपि में से परिवर्तन होते–होते, उत्तरवर्ती काल में कहाँ–कहाँ कौन–कौन सी लिपियाँ अवतरित हुई थी उसका चित्र प्राप्त करेंगे–

(ई.सन् 350 के बाद) विकसित

↓

उत्तर भारत प्रचलित ब्राह्मीलिपि (ग) ई.सन् 400–500 गुप्तकाल में चलने वाली "गुप्तकालीन" ब्राह्मीलिपि" का नमूना उदयगिरि का शिलालेख, जिसमें ऐसे जिव्हा मूलीय और उपध्मानीय के स्वतंत्र चिह्न देखने को मिलते हैं! तथा वर्णों का घुमाव "नागरी लिपि" की ओर ढलता जा रहा हो ऐसा लगता है। वर्णो के ऊपर शिरोरेख की शुरूआत हुई है।

↓

कुटिल लिपि (ई.स. 600–900) नमूना – (1) प्रज्ञापारमिता–हृदयसूत्र और उष्णीषविजय धारिणी की हस्तप्रतियों में यह लिपि प्रयुक्त

दक्षिण भारत में प्रचलित ब्राह्मीलिपि (घ) ई.स. 650 में बनाए गए भट्टिट प्रोलु के स्तूप में (तमिलनाडु, कृष्ण जिला) मिलने वाली 'पल्लव लिपि

↓

8–9 सदी में कर्णाटक में नंदि–नागरी लिपि–विकसित हुई। नमूना – राष्ट्रकूटवंश के राजा का ताम्रपत्र (ई. स. 754)'

हुई है। ये हस्तप्रतियों जापान के एक बौद्ध मठ में सुरक्षित हैं।

(2) राजा यशोवर्मा का लेख (ई.स. 532 मंदसौर का लेख)

(3) मेवाड़ में शिलादित्य का लेख (ई.स. 646)

(4) (ई.स. 642) बाँसखेड़ा में से प्राप्त हर्षवर्धन का ताम्रपत्र

इन चार नमूनों में 'कुटिल लिपि' प्रयुक्त है।

↓

नागरी लिपि

(समग्र उत्तर और मध्यभारत में प्रचलित हुई।)

↓

11–12 वीं सदी तक के समय में विकसित हुई देवनागरी का रूप आज तक सुरक्षित बना हुआ है। नोट – यद्यपि, इस देवनागरी के वर्णों में बहुत कम परिवर्तन हुए हैं, परन्तु स्वरचिह्नों की लेखन शैली में काफी परिवर्तन होते रहे हैं। जिसमें पडी मात्रा, अग्रमात्रा, अधोमात्रा और ऊर्ध्वमात्राओं के उपयोग का मुद्दा मुख्य है।

↓

उत्तर मध्यभारत में देवनागरी का प्रचलन विकसित चलता रहा।

पूर्वभारत में बांग्ला लिपि हुई।

↓

12वीं सदी के बाद जो लिपि विकसित हुई– (1) आज की बांग्ला, (2) मैथिली–लिपि, (3) उड़िया लिपि और (4) नेपाल की नेवारी

शारदा लिपि

(पश्चिमोत्तर (पंजाब+काश्मीर) भारत में विकसित हुई लिपि

नमूना – राजा मेरूवर्मन् के 'शारदा' में लिखे गए शिलालेख (800 A.D.)

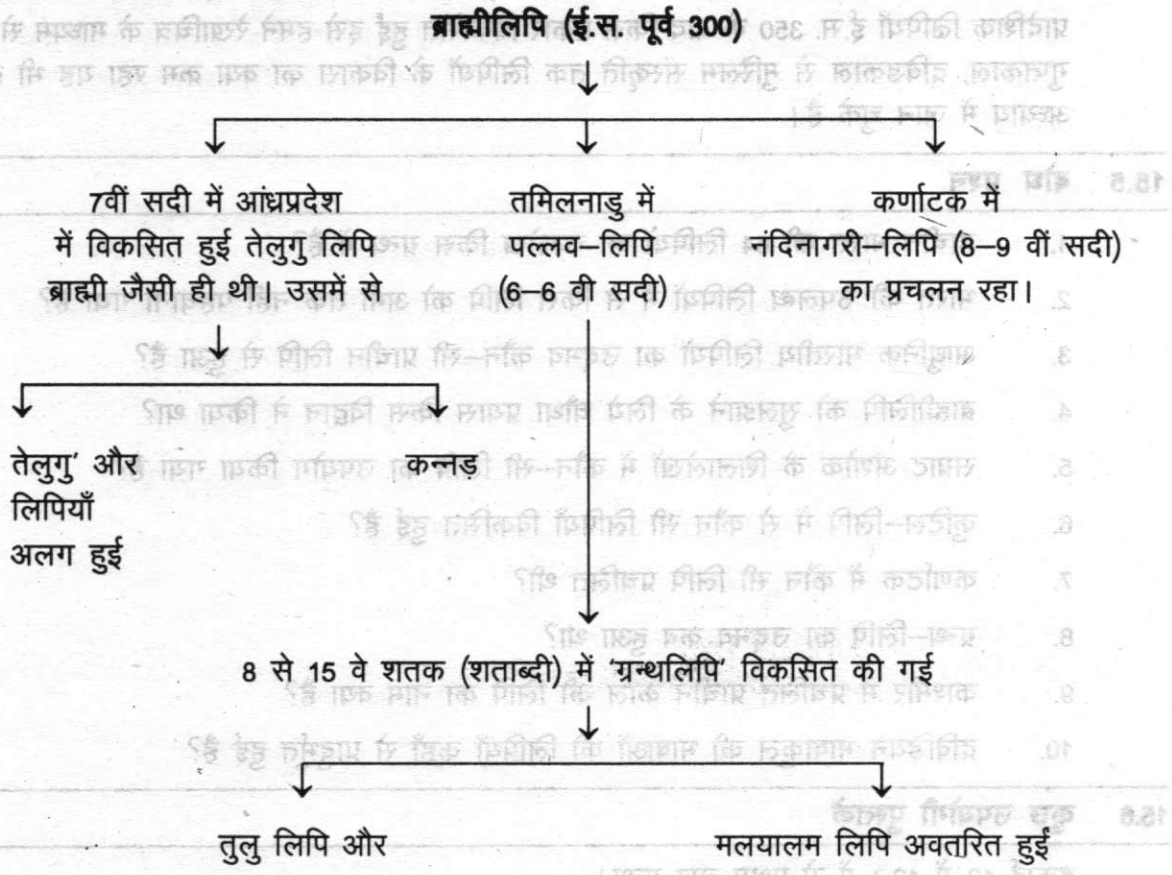
↓

1=काश्मीरी लिपि

2=टाकरी लिपि

3 = गुरुमुखी (पंजाबी)

दक्षिण भारत में 'द्रविडियन भाषाकुल' की लगभग पाँच भाषाएं आज उपयोग में हैं। जैसे कि –(1) तेलुगु (2) तमिल (3) कन्नड़ (4) और उनकी एक 'बोली', 'तुलु' तथा (5) मलयालम। ये पाँच भाषाएं भले ही 'द्रविड़ीयन भाषाकुल' की हो, परन्तु इन भाषाओं के वाक्यों को (= ध्वनियों को) लिपिबद्ध करने हेतु जिन–जिन लिपियों का उपयोग होता है, वे सभी प्राचीन ब्राह्मी लिपि में से ही अवतरित हुई हैं! इस उल्लेखनीय मुद्दे को जान लेने के बाद, अब हम दक्षिण भारत की लिपियों के विषय में थोड़ी प्राथमिक जानकारी प्राप्त कर लेंगे। (क्योंकि हमारे काफी संस्कृत ग्रन्थ आज भी इन दक्षिण की लिपियों वाली हस्तप्रतियों में सुरक्षित हैं।)



ग्रन्थलिपि – तमिलनाडु में विकसित की गई इस लिपि के विषय में थोड़ा विशेष जानने योग्य है। कारण कि इस लिपि वाली असंख्य हस्तप्रतियों में हमारे संस्कृत ग्रन्थों का पाठ आज तक सुरक्षित रहा है। इस लिपिवाली हस्तप्रतियाँ मुख्यतः ''ताड़पत्र'' पर लिखी हुई देखने को मिलती हैं।

तमिल भाषा में 'अ' से 'औ' तक के 9 स्वर हैं ही नहीं तथा 24 स्पर्श–व्यंजन ध्वनियों में से निम्नानुसार 12 व्यंजन ही (उच्चरित किए जाते) हैं–

क और ङ, च और ञ, ट और ण, त और न, प और म, य–र–ल–ब–ळ (=पाँच अन्तःस्थ) तथा ऴ ऱ और ण़ (=संस्कृत से भिन्न ऐसी चार ध्वनियाँ)। इस प्रकार कुल मिलाकर संस्कृत भाषा में विद्यमान ध्वनियाँ में से 14 ध्वनियाँ ही तमिल भाषा में हैं। अतः इस तमिल भाषा के लिए उपयोग में आने वाली तमिल लिपि का उपयोग करके, ग्रन्थ लिखे जा सके ऐसा सम्भव था ही नहीं। परिणाम स्वरूप 6 से 15वीं शताब्दी के बीच की समयावधि में तमिलनाडु के लोगों ने एक नई लिपि विकसित की, जिसमें संस्कृत भाषा के सभी वर्णों को अंकित करने की व्यवस्था खड़ी की गई। इस नई लिपि को ''ग्रन्थलिपि'' ऐसा नाम दिया गया। इस ग्रन्थलिपि में से ही 14–15 वें शतक में धीरे–धीरे 'मलयालम' और 'तुलु' लिपियाँ उद्‌भूत हुई।

इसके उपरांत भारत में मुस्लिम संस्कृति के संपर्क से अरबी, फारसी, उर्दू, कूफी, नस्ख, तालीक, नस्तालिक एवं तुग्रा जैसी (दाँयें से बाँये की और लिखी जाने वाली) लिपियाँ भी प्रचार में आई हैं।

15.4 सारांश

इस इकाई में हमने लिपियों के उद्‌भव तथा उनके विकास क्रम के विषय में जाना। लिपियों के अध्ययन की दृष्टि से लिपियों की उत्पत्ति तथा भारतीय लिपियों के परिवार के इतिहास का अध्ययन किया तथा प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी एवं उससे निकलने वाली अन्य लिपियों के बारे में जाना। खरोष्ठी आदि लिपियों की सामान्य जानकारी तथा लिपियों का संक्षिप्त ऐतिहासिक संकेत हमने इस अध्याय में प्राप्त किया प्रादेशिक लिपियाँ ई.स. 350 के बाद किस प्रकार विकसित हुईं इसे हमने रेखाचित्र के माध्यम से जाना। गुप्तकाल, द्रविडकाल से मुस्लिम संस्कृति तक लिपियों के विकास का क्या क्रम रहा यह भी हम इस अध्याय में जान चुके है।

15.5 बोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत की 64 लिपियों का उल्लेख किस ग्रन्थ में है?
2. भारत की उपलब्ध लिपियों में से किस लिपि को अभी तक नहीं पहचाना गया है?
3. आधुनिक भारतीय लिपियों का उद्‌भव कौन–सी प्राचीन लिपि से हुआ है?
4. ब्राह्मीलिपि को सुलझाने के लिये चौथा प्रयास किस विद्वान ने किया था?
5. सम्राट अशोक के शिलालेखों में कौन–सी लिपि का उपयोग किया गया है?
6. कुटिल–लिपि में से कौन सी लिपियाँ विकसित हुई है?
7. कर्णाटक में कौन सी लिपि प्रचलित थी?
8. ग्रन्थ–लिपि का उद्‌भव कब हुआ था?
9. काश्मीर में प्रचलित प्राचीन काल की लिपि का नाम क्या है?
10. द्रविडियन भाषाकुल की भाषाओं की लिपियाँ कहाँ से प्रादुर्भूत हुई है?

15.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

इकाई 12 में 12.7 में से प्रथम चार ग्रन्थ।

15.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. 15.2 में देखें।
2. 15.2 में देखें।
3. 15.2 में देखें।
4. 15.2 में देखें।
5. 15.2 में देखें।
6. 15.3 में देखें।
7. 15.3 में देखें।
8. 15.3 में देखें।
9. 15.3 में देखें।
10. 15.3 में देखें।

इकाई– 16

संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों तथा सूचीपत्रों का इतिहास

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीकरण की आवश्यकता

16.3 प्रमुख सूचीपत्र

16.4 प्रमुख सूचीपत्रों का विवरण

16.5 प्रमुख भाण्डागार

16.6 विविध पाण्डुलिपियों के चित्र

16.7 निष्कर्ष

16.8 बोध प्रश्न

16.9 उपयोगी ग्रन्थ

16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

अनुसन्धान कार्य में प्रवृत्त लोगों के लिए विषय चयन अपने आप में बड़े अनुसन्धान का विषय होता है और जो लोग सम्पादन से सम्बन्धित कार्य करना चाहते हैं उनके लिए मूल रचना के प्राप्ति स्थान अर्थात् पाण्डुलिपियों की सम्पूर्ण जानकारी आवश्यक होती है। इस इकाई में आप संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीकरण की आवश्यकता, प्रमुख सूची पत्रों की जानकारी प्राप्त करने के साथ ही देश के प्रमुख हस्तलेखागारों के बारे में जान पायेंगे। इस इकाई में आप निम्न बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे।

- सूचीपत्रों का इतिहास
- प्रमुख सूचीपत्र
- प्रमुख भाण्डागार

16.1 प्रस्तावना

ज्ञान या बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य अन्य प्राणियों से स्वयं को पृथक् करता है। ज्ञान की महिमा प्राचीन काल से ही गाई जाती रही है और विद्यादान श्रेष्ठ दान कहा गया है। प्राचीन काल में जब छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था तब भी लोग अपनी उपयोगी पुस्तकों की हाथ से प्रति कर अपने पास रखा करते थे। इस प्रकार एक ही पुस्तक की कई प्रतियां हो जाती थीं। इनमें धार्मिक पुस्तकों की संख्या ज्यादा थी। संस्कृत जगत् में भी धार्मिक ग्रन्थों के साथ–साथ श्रेष्ठ रचनाकारों की कृतियों की प्रतिलिपि कर अपने संग्रह में रखने की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। कई राजा व श्रेष्ठी तो वेतन पर प्रतिलिपि करवाने का कार्य करवाया करते थे और अपने निजी संग्रहालयों में दुर्लभ ग्रन्थों की प्रतियां एकत्र करते थे। विद्याव्यसनी जनों की यह मेहनत आधुनिक अनुसन्धाताओं का मार्गदर्शन करती है और उन्हें अपनी इस मेहनत का उद्धार करने के लिए प्रेरित भी करती है। आज ये पाण्डुलिपियाँ कई संग्रहालयों में ऐसे जिज्ञासुओं का इन्तजार कर रही हैं जो उन पर कार्य कर ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों को आलोक में ला सकें। इस इकाई में पाण्डुलिपि के प्रमुख संग्रहालयों के सूचीपत्रों एवं भाण्डागारों की जानकारी

संकलित की गई है।

16.2 हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीकरण की आवश्यकता

शिलालेख, पाण्डुलिपि आदि ऐतिहासिक दस्तावेज किसी भी राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत कहलाते हैं। अपनी सांस्कृतिक विरासत की सुरक्षा एक महान् परम्परा रही है। प्राचीन काल में प्रतिलिपि करके ज्ञान राशि की सुरक्षा की प्रक्रिया तो थी, लेकिन उनकी सुरक्षा के प्रति जागरुकता की कमी थी। जैसे–जैसे ऐतिहासिक परम्परा की सुरक्षा की चेतना जाग्रत हुई, तब से इन्हें सुरक्षित रखने की ओर प्रवृत्ति बनीं। ये ज्ञान राशि विविध संग्रहालयों, पण्डितों एवं विद्वानों के घरों में, विद्या केन्द्रों, गुरु गृहों, मन्दिरों, मठों, तीर्थस्थलों पर सुरक्षित थी। विद्वानों के आश्रयदाताओं ने सरस्वती भण्डारों के नाम से पुस्तकालय प्रारम्भ किए थे। वहाँ से तीर्थयात्रा या गोष्ठी के निमित्त इन पाण्डुलिपियों का स्थानान्तरण होता था। दक्षिण के अप्पय दीक्षित की रचनाओं की कश्मीर में प्राप्ति एवं काश्मीर के काव्य की त्रिवेन्द्रम् में प्राप्ति इसका प्रमाण है। इसी प्रकार कई ग्रन्थ विदेश तक पहुँच गए। इस प्रकार पाण्डुलिपियों के संग्रह देश– विदेश के विविध भागों में प्राप्त होते हैं। दूसरे स्थान पर बैठे व्यक्ति को इनकी जानकारी के लिए सूची पत्रों पर आश्रित रहना होता है। आज तो प्रमुख भाण्डागारों के सूचीपत्रों को प्रकाशित कर देश के सभी प्रतिष्ठित पुस्तकालयों को उपलब्ध करवाया गया है जहाँ जाकर इन संग्रहालयों में रखे ग्रन्थों के बारे में जानकारी प्राप्त करना सरल हो जाता है। इन सूची पत्रों में पाण्डुलिपियों के आकार, प्रकार, स्थिति, लिपि, रचनाकाल, विषय आदि की सामान्य जानकारी उपलब्ध रहती है। कुछ दुर्लभ पाण्डुलिपियों के तो कुछ अंश भी अन्त में उद्धृत कर दिए जाते हैं। अतः देश–विदेश के विविध संग्रहालयों में सुरक्षित ज्ञान के अथाह भण्डार को प्रकाश में लाने एवं ज्ञान पिपासुजन को इनके बारे में समस्त सूचनाएं उपलब्ध कराने में सूचीपत्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

16.3 सूचीपत्रों का इतिहास

देश के साथ ही विदेशों नें विद्यमान हस्तलिखित ग्रन्थों की जानकारी दूर बैठे व्यक्ति को उपलब्ध कराने की दृष्टि से सूचीपत्र महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। चीन, तिब्बत, अमेरिका, इंग्लैण्ड, यूरोप एवं अन्य देशों में हजारों पाण्डुलिपियाँ मिली हैं। जापान में 500 ऐसे पुस्तक के सूचीपत्र प्राप्त होते है।

सार्वजनिक स्थलों एवं व्यक्तिगत स्थानों में जो भी सामग्री इधर– उधर बिखरी पड़ी हैं, उनका सूचीकरण किया जाना अपेक्षित मानकर अलग–अलग स्थानों पर सूचीकरण के प्रयास किये गये। इनका प्रकाशन प्रसारण आदि कार्य होते रहे हैं। विषयानुसार सूची तैयार करने का कार्य भी हुआ है। सूचीपत्रों में जितनी अधिक सूचना हो उन्हें भली–भाँति जानना उतना अधिक सरल होता है। भारत में सूचीकरण की प्रक्रिया पुराणों में देखने को मिलती है। पुराणकर्ता स्वयं अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पुराण, उनकी संख्या, सर्ग, विषय आदि की सूचना श्लोकों के माध्यम से देता है। इससे पूर्व की सूचियों की जानकारी प्राप्त नहीं होती।

जब हम हस्तलिखित ग्रन्थों के संकलन एवं संरक्षण की बात करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि हस्तलिखित ग्रन्थों के संकलन में विभिन्न प्रान्तीय शासकों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। इनमें मुगल शासक, धार्मिक संस्थाएं, मठ एवं जैन भण्डार शामिल हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के गठन से पूर्व उनके महत्त्व, संकलन एवं सूचीकरण की कोई व्यवस्थित प्रक्रिया नहीं थी। सबसे पहले सूचीपत्र निर्माण का श्रेय जाता है जैन समाज को। एक जैन मुनि द्वारा सम्वत् 1440 (1338 C E) में बृहत्टिप्पणिका के नाम से हिस्तलिखित ग्रन्थों का कैटलोग बनाया गया था। दुर्भाग्यवश उनके नाम की कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। इस सूचीपत्र में पाटन, भड़ूच जैसे कई स्थलों से प्राप्त पाण्डुलिपियों का संग्रह है। इस सूचीपत्र में ग्रन्थ के लेखक, रचनाकाल व ग्रन्थ के परिमाण आदि की सूचना सम्मिलित है। इस सूचीपत्र के ग्रन्थ अब भी शान्तिनाथ भण्डार में सुरक्षित हैं। दूसरा नाम वाराणसी के कवीन्द्राचार्य का सामने आता है जिन्हे शाहजहाँ ने सर्वविद्यानिधान की उपाधि दी थी। इन्होंने 17वीं शती में हस्तलिखित ग्रन्थों का

संकलन कर विषयवार 2192 पाण्डुलिपियों का सूचीपत्र बनाया (1628– 1688 C E)। काव्य रचनाओं को सूचीबद्ध कर 9वीं शताब्दी में विद्याकर का सुभाषितरत्नकोश (11 वी. शती लगभग 223 कविताएं), श्रीधरदास का सदुक्तिकर्णामृत (13 वी. शती), शार्ङ्गधर का शार्ङ्गधर पद्धति (1363 C.E. लगभग 380 कविताएं), वल्लभदेव की सुभाषितावली (15वीं शती लगभग 380 कविताएं), रूपगोस्वामी की पद्यावली (16वीं शती लगभग 133 कविताएं) आदि संकलन बनें।

मध्ययुग तक आते आते दिल्ली के शासकों, प्रान्तीय शासकों एवं स्वतन्त्र शासकों ने पाण्डुलिपियों के संकलन में रुचि दिखाई। मैसूर प्रशासक टीपू सुल्तान (18वीं शती) ने प्राचीन पाण्डुलिपियों का संग्रह कर पुस्तकालय बनाया जिसमें अरबी, फारसी एवं हिन्दुस्तानी भाषाओं की पाण्डुलिपियां थीं। ब्रिटिश शासकों से पराजित होकर मृत्यु के बाद उसकी लाईब्रेरी ब्रिटिश शासकों ने हस्तगत कर ली। इस पुस्तकालय की पुस्तकों का संकलन कर सूचीबद्ध किया जनरल स्टवर्ट ने। यह केटलोग । **Descriptive Catalogue of the Oriental Library of the Late Tipu Sultan of Mysore.....Cambridge: University Press, 1809** में प्रकाशित हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साम्राज्य के अन्तर्गत विद्यमान राजाओं एवं पड़ौसी राजाओं ने पाण्डुलिपियां इकट्ठी की और पुस्तकालय बनाये। इस क्षेत्र में त्रावनकोर, कोचीन और मैसूर का नाम अग्रणी है। महाराजा विक्रम तिरुनल (1880–85) ने त्रावनकोर महल पुस्तकालय का निर्माण कर पाण्डुलिपि संग्रह प्रारम्भ किया। इस पुस्तकालय की पुस्तकों का सूचीकरण किया के. साम्बसिव शास्त्री और महादेव शास्त्री ने और आठ भागों में । **Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in H.H. the Maharajah's Palace Library, Trivandrum, Trivandrum: V.V. Press Branch, 1937-38** प्रकाशित किया। संस्कृत पाण्डुलिपियों का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह त्रावनकोर संरकार द्वारा कॉर्टरस् ऑफिस लाईब्रेरी के नाम से बनाया गया। के. साम्बशिव शास्त्री, के. महादेव शास्त्री, पी. के. नारायण पिल्लै और एल. ए. रवि वर्मा ने इसका दस भागों में केटलोग बनाया। जो **A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Curator's Office Library, Trivandrum, V.V. Press Branch, 1937-1941** नाम से प्रकाशित हुआ।

बीकानेर एवं जोधपुर के संकलित हस्तलिखित ग्रन्थों के संकलन भी बाद में प्रकाशित हुए। इस सन्दर्भ में जम्मू काश्मीर के डोगरा शासकों का योगदान भी स्मरणीय है। भारत में संस्कृत, प्राकृत, पाली एवं क्षेत्रीय भाषाओं के साथ–साथ अरबी, फारसी, तिब्बती, जेन्द और पहलवी भाषाओं की पाण्डुलिपियों की भी बड़ी संख्या है, जिनका संकलन कार्य हुआ।

ब्रिटिश शासक शिक्षा के क्षेत्र में अग्रणी थे। उन्होंने भारतीय परम्परा व ज्ञान को पाण्डुलिपियों के रूप में संरक्षित किया। 1785 ईस्वी में एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के गठन के साथ ही पाण्डुलिपियों की व्यवस्थित खोज, सर्वे, संकलन और सूचीकरण प्रारम्भ हुआ। बहुत से सरकारी संग्रह कलकत्ता, वाराणसी, पूना व मद्रास में प्रकाश में आए।

भारतीय पाण्डुलिपियों के प्रथम केटलोग बनाने का श्रेय जाता है सूरत के जनरल अस्पताल के डॉ. निकोलस को जिन्होंने 1788 से 1795 तक की पाण्डुलिपियों की 15 पेज की सूची बनाई। यह सूची संस्कृत, जेन्द, पहलवी, फारसी व अरबी से सम्बन्धित है। जेम्स फ्रेशर ने 1742 में कुछ संस्कृत, फारसी व अरबी पाण्डुलिपियों का सूचीपत्र लन्दन से छापा लेकिन यह जानकारी नहीं है कि भारत में कहाँ बना और इसकी पाण्डुलिपियां उस समय भारत में थीं। सर विलियम जोन्स एवं लेडी जोन्स ने संस्कृत प्राकृत एवं अन्य पुरानी पाण्डुलिपियां इण्डिया से प्राप्त की और उन्हें 1792 में रॉयल सोसायटी लन्दन को सौंपा। इसका पत्र इण्डिया ऑफिस लाईब्रेरी को दिया गया। सर चार्ल्स विलकि जो फिलोसोफिकल ट्रांजेक्शन में रॉयल सोसायटी लन्दन द्वारा प्रकाशित (1798 ई.) हुआ।

एक भारतीय पण्डित ने तीन हजार पाण्डुलिपियों का अकारादि क्रम से वर्गीकृत केटलोग बनाया जो कॉलेज ऑफ फोर्ट विलियम, एशियाटिक सोसायटी बंगाल कॉलेज की लाईब्रेरी और बनारस संस्कृत कॉलेज में विद्यमान थी। यह सूची पत्र जेम्स प्रिन्सिप के निर्देशन में पं. रामगोविन्द तर्करत्न ने तैयार किया। इसने पाण्डुलिपियों को संस्कृत, बंगाली, कन्नड़, मराठी में बांटा (**Suchipatram. Calcutta:**

Asiatic Society of Bengal, 1838)। केटलोग के लम्बे संस्कृत उपशीर्षक काफी रोचक हैं।

उन्नीसवीं बीसवीं शताब्दी में भारत में पाण्डुलिपियों की खोज से सम्बन्धित बहुत से विद्वानों की सर्वे रिपोर्ट प्रकाश में आई जिनका विवरण इस प्रकार है:–

1. Report of Georg Buhler's tour in Southern Maratha in search of Sanskrit manuscripts for the Govt. of Bombay, 12th Feb. 1867, contains the description of 200 mss. (Pub. in ZDMG);
2. Detailed Report of a tour (by G. Buhler) in search of Sanskrit mss. made in Kashmir, Rajputana and Central India (Pub. in two parts, 1877)
3. F. Keilhorn ने the Supplementary Catalogue of Sanskrit Works in the Saraswati Bhandaram Library of the Maharaja of Mysore in 1874 प्रकाशित किया।
4. His two lists of Sanskrit Manuscripts purchased for the Govt. of Bombay, during the years 1877/78, 1879/80 (Pub. 1881) are very important उसकी दो ग्रन्थ सूचियाँ महत्त्वपूर्ण है।
5. A Catalogue of Sanskrit Manuscripts existing in the Central Provinces; prepared by order of E. Willmot, edited by F. Kielhorn (Pub. Nagpur: Govt. Book Depot, 1874)

डेक्कन कॉलेज पूना ने भारतीय पाण्डुलिपियों का संकलन कर उनका सूचीकरण करना प्रारम्भ किया और G. Buhler & F. Kielhornu ने यह कार्य शुरु किया। इसका विवरण इस प्रकार प्राप्त होता है–

1. Three lists of Mss. in the Deccan College and the Elphinston College collections by G. Buhler (Pub. 1874/1875).
2. Peter Peterson's Report of operations in search of Sanskrit Manuscripts in the Bombay circle: Four Reports - 1883, 1884, 1887, 1894 (Pub. in book form in 1899).
3. R.G. Bhandarkar, Report to K.M. Chatfield, Poona as regards the search of Sanskrit Manuscripts (1880).
4. R.G. Bhandarkar, List of Sanskrit Manuscripts in private libraries in the Bombay Presidency (1883).
5. R.G. Bhandarkar. Another Report on Sanskrit Manuscripts in the Bombay Presidency, 1881-1901.
6. A Catalogue of the Collections of Manuscripts deposited in the Deccan College, Poona, from 1868 to 1884, compiled by S.R. Bhandarkar (Pub. Bombay: Govt. Central Press, 1888).
7. Reports on search of Sanskrit Manuscripts through Central India, Central Provinces and Rajputana by S.R. Bhandarkar during 1904 and 1905.
8. Report on Sanskrit Manuscripts in six private libraries in the Delhi District by Kashinath Kunte (1882).

पूर्वी भारत में सूचीपत्र निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया राजा राजेन्द्र लाल मित्र और हरप्रसादशास्त्री ने। राजेन्द्र मित्र ने 19वीं शती में इस क्षेत्र में काम प्रारम्भ किया और कई सूचीपत्र तैयार किये। इनका विवरण अंग्रेजी में इस प्रकार है –

1. Mitra published as early as 1877, A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Library of the Asiatic Society of Bengal, Part-1: Grammar (Pub. Calcutta: Baptist Mission Press).
2. B. H. Hodgson of the British Residency in Kathmandu (Nepal) brought a collection of Manuscripts of Sanskrit Buddhist Literature, which he presented, to the Asiatic Society of Bengal. Mitra compiled a detailed descriptive work on this collection,

under the title, The Sanskrit Buddhist Literature of Nepal (Pub. Calcutta: Baptist Mission Press, 1882).

3. Most outstanding work of Raja Rajendralala Mitra is the Notices of Sanskrit Manuscripts (deposited in the Library of the Asiatic Society of Bengal, Calcutta or in other collections). First series: Vols. 1-11. Published under order of Govt. of Bengal (Calcutta: Baptist Mission Press, 1871-1895). On the demise of Rajendralala Mitra, Mm. Haraprasada Sastri took up the Project and published the Second series in four volumes (1898-1911)

इस संकलन का पूरा सेट शरद प्रकाशन दिल्ली द्वारा सत्कारी (सतकौडी) मुखोपाध्याय की बायोग्राफी के साथ पुनर्प्रकाशित किया जा चुका है। राजा राजेन्द्र मित्र का अन्य महत्त्वपूर्ण योगदान इस प्रकार है–

1. Catalogues of Sanskrit Manuscripts existing in Oudh (1872-1883);
2. Report on Sanskrit Manuscripts in native libraries in Bengal (1875).
3. Descriptive Catalogue of Sanskrit manuscripts in the Libraries of Asiatic Society of Bengal (1877);
4. A Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Library of H.H. the Maharaja of Bikaner (1880).
5. Mm. Haraprasada Sastri compiled A Catalogue of palm-leaf and selected paper manuscripts belonging to the Durbar Library of Nepal, 2 vols. (Calcutta: Baptist Mission Press, 1905-1915). This Catalogue has been re-printed in Germany (as Supplement vol. 31, under the series, Verzeichnis des Orientalischen Handschriften in Deutschland; Stattgart, 1889)
6. The Asiatic Society (earlier known as Asiatic Society of Bengal) started compiling and publishing excellent descriptive catalogues of Sanskrit, vernacular and Arabic, Persian and Urdu manuscripts preserved under the Society's care since the last quarter of the 19th century. Mitra's first catalogue, published in 1877 was followed by a long series of catalogues of manuscripts. The catalogues published by the Society are the best specimens of descriptive cataloguing in India. The first volume in this series appeared as early as 1895 (the volume number was changed and the contents revised later on). The Series continued till recently. The Sanskrit manuscripts have been described in 14 volumes, the latest having been published in 1887. Scholars such as Mm. Haraprasada Sastri, Hrishikesh Sastri, Sivachandra Guin, Nilamani Chakravarti, Bhavabhuti Vidyaratna, Ashutosh Tarkatirtha Nanigopal Banerji, Jogendranath Gupta, Narendra Chandra Vedantatirtha, Chintaharan Chakravarti, Satyaranjan Banerji, et al. have been the compilers and editors of different volumes. Besides, the Society has brought out quite a few volumes of catalogues of Rajasthani, Bengali, Assamese, Tibetan, Arabic, Persian and Urdu manuscripts.

जर्मन विद्वान् आफ्रेक्ट ने **'केटेलोगस केटेलोगरम्'** का प्रकाशन किया। इसका प्रथम खण्ड तीन भागों में निकला फिर समय का व्यवधान आया। इसके पश्चात् क्षेत्रीय दृष्टि से हस्तलिखित पुस्तकों का सूचीकरण किया जाने लगा। मद्रास विश्वविद्यालय ने सूचीकरण के प्रोजेक्ट को हाथ में लेकर आफ्रेक्ट के कार्य को पुनर्जीवित किया तथा **'न्यू केटेलोगस केटेलोगरम्'** के 10 भाग प्रकाशित किये। वैंकटराघवन की देखरेख में यह कार्य प्रारम्भ हुआ। 1968 में प्रथम भाग निकला व 1988 में 11 वाँ भाग निकला। 1978 तक इसके दस भाग प्रकाशित किये जा चुके थे। मद्रास में पश्चिमी परम्परा के कील्हार्न, वूलर, पीटर्सन, वर्नर एवं भण्डारकर आदि विद्वानों ने कार्य किया। इसी समय एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता में इसी स्तर पर सुन्दर कार्य हो रहा था। प्रादेशिक स्तर पर राज्य सरकारों ने भी इस कार्य

में योगदान दिया। उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों की खोज प्रारम्भ करके सूचियां बनवायीं एवं संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हुए। अलवर से टाइप की हुई सूची प्रकाश में आयी। बाद में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने शिक्षा के क्षेत्र में इस कार्य को हाथ में लिया तथा सूचीकरण के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की। सम्पूर्ण राष्ट्र में विश्वविद्यालयों का चयन करके उनको पाण्डुलिपियों की खोज, सुरक्षा एवं संकलन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान की। मद्रास की केनम्बरा, गवर्नमेंट त्रिवेन्द्रम लाईब्रेरी, नेशनल लाईब्रेरी कलकत्ता इसी प्रकार के ग्रन्थागार हैं। इनमें यह भी नियम बनाया कि हर प्रकाशन की निशुल्क दो–दो प्रतियाँ भेजेंगे।

देश के विविध भागों में सूचीकरण का कार्य लगातार जारी रहा। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय में 90 हजार से अधिक पुस्तकें हैं। जैन संग्रहालय अलग हैं। अहमदाबाद के संग्रह में 60 हजार से अधिक ग्रन्थ हैं। जयपुर का पोथीखाना एवं तंजौर का सरस्वती महल भी समृद्ध पुस्तकालय रहा है। चीन के पण्डित परिवारों में ही 50000 से अधिक पुस्तकें विद्यमान हैं। नेपाल के व्यक्तिगत पुस्तकालयों में अनेक ग्रन्थ हैं। काश्मीर में पण्डितों के घरों में भी अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं।

तंजौर के ग्रन्थालय का सूचीपत्र **'ए क्लासिकल इण्डेक्स टू दा संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन द पैलेस ऑफ तंजौर'** बर्नेल व आर्थर कोक सन् 1880, दो भागों में प्रकाशित हुआ। दक्षिण भारतीय ग्रन्थों पर 1880– 85 में **'लिस्ट ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट (प्राईवेट) ऑफ सदर्न इण्डिया'** प्रकाशित हुआ। बेंजामिन लेविस राइस द्वारा **'केटलोगस ऑफ संस्कृत मेन्युस्क्रिप्ट्स इन मैसूर एण्ड तुर्क'**, 1884 में मैसूर से प्रकाशित हुआ। पिटरपिटर्सन लिखित **'केटलोग्स ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस् इन द लाईब्रेरी आफ न. स. महाराजा ऑफ अलवर'** 1892 में प्रकाशित हुआ। मद्रास गवर्नमेण्ट प्रेस द्वारा Hulzscha का **'रिपोर्टर्स ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन साउथ इण्डिया'** 1895 में प्रकाशित हुआ। संस्कृत कॉलेज कलकत्ता का **'डिस्क्रेप्टिव केटलोग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट'** ऋषिकेश शास्त्री और शिवचन्द्र गुई द्वारा 1895–1906 तक दस खण्डों में प्रकाशित हुआ। द गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल लाइब्रेरी मद्रास द्वारा **'डिस्क्रेप्टिव केटैलोग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स'** 25 भागों में तैयार किया गया। इसमें विषयानुसार विभाजन किया गया और 1901 से 1962 तक लगातार इसका प्रकाशन किया जाता रहा। 1917 से 1941 तक **'एशियाटिक सोसायटी कैटेलाग ऑफ प्रिन्टेड बुक्स एण्ड मैन्युस्क्रिप्ट्स'** प्रकाशित हुआ। इसमें पं. हरिप्रसाद शास्त्री का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

मद्रास गवर्नमेण्ट लाईब्रेरी द्वारा **'डिस्क्रीप्टिव केटेलोग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स'** पर 1905 से कार्य प्रारम्भ हुआ। अड्यार लाईब्रेरी एण्ड रिसर्च सेन्टर मद्रास द्वारा **'डिस्क्रीप्टिव केटेलोग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स'** पर 1908 से कार्य प्रारम्भ हुआ और अलग–अलग विषयों को विभाजित कर 10 भागों में बांटा गया। अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर के संस्कृत के अतिरिक्त **'केटेलोग्स ऑफ राजस्थानी मैन्युस्क्रिप्ट्स'** 1917 में तैयार हुआ।

बड़ौदा स्थित ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट का **'डिस्क्रीप्टिव केटलोग्स ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट'** एस. के. राधास्वामी द्वारा गायकवाड़ आरियन्टल सीरीज के रूप में प्रकाशित हुआ। संस्कृत एवं प्राकृत का सूचीपत्र 1934 में बरार से **'केटेलोग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत लैग्वेज इन दा सेन्ट्रल प्राविन्सेज'** नाम से प्रकाशित हुआ। जम्मू काश्मीर से **'डिस्क्रीप्टिव केटलोग ऑफ प्राईवेट लाईब्रेरी महाराजा ऑफ जे. एण्ड के.'** 1927 में प्रकाशित हुआ। जिसका सम्पादन रामचन्द्र टाक एवं हरभट्ट शास्त्री ने किया।

महाराजा संस्कृत लाईब्रेरी त्रिवेन्द्रम् से 1937 से 1951 तक के साम्ब शिवशास्त्री द्वारा आठ भागों में **'डिस्क्रेप्टिव केटलोग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट'** प्रकाशित हुआ। नागपुर विश्वविद्यालय से **'केटलोग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट नागपुर युनिवर्सिटी लाईब्रेरी'** वी. एम. करमवेलकर द्वारा प्रकाशित किया गया। गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल लाईब्रेरी मद्रास द्वारा 1938–40 तक 12 भागों में **'अल्फाबेटिकल इन्डैक्स ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस् ऑफ मद्रास'** प्रकाशित हुआ। डेकेन कॉलेज पूना में **'डिस्क्रेप्टिव केटलोग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट'** का प्रकाशन हुआ। ऑरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट बड़ौदा ने 1942 से 50 तक

'अल्फाबेटिकल लिस्ट ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द ऑरियन्टल इन्स्टीट्यूट बडौदा' प्रकाशित किया। राष्ट्रभाषा परिसर बिहार द्वारा प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण नाम से सूचीपत्र नलिन विलोचन शर्मा द्वारा सम्पादित हुआ। गोहाटी आसाम से **'केटलोग ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स'** प्रकाशित हुआ। 1961 में **'डिपार्टमेंट ऑफ हिस्टोरिकल एण्ड एन्टीक्यूरेनियन स्टेडीज गवर्नमेण्ट ऑफ आसाम'** प्रकाशित हुआ। ऑफ्रेक्ट ने ही **'केटलोगस केटेलोगरम एण्ड अल्फाबेटिकल रजिस्टर ऑफ संस्कृत वर्डस एण्ड ऑथर्स'** 3 भागों में निकाला।

देश के विविध भागों में हस्तलेखागारों के व्यक्तिगत सूचीपत्र भी प्रकाशित किये गये। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर ने भी अपनी अलग–अलग शाखाओं के अलग–अलग सूचीपत्र प्रकाशित किये हैं। जयपुर महाराजा के व्यक्तिगत संग्रह पोथीखाना का भी अपना सूचीपत्र प्रकाशित है।

18.4 प्रमुख सूचीपत्रों का विवरण

क्र. सं.	सन्	ग्रन्थकार या संग्रहकर्ता	संग्रह स्थान	सूचीपत्र प्रकाशन स्थल
1.	1807	सर विलियम जोन्स वर्क्स का सम्पादन	लन्दन	लन्दन
2.	1828	एच.एच. विलसन		कलकत्ता
3.	1838	फोर्ट	फोर्ट सेन्ट विलियम	कलकत्ता
4.	1846	ओटो बोहटलिंक	सेन्ट पीटर्सबर्ग	सेंट पीटर्सबर्ग
5.	1853	ए.वेबर	बर्लिन	बर्लिन
6.	1857	विलियम टेलर	फोर्ट सेंट जार्ज	मद्रास
7.	1859	फिट्जवर्ड हाल		कलकत्ता
8.	1861	टी एस. कोण्डास्वामी अय्यर	फोर्ट सेंट जार्ज	मद्रास
9.	1864	टी एस. कोण्डास्वामी अय्यर	बनारस	बनारस
10.	1864	थियोडोर औफ्रेख्त	आक्सफोर्ड	ऑक्सफोर्ड
11.	1865	आर. रोथ	टूबिनजेन	टूबिनजेन
12.	1868	आर. लारेन्स, हस्तलिखित तालिका	काठमाण्डू	
13.	1869	एफ. किलहार्न	बम्बई प्रेसीडेंसी दक्षिण सम्भाग	बम्बई
14.	1869	थियोडोर औफ्रेख्त	कैम्ब्रिज	कैम्ब्रिज
15.	1870	जेंस डी. एलविस	सीलोन	
16.	1871	जी. बुलर	गुजरात, काठियावाड, कच्छ, सिंध, खानदेश	
17.	1871	राजेन्द्र लाल मित्र		कलकत्ता
18.	1872	जी बुलर	गुजरात	सूरत
19.	1874	एफ. किलहार्न	मध्यप्रान्त	नागपुर
20.	1874		उत्तर प. प्रान्त	बनारस

21.	1874	जी बुलर (1872–73)		बम्बई
22.	1875	जे. एस. नेसफील्ड	अवध	
23.	1875	जी बुलर (1874–75)		गिरगांव बम्बई
24.	1876	जार्ज आर्टरर	डॉ. मार्टिन हांग का संकलन	म्यूखेन
25.	1876	ई. बी. कॉवेल तथा जे. एगलिंग	लन्दन	लन्दन
26.	1876		कलकत्ता	बोन्ने (बॉन)
27.	1877	राजेन्द्र लाल मित्र	उ.प. प्रान्त	कलकत्ता
28.	1877		उ.प. प्रान्त	कलकत्ता
29.	1877	जी बुलर	काश्मीर राज.	बम्बई
30.	1878	पण्डित देवीप्रसाद	अवध	इलाहाबाद
31.	1878	जे. नेसफील्ड तथा देवी प्रसाद		कलकत्ता
32.	1878	ए. ई. गफ	संस्कृत सहित्य तथा उसके सूचीकरण आदि से सम्बन्धित पत्र	कलकत्ता
33.	1879	पण्डित देवीप्रसाद	अवध	इलाहाबाद
34.	1879	पण्डित काशीनाथ कुण्टे		लाहौर
35.	1880–81	पण्डित काशीनाथ कुण्टे		लाहौर
36.	1880	ए.सी. बर्नेल	तंजौर	लन्दन
37.	1880	राजेन्द्र लाल मित्र	बीकानेर	कलकत्ता
38.	1880	आर. जी. भण्डारकर		बम्बई
39.	1880–85	गुरुताव आप्पर्ट	दक्षिण भारत	मद्रास
40.	1881	पण्डित देवी प्रसाद	अवध	
41.	1881	एफ. किलहार्न	बम्बई प्रेसीडेंसी	बम्बई
42.	1881	एफ. किलहार्न		पूना
43.	1881	ए. सीसोमा डि कोरस तथा एम. लेऑन फीर		पेरिस
44.	1882	जी. बुलर	बीन	बीन
45.	1882	पण्डित काशीनाथ कुण्टे	गुजरानवाला देहली तथा पंजाब	लाहौर
46.	1882	एच. ओल्डेनबर्ग	लन्दन	लन्दन
47.	1882	राजेन्द्र लाल मित्र	नेपाल	कलकत्ता
48.	1882	आर. जी. भण्डारकर		बम्बई

49.	1882	भाऊ दाजी संकलन	बम्बई	बम्बई
50.	1883	वी. नाम जीओ	बौद्ध त्रिपिटक सूची का चीनी अनुवाद	
51.	1883	सेसिल बेन्डाल	कैम्ब्रिज	कैम्ब्रिज
52.	1883	पी. पीटरसन	बम्बई सर्कल	बम्बई
53.	1884	लेविस राइस	मैसूर	बंगलौर
54.	1884	ई किलहार्न तथा आर. जी. भण्डारकर	पूना	पूना
55.	1884	पी.पीटरसन	बम्बई सर्कल	बम्बई
56.	1884	आर.जी. भण्डारकर	बम्बई प्रेसीडेंसी	बम्बई
57.	1886	ए. वेबर	बर्लिन	बर्लिन
58.	1887	पी.पीटरसन	बम्बई सर्कल	बम्बई
59.	1887	आर.जी. भण्डारकर	बम्बई प्रेसीडेंसी	बम्बई
60.	1887 –1904	एगलिंग (इण्डिया ऑफिस मैन्यूस्क्रिप्टस)	लन्दन	लन्दन
61.	1888	एस.आर. भण्डारकर	पूना	बम्बई
62.	1890–93	पण्डित देवीप्रसाद	अवधप्रान्त	इलाहाबाद
63.	1892	पी.पीटरसन	अलवर	बम्बई
64.	1892	थियोडोर ऑफ्रेख्त	प्लोरेन्स	लिपजिग
65.	1892	.....	बर्लिन	बर्लिन
66.	1892	हृषिकेश शास्त्री	कलकत्ता	कलकत्ता
67.	1893 .	गवर्नमेण्ट ओरिएंटल मैन्युस्क्रिप्ट लाईब्रेरी	कलकत्ता	कलकत्ता
68.	1893	आर.जी. भण्डारकर	बम्बई प्रेसीडेंसी	बम्बई
69.	1893	ए. एफ. आर. हार्नल	मध्य एशिया	कलकत्ता
70.	1894	एम. ए. स्टीन	जम्मू	बम्बई
71.	1894	पी.पीटरसन	बम्बई सर्कल	बम्बई
72.	1894	आर.जी. भण्डारकर	बम्बई प्रेसीडेंसी	बम्बई
73.	1895	पी.पीटरसन	बम्बई सर्कल	बम्बई
74.	1895	हरप्रसाद शास्त्री	बंगाल	कलकत्ता
75.	1895 –1902	हृषिकेश शास्त्री तथा शिवचन्द गुई	कलकत्ता	कलकत्ता
76.	1895	ई. हुल्ट्जस्ख	दक्षिण भारत	मद्रास

77.	1896–99	पी. पीटरसन	बम्बई सर्कल	बम्बई
78.	1897	आर.जी. भण्डारकर	बम्बई प्रेसीडेंसी	बम्बई
79.	1000			
80.	1898	जी. बुलर	ट्यूबिनजेन	बीन
81.	1898–99	संस्कृत तथा तमिल हस्तलिखित ग्रन्थ	दक्षिण भारत	मद्रास
82.	1899	रिचर्ड गर्वे	ट्यूबिनजेन	बीन
83.	1899	पी. पीटरसन	बम्बई सर्कल	बम्बई
84.	1899 –1901	पं. कुंज बिहारी न्याय भूषण	कलकत्ता	कलकत्ता
85.	1900	राजेन्द्र लाल मित्र	बंगाल	कलकत्ता
86.	1900	पी. कोर्डियर (हस्ततालिका)	बंगाल	
87.	1900	हरप्रसाद शास्त्री		
88.	1901	थियोडोर औफ्रेख्त	लिपजिग	लिपजिग
89.	1901	एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री तथा अन्य	मद्रास	मद्रास
90.	1939			
91.	1901	ए. ह्वी कठवाटे	बम्बई प्रेसीडेंसी	बम्बई
92.	1902	ह्विश संकलन	दक्षिण भारत लन्दन	लन्दन
93.	1902	जैन श्वेताम्बर सम्मेलन	भारत में जैन हस्तलिखित ग्रन्थ	बम्बई
94.	1902	एम. डी. जेड. विक्रमसिंघे	लन्दन	लन्दन
95.	1902	सेसिल बेन्डाल	लन्दन	लन्दन
96.	1904	राजेन्द्र लाल मित्र	बंगाल	कलकत्ता
97.	1905	एम. विटरनिट्ज तथा ए. बी. कीथ	ऑक्सफोर्ड	ऑक्सफोर्ड
98.	1905	हरप्रसाद शास्त्री तथा सेसिल बेन्डाल	नेपाल	कलकत्ता
99.	1906	हरप्रसाद शास्त्री		कलकत्ता
100.	1907	राजेन्द्र लाल मित्र	बंगाल	कलकत्ता
101.	1907	ए. कैल्येटन	पेरिस	पेरिस
102.	1907	एस. आर. भण्डारकर	राजपूताना तथा मध्य भारत	बम्बई
103.	1908	जैन हस्तलिखित ग्रन्थ	कलकत्ता	कलकत्ता
104.	1908	सतीश चन्द्र विद्याभूषण	बौद्धग्रन्थ	कलकत्ता
105.	1908	सतीश चन्द्र विद्याभूषण	तिब्बत	कलकत्ता
106.	1909	थियोडोर ऑफ्रेख्त	म्यूखेन	म्यूखेन

107.	1909	पी.कॉडियर	पेरिस	पेरिस
108.	1912	एम.ए. स्टीन	ऑक्सफोर्ड	लन्दन
109.	1912	ए. कैल्येटन	पेरिस	पेरिस
110.	1913–39	एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री तथा अन्य	मद्रास	मद्रास
111.	1915	पी.कॉडियर	पेरिस	पेरिस
112.	1916	ए. एफ. आर. हॉर्नले	पूर्वी तुर्किस्तान	ऑक्सफोर्ड
113.	1916	डेक्कन कॉलेज, पूना के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक	पूना	पूना
114.	1917	हरप्रसाद शास्त्री	कलकत्ता	कलकत्ता
115.	1918	एन. डी. मिरोनाफ	पैट्रोग्राद	पैट्रोग्राद
116.	1919	सुपार्श्व दास गुप्त	आरा	आरा
117.	1919	गवर्नमैण्ट संस्कृत लाईब्रेरी	बनारस	बनारस
118.	1920	तेलगू ऐकेडमी	कोकानाडा	कोकानाडा
119.	1921	आर.ए. शास्त्री कवीन्द्राचार्य तालिका		बडौदा
120.	1922	गवर्नमेण्ट ऑरियन्टल लाईब्रेरी	मैसूर	मैसूर
121.	1923	गोपीनाथ कविराज	बनारस	बनारस
122.	1923	सी. डी. दलाल तथा एल. बी. गांधी	जैसलमेर	बडौदा
123.	1923	हरप्रसाद शास्त्री	कलकत्ता	कलकत्ता
124.	1923	हरप्रसाद शास्त्री, इतिहास तथा भूगोल	कलकत्ता	कलकत्ता
125.	1924	जैक्यूइस वैकट	पेरिस	पेरिस
126.	1925–30	एच. डी. बेलनकर	बम्बई	बम्बई
127.	1925	जी. के श्रीगोण्डेकर तथा के. एस. रामास्वामी शास्त्री	बडौदा	बडौदा
128.	1925	हरप्रसाद शास्त्री	कलकत्ता	कलकत्ता
129.	1925	हरप्रसाद शास्त्री	कलकत्ता	कलकत्ता
130.	1925	भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट	पूना	पूना
131.	1926	हीरालाल	मध्य प्रान्त तथा वरार	नागपुर
132.	1927	अडयार लाईब्रेरी	अडयार	अडयार
133.	1927	के. पी. जायसवाल तथा अनन्त प्रसाद शास्त्री	मिथिला	पटना
134.	1928	पी.पी. एस. शास्त्री	तंजौर	तंजौर
135.	1928	गवर्नमेंट आरियन्टल लाईब्रेरी	मैसूर	मैसूर
136.	1928	अडयार लाईब्रेरी	अडयार	अडयार
137.	1929	मराठी हस्तलिखित ग्रन्थ	तंजौर	तंजौर

138.	1929	के. साम्बशिव शास्त्री	त्रिवेन्द्रम्	त्रिवेन्द्रम्
139.	1930	आर.फिक	गोटिनजेन	बर्लिन
140.	1930	हेमचन्द्र गोस्वामी	असम	कलकत्ता
141.	1930	टी. आर. ग्रम्बियर पैरी	ऑक्सफोर्ड	लन्दन
142.	1930–31	ओटेनी डाईगाकू लाईब्रेरी	क्योटो	क्योटो(जाप)
143.	1931	हरप्रसाद शास्त्री	कलकत्ता	कलकत्ता
144.	1931	मार्सेले लालो	पेरिस	पेरिस
145.	1932	पंजाब विश्वविद्यालय	लाहौर	लहौर
146.	1933	एस.एस. देव	धूलिया	धूलिया
147.	1933	के. पी. जायसवाल	मिथिला	पटना
148.	1933	श्री ऐलक पन्नालाल, दिगम्बर जैन सरस्वती भवन	झालरापाटन	झालरापाटन
149.	1934	जीन फिलियोजॉ	पेरिस	पेरिस
150.	1935	एच. आर. कापडिया	पूना	पूना
151.	1935	चिन्ताहरण चक्रवर्ती	कलकत्ता	कलकत्ता
152.	1935	एच. आर. कापडिया	पूना	पूना
153.	1936	आरिएण्टल मैन्यूस्क्रिप्टस लाईब्रेरी	उज्जैन	उज्जैन
154.	1936	एच. आर. कापडिया	पूना	पूना
155.	1936	पी.के. गोडे	पूना	पूना
156.	1937	एम. ए. सिमसर	फिलाडेल्फिया	फिला डेल्फिया
157.	1937	पी.के. गोडे	पूना	पूना
158.	1937	एल. वी. गांधी तथा सी. डी. दलाल	पट्टन	बडौदा
159.	1937	एच. आई. पोलमैन	अमेरिका तथा कनाडा	न्यू हेवन
160.	1938	एच. के. वेलवेल्कर	पूना	पूना
161.	1939	एच. डी. शर्मा	पूना	पूना
162.	1940	पी.के. गोडे	पूना	पूना
163.	1940	एच. आर. कापडिया	पूना	पूना
164.	1938–40	गवर्नमेंट आरियन्टल लाईब्रेरी	मद्रास	मद्रास
165.	1942	विनायक महादेव	पूना	डेक्कन कॉलेज,पूना
166.	1942– 50	राघव नाम्बियार	बडौदा	आरियन्टल इंस्टीट्यूट, बडौदा
167.	1944	भगत व एम. भण्डारकर	बम्बई	बम्बई

168.	1951	के. एस. शास्त्री	त्रिवेन्द्रम्	क्येरेटरस ऑफिस लाईब्रेरी, त्रिवेन्द्रम्
169.	1953		वाराणसी	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
170.	1954–61	डॉ. नलिन विलोचन शर्मा	पटना	राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
171.	1958	पी. डब्ल्यू कर	नागपुर	नागपुर विश्वविद्यालय
172.	1958	त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज	त्रिवेन्द्रम्	केरल विश्वविद्यालय
173.	1958	संगृहीत सामग्री	होशियारपुर	विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, होशियारपुर
174.	1960	संगृहीत सामग्री	गोण्डल	भुवनेश्वरी पीठ
175.	1961	संगृहीत सामग्री	गोहाटी	हिस्टोरिकिल एण्ड एन्टीक्यूथेरियन स्टेडीज, गुहाटी
176.	1962	संगृहीत सामग्री	अहमदनगर	स्नातन धर्मसभा अहमदनगर
177.	1962	केटेलोगस केटेलोगरम्	मद्रास	
		1902 तक की सामग्री		
178.	1963	दौलतराम जुपाल जी. सी. सिन्हा	लखनऊ	अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ
179.	1963–68	अम्बाला जी शाह व पूर्ण विजय	अहमदाबाद	अहमदाबाद
180.	1964	पी. बालाशाह	अहमदाबाद	गुजरात विद्या सभा अहमदाबाद
181.	1964	आर्येन्द्र शर्मा	हैदराबाद	उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

182.	1965	संगृहीत सामग्री	त्रिवेन्द्रम्	यूनिवर्सिटी मैन्युस्क्रिप्ट्स लाईब्रेरी
183.	1966	मुनि जिनविजय	जोधपुर	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान,
184.	1967	उमेश मिश्र	इलाहाबाद	गंगानाथ झा शोध संस्थान, इलाहाबाद
185.	1969	ब्रह्ममोहन तर्क तीर्थ जगदीशचन्द्र तर्कतीर्थ	कलकत्ता	संस्कृत कॉलेज लाईब्रेरी, कलकत्ता
186.	1971	रमाशंकर त्रिपाठी	वाराणसी	संस्कृत महाविद्यालय लाईब्रेरी, वाराणसी

16.5 प्रमुख भाण्डागार

देश के विविध भागों में हस्तलिखित ग्रन्थों के भाण्डागार विद्यमान हैं जो हमारी पुरा सम्पदा को सहेजने और संरक्षित करने में लगातार लगे हुए हैं। इनके सूचीकरण व प्रकाशन का कार्य आज राष्ट्रीय अभियान बन चुका है और कई संस्थान इस कार्य में संलग्न हैं। देश के विविध भागों में बंटे इन भाण्डागारों के बारे में जानने के लिए इन्हें दिशा के अनुसार बांटा जा सकता है।

1. उत्तरी भारत में विद्यमान भाण्डागार

1. Central Institute of Buddhist Studies, Leh
2. Directorate of State Archaeology, Archives and Museum, Srinagar
3. Himachal Academy of Arts, Culture and Languages, Shimla
4. Library of Tibetan Works and Archives, Dharamasala
5. Kurukshetra University, Kurukshetra
6. Visweshvarananda Biswabandhu Institute of Sanskrit and Indological Studies, Hoshiarpur
7. Uttaranchal Sanskrit Academy, Haridwar
8. Rampur Raza Library, Rampur
9. Sampurnananda Sanskrit Visvavidyalaya, Varanasi
10. Akhil Bhartiya Sanskrit Parishad, Lucknow
11. H. N. B. Garhwal University, Srinagar, Uttaranchal
12. Vrindavan Research Institute, Vrinadavan
13. K. M. Hindi Institute of Hindi Studies and Linguistics, Agra
14. Bhai Vir Singh Sahitya Sadan, New Delhi

2. दक्षिण भारतीय भाण्डागार

1. Oriental Research Institute, Sri Venkateswara University, Tirupati

2. Andhra Pradesh Government Oriental Manuscripts Library and Research Institute, Hyderabad
3. French Institute of Pondicherry, Pondicherry
4. Oriental Research Institute, Mysore
5. Department of Manuscriptology, Kannada University, Hampi
6. National Institute of Prakrit Studies and Research, Shravanabelagola
7. Keladi Museum and Historical Research Bureau, Shimoga
8. Mahabharata Samshodhana Pratishthanam, Bangalore
9. Thanjavur Maharaja Serfoji's Saraswati Mahal Library, Thanjavur
10. University of Madras, Chennai
11. Sri Chandra Sekharendra Saraswathi Viswa Mahavidyalaya, Kanchipuram
12. Oriental Research Institute and Manuscripts Library, University of Kerala, Thiruvananthapuram
13. Thunchan Memorial Trust, Tirur

3. पूर्वी भारतीय भाण्डागार
   1. Khuda Bakhsh Oriental Public Library, Patna
   2. Kameshwar Singh Darbhanga Sanskrit University, Darbhanga
   3. Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda, Bihar
   4. Sri D. K. Jain Oriental Research Institute, Arrah, Bihar
   5. Calcutta University, Kolkata
   6. Orissa State Museum, Bhubaneswar
   7. Sarasvati, Bhadrak
   8. Krishna Kanta Handiqui Library, Gauhati
   9. University, Guwahati
   10. Manipur State Archives, Imphal
   11. Gurucharan College, Silchar, Assam

4. पश्चिमी भारतीय भाण्डागार
   1- Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur
   2- Lalbhai Dalpatbhai Institute of Indology, Ahmedabad
   3- Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune
   4- Kavikulaguru Kalidasa Sanskrit University, Ramtek
   5- Institute for Oriental Studies (Shiva Shakti), Thane
   6- Sat Shrut Prabhavana Trust, Bhavnagar
   7- Anandashram Sanstha, Pune

1. उत्तर भारतीय भाण्डागार
   1. **Central Institute of Buddhist Studies, Leh**

   इस संस्थान की स्थापना सन् 1959 में बौद्धधर्म एवं दर्शन के अध्ययन के लिए की गई। इसमें प्राचीन शास्त्रों, संस्कृति, दर्शन और इतिहास का अध्ययन कराया जाता था। इसके साथ ही हिन्दी, प्राकृत और पाली भाषा का अध्ययन कराया जाता था। इस

संस्थान में बौद्ध पाण्डुलिपियों का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद का काम भी किया गया। इसने दुर्लभ पाण्डुलिपियों के सरंक्षण व प्रकाशन का काम किया। यह संस्थान विशेष रूप से लेह क्षेत्र में बौद्ध पाण्डुलिपियों के सर्वे का कार्य कर रहा है। यह संस्था 2003 से कार्य कर रही है। दो सदस्यों की टीम ने 60 संग्रहों की 9495 तिब्बती पाण्डुलिपियों का इलैक्ट्रानिक डेटा तैयार किया है। यह 20 से अधिक पब्लिक कार्यक्रमों का संचालन करता है जिसमें 4000 से अधिक लोग भाग ले चुके हैं।

2. Directorate of State Archaeology, Archives and Museum, Srinagar

जम्मू कश्मीर राज्य के पास बड़ी संख्या में पाण्डुलिपियों का संग्रह है जो विभिन्न विषयों से सम्बन्धित है जैसे धर्म, इतिहास, साहित्य, चिकित्सा आदि। ये पाण्डुलिपियां अलग–अलग तरह की है जैसे–भोजपत्र, हाथ से बना कागज, लकड़ी, पत्थर, वस्त्र और टेरेकोटा। यहाँ पाण्डुलिपि संग्रह की स्थापना 2003 में हुई। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण प्रान्त में पाण्डुलिपि इकट्ठा करना था। इसका ऑफिस जम्मू व श्रीनगर दोनों जगह है। यहाँ 16,095 पाण्डुलिपियों में से 3342 का इलेक्ट्रानिक डेटा तैयार किया गया है। यह डेटा प्रमुख कार्यालय को मानस ग्रन्थावली के लिए भेज दिया गया। यह 15 संस्थानों व 116 प्राईवेट संग्रहालयों की देखरेख करता है और 13 जागरुकता शिविर पूरे जम्मू व काश्मीर में लगा चुका है।

3. Himachal Academy of Arts, Culture and Languages, Shimla

हिमाचल एकेडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लेग्वेज शिमला में पाण्डुलिपि संग्रह मिशन मई 2005 से चल रहा है। इसने 751 पाण्डुलिपियों का डेटा तैयार कर लिया और लोगों को जागरुक करने के लिए कई शिविर लगा चुका है।

4. Library of Tibetan Works and Archives, Dharamasala

यहाँ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित काफी पाण्डुलिपियाँ हैं। इन्होंने लगभग 80,000 पाण्डुलिपियों का संकलन किया है जो पेपर और भोजपत्र पर हैं। इस पुस्तकालय का यह MRC मिशन से सितम्बर 2003 में समझोता हुआ। इन्होंने 38857 पाण्डुलिपियों का डेटा इकट्ठा करना प्रारम्भ किया जो बौद्ध धर्म, वास्तु, संगीत, दर्शन एवं छन्द से सम्बन्धित हैं। इसने 22 संस्थाओं का सर्वे कर डेटा इकट्ठा किया है। 33146 डेटा इलेक्ट्रॉनिक फारमेट में बदला गया है। इन्होंने 25 से ज्यादा प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाये जिसमें 125 से अधिक लोग शामिल हुए।

5. Kurukshetra University, Kurukshetra

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय क्षेत्रीय विश्वविद्यालय के रूप में 1956 में स्थापित हुआ। भारतीय विद्याओं से सम्बन्धित 5,500 के लगभग पाण्डुलिपियां यहाँ विद्यमान हैं।

6. Visweshvarananda Biswabandhu Institute of Sanskrit and Indological Studies, Hoshiarpur

उत्तर पश्चिम भारत का यह महत्त्वपूर्ण संग्रहालय है जिसमें पाण्डुलिपियां एकत्र हैं। यहाँ उत्तर भारतीय व दक्षिण भारतीय भाषाओं की 2685 पाण्डुलिपियां संकलित है जो वेद, उपनिषद्, पुराण, ज्योतिष, खगोल और आयुर्वेद से सम्बन्धित हैं। ये ताड़पत्र, भोजपत्र एवं हाथ से बने कागज पर लिखी हैं। यहाँ से कई प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का प्रकाशन व सम्पादन हो चुका है। अभी वर्तमान में आश्वलायन श्रौतसूत्र का तीन भागों में प्रकाशन हुआ है। यहाँ पावुची स्क्रिप्ट में लिखी पाण्डुलिपि है जो और कहीं

उपलब्ध नहीं होती। यह यन्त्र, मन्त्र, ज्योतिष, शकुन एवं मुहूर्त से सम्बन्धित है। मैन्युस्क्रिप्ट रिसोर्स मिशन के साथ यह संस्थान सितम्बर 2003 में जुड़ा और इसने 26000 पाण्डुलिपियों की जानकारी इकट्ठी की जो चण्डीगढ़, मुक्तसर, अमृतसर, पटियाला, लुधियाना और होशियारपुर क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। इसने 21000 इलेक्ट्रानिक डेटा तैयार किया है।

7. Uttaranchal Sanskrit Academy, Haridwar

उत्तरांचल संस्कृत अकादमी दिसम्बर 2002 में स्थापित हुई। इसका उद्देश्य संस्कृत भाषा का प्रसार–प्रचार, प्रकाशन और भाषा को नई तकनीक में ढालना, सेमिनार आयोजन आदि है। इसके पास 4000 पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है। यह संस्था जून 2005 में मैन्युस्क्रिप्ट रिसोर्स मिशन से जुड़ा। इसने 687 संस्थाओं एवं 299 प्राइवेट संग्रहों का अध्ययन किया। ये पाण्डुलिपियां वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र, दर्शन, काव्य, स्तोत्र आदि विषयों से सम्बद्ध हैं।

8. Rampur Raza Library, Rampur

इस पुस्तकालय की स्थापना नवाब फेजुल्ला खान द्वारा की गई। इस पुस्तकालय में 50,000 पुस्तकें और 15,000 पाण्डुलिपियां संकलित हैं जो अरबी, ऊर्दू, फारसी व तुर्की भाषा से सम्बन्धित हैं। इसमें सौलहवीं–सतरहवीं सदी की मिनियेचर पेटिंग का संग्रह भी है। यह आजकल संस्कृति मन्त्रालय के अधीन है। यहाँ से 11 विवेचनात्मक केटलोग छप चुके। इसने इतिहास से सम्बन्धित 12 पाण्डुलिपियों का प्रकाशन किया है। और तारीखे बाबरी का सम्पादन कर रही है। मैन्युस्क्रिप्ट रिसोर्स मिशन के साथ यह संस्थान अगस्त 2003 में जुड़ा। इसने 37000, पाण्डुलिपियों का डाक्यूमेंटेशन कर 31394 डेटा तैयार किये हैं। इसने 35 संस्थाओं एवं 70 प्राइवेट संस्थाओं का सर्वे किया है।

9. Sampurnananda Sanskrit Visvavidyalaya, Varanasi

यह विश्वविद्यालय भारत का प्राचीनतम संस्कृत विश्वविद्यालय है। इसकी स्थापना सर आर्थर वेनिस द्वारा 1791 में प्राइवेट स्कूल के रूप में की गई। यह संस्कृत व संस्कृति के अध्ययन का केन्द्र है। इस विश्वविद्यालय के पास 1,25,000 बहुमूल्य पाण्डुलिपियां विद्यमान हैं। जो विभिन्न विषयों से सम्बद्ध हैं और ये देवनागरी, बंगाली और शारदा लिपि में विद्यमान हैं। इनके अपने प्रकाशित सूचीपत्र हैं। इनमें 1791–1950 तक की पाण्डुलिपियों व 1951–1981 तक की पाण्डुलिपियों का संकलन है। इन दोनों में बहुमूल्य पाण्डुलिपियों का विवरण दर्ज है। इनके अलावा पचास प्रतिशत पाण्डुलिपियां बिना सूचीपत्र के भी हैं। विश्वविद्यालय ने मई 2005 में मैन्युस्क्रिप्ट रिसोर्स मिशन के साथ समझोता किया है और कई जिलों में इनका कार्य चल रहा है।

2. दक्षिण भारतीय भाण्डागार

1. Oriental Research Institute, Sri Venkateswara University, Tirupati

इस संस्थान की स्थापना 1939 में तिरुमाला तिरुपति देवस्थान द्वारा की गई और श्री वैकेटेश्वर विश्वविद्यालय को सौंप दिया गया। यह संस्थान भारतीय पुरा विद्या व भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित शोधकार्य करवा रहा है। इस संस्थान के पास ताड़पत्र एवं कागज पर लिखित 50,000 दुर्लभ पाण्डुलिपियां व 75000 के लगभग प्रकाशित पुस्तकें हैं। इनका एक केटलोग भी प्रकाशित है जो सभी विषयों से सम्बद्ध है। यहाँ उपलब्ध पाण्डुलिपियों में दर्शन, धर्म, नाटक, भाषा, व्याकरण, काव्य एवं जन्मपत्रियां

प्रमुख हैं। यह संस्था डत्ब के साथ सितम्बर 2003 से कार्य कर रहा है।

2. Andhra Pradesh Government Oriental Manuscripts Library and Research Institute, Hyderabad

इस संस्थान की स्थापना सन् 1967 में आन्ध्र प्रदेश सरकार के आर्चिवस् विभाग द्वारा की गई। इसका उद्देश्य राज्य की दुर्लभ पाण्डुलिपियों का संग्रह कर शोधार्थियों को उपलब्ध कराना है। 1975 में आन्ध्रप्रदेश सरकार ने प्राच्य पाण्डुलिपि और अनुसन्धान संस्थान को शिक्षा विभाग के अन्तर्गत स्वतन्त्र निदेशालय बना दिया। जिसका उद्देश्य था पाण्डुलिपियों में उच्च अनुसंधान व अग्रिम अध्ययन के लिए पाण्डुलिपि पुस्तकालय उपलब्ध कराना। यह संस्थान उसमानिया विश्वविद्यालय के केम्पस में विद्यमान है। यह पाण्डुलिपियों को एकत्र करने व उनको सुरक्षित करने का प्रयास कर रहा है। इसके पास 24,017 पाण्डुलिपियों का एक बड़ा संग्रह है। ये वेद, उपनिषद्, आगम, धर्मशास्त्र, व्याकरण, अलंकारशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, भारतीय चिकित्सा, यूनानी चिकित्सा, ज्योतिषशास्त्र, खगोलशास्त्र, काव्य और शब्दकोश। ये तेलगू, संस्कृत, उर्दू, अरबी, फारसी, कन्नड़, हिन्दी, उड़िया मराठी व कुछ अन्य भाषाओं में हैं। इसने तीन खण्डों में अपना केटलोग छापा है। इनमें कुछ दुर्लभ पाण्डुलिपियां हैं, जैसे–भार्गव पुराण, तत्त्वसंग्रह रामायण और तेलगू में आन्ध्र तुलसी रामायण, संस्कृत में अकारादि अमर निघण्टु व सामवेद, दीवान ई गवाजी, अलमुक्त्रा ई फूनून अरबी में हैं। MRC से इसका सम्बन्ध नवम्बर 2005 से हुआ है।

3. French Institute of Pondicherry, Pondicherry

इस संस्थान की स्थापना शैव आगम, शैव प्रतिमाओं एवं शैव धर्म व सिद्धान्त से सम्बन्धित सामग्री के संकलन के लिए हुई जो दक्षिण भारत में 8 वीं सदी ई. पूर्व में विद्यमान था। यहाँ पाण्डुलिपियों का संग्रह इसके संस्थापक निदेषक पोली जैन फिलियोस्ट (Poly Jean Filliozat) के द्वारा शुरु हुआ। यहाँ लगभग 8600 ताड़पत्र और 360 बण्डल पेपर पर लिखी पाण्डुलिपियां है और 1,144 देवनागरी लिपि में लिखी मैन्यूस्क्रिप्ट है। संस्थान ने चार खण्डों में विस्तृत केटलोग छापा है। यहाँ विश्व की सैद्धान्तिक पाण्डुलिपियों का सबसे बड़ा संग्रह है जिसे यूनेस्को ने Momory of World कहा है। MRC के साथ यह अगस्त 2003 से कार्य कर रहा है। यहाँ तमिल व ग्रन्थ लिपि की पाण्डुलिपियां विद्यमान हैं।

4. Oriental Research Institute, Mysore

इस संस्थान की स्थापना सन् 1891 में मैसूर के राजा चामराज वाडयार द्वारा की गई। इसका उद्देश्य ताड़पत्र व कागज की पाण्डुलिपियों का संग्रह, सुरक्षा व सम्पादन था। इसका शानदार भवन 1887 में बना। 1916 तक यह शिक्षा विभाग का अंग था उसके बाद यह मैसूर विश्वविद्यालय का अंग बना। इसके 200 के लगभग प्रकाशन हैं। इसमें कौटिल्य अर्थशास्त्र का सर्वप्रथम 1909 में प्रकाशन किया जिससे इस संस्थान को अन्तर्राष्ट्रिय पहचान मिली। इसकी पाण्डुलिपि 12 वीं सदी में मिली है। श्यामशास्त्री ने इसका सम्पादन किया है। इसके अतिरिक्त नवरत्नमणि महात्म्य, तन्त्रसार संग्रह, वैद्यशास्त्र दीपिका, रसकौमुदी, पर्यायपदमंजरी प्रमुख हैं। इसका केटलोग 17 खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। यह संस्था MRC के साथ अक्टूबर 2003 से काम कर रही है।

5 Department of Manuscriptology, Kannada University, Hampi

इस संस्थान की स्थापना 1996 में हुई। ये चार प्रकार के कार्य विषेष रूप से करता है–

पाण्डुलिपि संग्रह, सम्पादन, नई तकनीक से पाण्डुलिपियों का अध्ययन और प्रकाशन। खासकर यह इतिहास पर विशेष कार्य कर रहा है। यह विविध राष्ट्रों के इतिहास से सम्बन्धित पाण्डुलिपियों का संकलन करता है। साथ ही क्षेत्रीय कार्य, सेमिनार व ट्रेनिंग का आयोजन करता है। इसमें 4000 के करीब तमिल, तेलगू, मलयालम, मराठी, संस्कृत की पाण्डुलिपियां हैं। इसमें प्रमुख हैं– नमामीज भारत, हलायुद्ध स्तोत्र, कुमारसम्भव, शिवाधिक्य रत्नावली, माघ काव्य की टीका आदि। यहाँ 4000 दुर्लभ पाण्डुलिपियां हैं और 3000 कन्नड़ में हैं। MRC के साथ जून 04 के जुड़ा है। इन्होंने संस्कृत व कन्नड़ पाण्डुलिपियों का डाक्यूमेंटेशन किया है:– ये धर्म, ज्योतिष, दर्शन, वास्तु, संगीत आदि से सम्बद्ध है।

6. National Institute of Prakrit Studies and Research, Shravanabelagola

प्राकृत अध्ययन का यह संस्थान 1993 में प्राकृत का भाषा साहित्य एवं जैन साहित्य को बढ़ावा देने के लिए स्थापित हुआ। यहाँ कन्नड़ व द्रविड़ भाषा में 6000 ताड़पत्र व कागज की पाण्डुलिपियां हैं। 20,000 भागों की बड़ी लाईब्रेरी है। यह दक्षिण भारत में जैन साहित्य, दर्शन व इतिहास के क्षेत्र में उच्च अध्ययन का एकमात्र स्थान है। यह 5 छात्रों को पी–एच. डी. हेतु सहयोग प्रदान करता है। इनकी पाण्डुलिपियों में गोम्मतसार, छत्तीस गणित, आदि पुराण, खगेन्द्रमणिदप्रण और थिलोयापन्नथी प्रमुख हैं। जिसमें गोम्मतसार 10 वीं शती में नेमिचन्द्र सिद्धनाथ चक्रवर्ती द्वारा लिखी है।

7. Keladi Museum and Historical Research Bureau, Shimoga

इस म्यूजियम में 1000 कागज व ताड़पत्र की पाण्डुलिपियों का एक पुस्तकालय है जो कन्नड़, संस्कृत और तेलगू से सम्बन्धित है। 400 ताड़पत्र की पाण्डुलिपियां तिगरी स्क्रिप्ट में लिखी है। इनका विषय साहित्य, कला, धर्मशास्त्र, इतिहास, ज्योतिष, खगोल, चिकित्सा, गणित एवं पशुविज्ञान है। इसके अतिरिक्त म्यूजियम में कला, हथियार, सिक्के, पत्थर की कलाकृतियां और ताम्रपत्र विद्यमान हैं जो विजयनगर और केलाडी से सम्बन्धित हैं। यह संस्थान ज्ञान सह्याद्रि, शंकरघाट्ट कूवेम्पू विश्वविद्यालय, शिमोगा से सम्बद्ध है। यह MRC से मई 2005 में जुड़ा। इसके अन्तर्गत इन्होंने जिले में 3000 पाण्डुलिपियों को खोजा है।

8. Mahabharata Samshodhana Pratishthanam, Bangalore

महाभारत संशोधन प्रतिष्ठान यह पुराभारत के शोध से सम्बन्धित संस्थान है। यह 1997 में प्रारम्भ हुआ। यह पुराभारतीय ज्ञान के कुछ चयनित विषयों पर कार्य करने के लिए स्थापित हुआ। इसका मूल उद्देश्य भारत के प्राचीन ज्ञान व विज्ञान को प्रकाश में लाना और इसके उपयोग से लोगों के जीवन में गुणवत्ता लाना है। यह संस्थान MRC से दिसम्बर 2004 में जुड़ा इसने 2000 पाण्डुलिपियों का इलेक्ट्रॉनिक डेटा तैयार किया है।

9. Thanjavur Maharaja Serfoji's Saraswati Mahal Library, Thanjavur

यह पुस्तकालय उन मध्यकालीन संस्थानों में से एक है जो आज विश्व में विद्यमान हैं। यह तंजौर के नायकों व मराठाओं के द्वारा बनाई गई। इसमें बहुत दुर्लभ व बहुमूल्य पाण्डुलिपियों, पुस्तकों चित्रों, नक्शों व सब तरह की कला, संस्कृति व साहित्य का संग्रह है। इस पुस्तकालय में लगभग 59000 पाण्डुलिपियां हैं जो संस्कृत, तमिल, मराठी और तेलगू से सम्बन्धित हैं इनमें कईयों में दक्षिण भारत के इतिहास व संस्कृति की झलक मिलती है। 24432 का केटलोग बन चुका है। संस्कृत भाषा के लिए ग्रन्थ, देवनागरी, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ और उड़िया लिपि का प्रयोग किया गया है। यहाँ

के केटलोग के 14 भाग निकल चुके हैं। यह डल्ब के साथ सितम्बर 2003 से कार्य कर रहा है।

10. University of Madras, Chennai

यह विश्वविद्यालय न्यू केटेलोगस केटेलोगरम के लिए MRS के साथ अगस्त 2003 में जुड़ा और जुलाई 2004 में यह पाण्डुलिपि रिसोर्स सेन्टर के रूप में सम्बद्ध हुआ। यह तमिलनाडू की पाण्डुलिपियों का चयन कर उनका डाटा तैयार करता है। इस मिशन के अन्तर्गत 6432 सिद्ध पाण्डुलिपियों का इलेक्ट्रोनिक डेटा तैयार हो चुका है। न्यू केटेलोगस केटेलोगरम संस्कृत व उससे सम्बद्ध पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की पाण्डुलिपियों का अकारादि क्रम से बना रजिस्टर है जो विश्वविद्यालय द्वारा 1935 से तैयार किया जा रहा है। इस मिशन के आर्थिक सहयोग से इसके अगले 10 भाग 2007 तक प्रकाशित हुए हैं। इस प्रोजेक्ट द्वारा 17 भाग तैयार किये जा चुके हैं और 8 भागों का सम्पादन व प्रकाशन चल रहा है।

11. Sri Chandra Sekharendra Saraswathi Viswa Mahavidyalaya, Kanchipuram

यह संस्थान डीम्ड विश्वविद्यालय के रूप में 1993 में बना। यह महाविद्यालय श्री कांची कामकोटी पीठ चेरिटेबल ट्रस्ट के आर्थिक सहयोग से संचालित होता है। इस विश्वविद्यालय ने 1994–95 से आधुनिक ज्ञान के क्षेत्र में काम शुरु किया विशेषकर विज्ञान के साथ ही संस्कृत, रसायन, इजिनियारिंग, मेडिकल, बायोटेकनीक जेनेटिक व कम्प्यूटर तकनीक पर। विश्वविद्यालय इन क्षेत्रों में अनुसंधान को बढावा देता है। यहाँ अन्तर्राष्ट्रिय पुस्तकालय 1995 में स्थापित हुआ। इसकी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ दुर्लभ व प्राचीन पाण्डुलिपियों और ताड़पत्रों का संकलन है जिनकी माइक्रोफिल्म बनाई गई है। MRC मिशन के साथ यह नवम्बर 2004 में जुड़ा।

12. Oriental Research Institute and Manuscripts Library, University of Kerala, Thiruvananthapuram

विश्वविद्यालय में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की स्थापना हुई। इसके पास 60000 पाण्डुलिपियां ताड़पत्र, कागज, आइवरी, व धातु पर विद्यमान हैं जो विविध विषयों से सम्बद्ध हैं। ये संस्कृत, मलयालम, कन्नड़, तेलगू और तमिल भाषा की हैं। इस संस्थान ने 8 भागों में अकारादि क्रम से सूचीपत्र छापा है और 2 भाग मलयालम केटलोग के छापे हैं। यह MRC से नवम्बर 2003 में जुड़ा। इसने केरल के दक्षिण भाग में 95 संग्रहों का डाटा तैयार किया है। यह 65 हजार प्रकाशित अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का है। जो काव्य, तन्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, विषविद्या और पुराण से सम्बद्ध है।

13. Thunchan Memorial Trust, Tirur

यह संस्थान महान् आध्यात्मिक गुरु, कवि और समाज सुधार के श्री थुन्चान रामानुजन इजूट्टाचन (Thunchan Ramanujan Ezhuttachan) की याद में बनाया गया। इस संस्थान द्वारा सेमिनार, विचार विमर्श, कवि सम्मेलनों का आयोजन करवाया जाता है। यह संस्थान इतिहास, संस्कृति और साहित्य के अध्ययन को समप्रित है। इसकी पाण्डुलिपियों के संग्रह से सम्बन्धित लाईब्रेरी भी है। MRC मिशन के साथ यह संस्था जून 2004 में जुड़ी है। इसने छः जिलों में 274 सर्वे किये हैं।

3. पूर्वी भारतीय भाण्डागार

1. Khuda Bakhsh Oriental Public Library, Patna

इस संस्थान की स्थापना खुदा बक्श खान ने 1891 में अपने व्यक्तिगत पाण्डुलिपि संग्रह के द्वारा की। संसद के नियम के अनुसार 1969 में यह राष्ट्रीय महत्त्व का संस्थान बना। जुलाई 1970 से भारत सरकार द्वारा स्थापित एक बोर्ड के निर्देशन में यह स्वायत्तशासी संस्था बनी। यह संस्था विश्व में अपनी बहुमूल्य दुर्लभ पाण्डुलिपियों व पुस्तकों के संग्रह के लिए विख्यात है। इसके साथ ही मुगल, राजपूत, तुर्की व इरानी स्कूल की चित्रकला के लिए भी जाना जाता है। यह भारत की नेशनल लाईब्रेरी में से एक है। इसका सम्पर्क MRC के साथ सितम्बर 2003 में हुआ। इसने 25000 पाण्डुलिपियों की सूचना एकत्र की। यह 17 जिलों के 33 संस्थाओं व 48 प्राइवेट संग्रह से सम्बद्ध है।

2. Kameshwar Singh Darbhanga Sanskrit University, Darbhanga

इस विश्वविद्यालय की स्थापना 1961 में हुई और इसके प्रथम कुलपति बने प्रसिद्ध शिक्षाविद् महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र। इसके संग्रह में नाटक, दर्शन, व्याकरण, धर्मशास्त्र, आगम और तन्त्र से सम्बन्धित पाण्डुलिपियां हैं। विश्वविद्यालय के पास 5562 दुर्लभ पाण्डुलिपियां हैं जिनमें 6 पाण्डुलिपियां रामायण, गीत गोविन्द, श्रीमद्भागवत और दुर्गासप्तशती प्रमुख हैं। कुछ पाण्डुलिपियां विद्यापति महेश ठाकुर द्वारा बनाई हुई है। यह विश्वविद्यालय MRC से सितम्बर 2003 से जुड़ा। इसने मिथिला व झारखण्ड में बहुत से स्थानों पर सर्वे कर 6072 पाण्डुलिपियों का सर्वे किया है और पाँच जिलों के 150 संग्रहों का इन्होंने अवलोकन किया है।

3. Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda, Bihar

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की प्रेरणा से पाली एवं बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए बिहार सरकार ने 1951 में इसकी स्थापना की। इस संस्था के प्रथम निदेशक भिखू जगदीश कश्यप थे। वर्तमान में यह पटना से 90 कि.मी. दूर है। यह एतिहासिक झील इन्द्रपुष्करणी के दक्षिणी किनारे पर स्थित है। इसने MRC के साथ जून 2005 में समझोता किया।

4 Sri D. K. Jain Oriental Research Institute, Arrah, Bihar

इसकी स्थापना 1903 में श्री देवकुमार जैन द्वारा हुई। इस पुस्तकालय के पास सम्पूर्ण विश्व में बहुमूल्य पाण्डुलिपियों का संग्रह है। यहाँ 3179 ताड़पत्र की पाण्डुलिपियां, 3500 कागज की और 9000 प्रकाशित पुस्तकें हैं। यहाँ प्राचीन पेंटिंग्स का भी संग्रह है। 200 पेंटिंग्स जैन रामायण से सम्बन्धित हैं। यह MRC के साथ मई 2005 से कार्य कर रहा है। इसने 18996 पाण्डुलिपियों का डाटा तैयार किया है। यहाँ देवनागरी, मिथिला, उर्दू और बंगाली लिपि में वेद, वेदान्त, दर्शन, कर्मकाण्ड और अन्य विषयों की पाण्डुलिपियां विद्यमान है।

5. Calcutta University, Kolkata

इस विश्वविद्यालय की स्थापना 1857 में हुई। इसमें पाण्डुलिपि विभाग 1990 से शुरु हुआ। इसमें 42000 पाण्डुलिपियों का संग्रह है। इनमें 20000 संस्कृत व 12000 तिब्बत और बंगाली में हैं। कुछ फारसी व अरबी में भी हैं। कुछ सोने एव चांदी के अक्षरों में लिखी गई हैं। यह MRC के साथ अगस्त 2003 में जुड़ा।

6. Orissa State Museum, Bhubaneswar

इस संग्रहालय में क्षेत्रीय कला का संग्रह है। यहाँ 37273 ताड़पत्र की पाण्डुलिपियां हैं जिनमें से 52 का प्रकाशन हो चुका है। यहाँ ताड़पत्र, बाँस के पत्र, हाथ के बने कागज,

भोजपत्र, जिनमें विविध आकृति की पाण्डुलिपियों का संग्रह है। कुछ रंगीन पाण्डुलिपियां भी प्राप्त हुई हैं। महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों में काली चरण पाठक की गीत गोविन्द, ऊषाहरण, ऊषाविलास आदि। यह MRC से अगस्त 2003 में जुड़ा।

7. Sarasvati, Bhadrak

यह संस्थान उड़ीसा में प्राच्य विद्याओं के अध्ययन एवं अनुसंधान का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। यह उड़ीसा के पूर्वी भाग में स्थित है। यह पाण्डुलिपि विज्ञान से सम्बन्धित प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करता है। यह MRC से मई 2005 में जुड़ा। इसने 35000 पाण्डुलिपियों का डाटा एकत्र किया है। ये खासकर उडिया और देवनागरी लिपि में लिखी हैं। इनके विषय पुराण, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, आयुर्वेद, तन्त्र आदि हैं।

8. Krishna Kanta Handiqui Library, Gauhati University, Guwahati

यह पुस्तकालय 1948 से कार्य कर रहा है। 1982 में इसका नामकरण कृष्ण कान्त हन्दीक्यूई लाईब्रेरी हुआ जो कि इस विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति थे। इस पुस्तकालय में 4500 से अधिक पाण्डुलिपियां हैं, जिनमें रामायण, भागवत और लवकुश युद्ध से सम्बन्धित पाण्डुलिपियां प्रमुख हैं। ये पाण्डुलिपियां ज्यादातर अगरु की छाल पर लिखी गई हैं। यह MRC से अगस्त 2003 से जुड़ा है। और इसने 19000 पाण्डुलिपियों का डाटा तैयार किया है। यहाँ सांचीपत्र एवं तुलापत्र की पाण्डुलिपियां विशिष्ट रूप से दर्शनीय हैं।

9. Manipur State Archives, Imphal

सरकार द्वारा इसकी स्थापना 1982 में हुई। इसके पास महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पाण्डुलिपियों का संग्रह है। कुछ पाण्डुलिपियां बंगाली लिपि मे हैं। यह संस्थान MRC से अगस्त 2003 में जुड़ा। इन्होंने 22212 पाण्डुलिपियों का सर्वे किया है और लगातार इनका डाटा तैयार करने में लगे हैं।

10. Gurucharan College, Silchar, Assam

इसकी स्थापना 1935 में हुई। इसने MRC के साथ अक्टूबर 2005 से कार्य प्रारम्भ किया है और 500 से अधिक पाण्डुलिपियों का डाटा तैयार किया है जो आयुर्वेद, तन्त्र, मन्त्र, ज्योतिष और पूजा विधि से सम्बन्धित हैं।

4. पश्चिमी भारतीय भाण्डागार

1. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की स्थापना राज्य सरकार द्वारा 1950 में संस्कृत मण्डल के नाम से की गई और यह पूर्णतः पृथक् विभाग 1954 में बना। यह पाण्डुलिपियों के संग्रह, सुरक्षा, सम्पादन और प्रकशन से जुड़ा है। यहाँ संस्कृत का प्राचीन साहित्य, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी और राजस्थानी से सम्बन्धित साहित्य उपलब्ध होता है। इसकी 7 शाखाएं बीकानेर, जयपुर, अलवर, भरतपुर, कोटा, उदयपुर एवं चित्तौड़गढ़ हैं। इनमें लगभग 119830 पाण्डुलिपियों का संग्रह है। यहाँ वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, तन्त्र, मन्त्र, दर्शन, ज्योतिष और आयुर्वेद से सम्बन्धित पाण्डुलिपियां विद्यमान हैं। यहाँ पाल, राजपूत, कागडा और जम्मू एवं कश्मीर की मिन्येचर पेंटिंग्स का संग्रह भी है। यहाँ विक्रम संवत् 1485 का कल्पसूत्र, आर्यमहाविद्या बौद्ध पाण्डुलिपि प्रमुख है। यहाँ पृथ्वीराज रासों की प्रामाणिक पाण्डुलिपि विद्यमान है जो गुजरात के धरनोज ग्राम से लाई गई है। यहाँ स्वर्णाक्षरों से लिखित पाण्डुलिपियां

भी हैं। यह MRC के रूप में सितम्बर 2003 से कार्य कर रहा है। इसकी अलग–अलग शाखाओं के अपने केटलोग प्रकाशित हो चुके हैं।

2. Lalbhai Dalpatbhai Institute of Indology, Ahmedabad

यह संस्थान मुनि श्री पुण्यविजय एवं श्री कस्तुरभाई लालभाई द्वारा स्थापित किया गया है। यहाँ पाण्डुलिपियां, पुस्तके और अन्य सहायक सामग्री उपलब्ध है। यहाँ लगभग 45000 प्रकाशित पुस्तकें 75000 पाण्डुलिपियां हैं जो वेद, आगम, बौद्धधर्म, तन्त्र, भारतीय दर्शन और काव्य से सम्बद्ध हैं। इसके केटलोग के सात भाग प्रकाशित हैं। यह MRC से सितम्बर 2003 में जुड़ा।

3. Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune

इसकी स्थापना रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर की स्मृति में सन् 1917 में हुई। इस संस्थान में लगभग 20000 पाण्डुलिपियां हैं जो धर्म, भाषा, वैदिक साहित्य, व्याकरण, संगीत, नाटक, पुराण, स्तोत्र, तन्त्र, चिकित्सा और दार्शनिक चिन्तन से सम्बन्धित हैं। यहाँ दारा शिकोह द्वारा की गई गीता और योग वसिष्ठ के फारसी अनुवाद की प्रति भी विद्यमान है जो कि 340 वर्ष पुरानी है। एक अश्वशास्त्र सम्बन्धी पाण्डुलिपि भी है जो 390 वर्ष पुरानी है और एक राजा जहाँगीर की राज्य के पुस्तकालय की सील लगी मूल पाण्डुलिपि भी है। यहाँ के 35 भागों में केटलोग छप चुके हैं। और लाखों पत्रों की माईक्रोफिल्म तैयार की जा चुकी है जिनमें 4000 पाण्डुलिपियां ऐसी हैं जिनका केटलोग में उल्लेख नहीं है। यह MRC के साथ सितम्बर 2003 से कार्य कर रहा है।

4 Kavikulaguru Kalidasa Sanskrit University, Ramtek

देश के अन्य संस्कृत विश्वविद्यालय पारम्परिक रूप से वेद, वेदान्त, व्याकरण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र आदि विषयों का अध्यापन करवाते हैं, जबकि कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय आधुनिक विषयों के साथ संस्कृत का अध्ययन कराता है। सारे कोर्स विज्ञान एवं तकनीक से सम्बन्धित हैं, जो कि संस्कृत साहित्य में विवेचित है। महाराष्ट्र में इससे सम्बद्ध 50 संस्थान हैं और 30 गुजरात, बंगाल, केरल व हरियाणा में स्थित हैं। यह MRC के साथ नवम्बर 2004 से कार्य कर रहा है।

5 Institute for Oriental Studies (Shiva Shakti), Thane

इस संस्थान की स्थापना भारतीय संस्कृति, इतिहास, पाण्डुलिपि विज्ञान एवं संस्कृत भाषा के उन्नयन के लिए 1980 में हुई। यहाँ 3300 पाण्डुलिपियां और 26000 प्रकाशित पुस्तकें विद्यमान हैं। यह संस्थान MRC से मई 2005 में जुड़ा।

6 Sat Shrut Prabhavana Trust, Bhavnagar

इस संस्थान की स्थापना 1997 में जैन पाण्डुलिपियों के संरक्षण व सूचीकरण के लिए की गई। यह रजिस्टर ऑफ जैन मैन्युस्क्रिप्ट नामक प्रोजेक्ट पर कार्य कर रहा है। यह दिसम्बर 2005 से MRC के साथ जुड़ा।

1. Scindia Oriental Research Institute, Vikram University, Ujjain

इस संस्थान की स्थापना 1957 में हुई। यह आर्केलोजिकल म्यूजियम और आर्ट गलैरी भी है जिसमें कई ऐतिहासिक महत्त्व की वस्तुएं विद्यमान है। यहाँ सभी भाषाओं की पाण्डुलिपियां हैं जिनमें 18000 कागज की, ताड़पत्र एवं भोजपत्र की पाण्डुलिपियां हैं। ये दर्शन, विज्ञान, साहित्य, व्याकरण व कला से सम्बद्ध हैं। सोने एवे चाँदी के अक्षरों की श्रीमद्भागवत यहाँ है। यह संस्थान सितम्बर 2003 से MRC से जुड़ा है। इसने 31986 पाण्डुलिपियों का डाटा तैयार किया है।

2. **Dr. H. S. Gaur University, Sagar**

इसकी स्थापना डॉ. हरि सिंह गौड की जीवन भर की पूंजी से 18 जुलाई 1946 में हुई। मध्य प्रदेश में यह सबसे प्राचीन व बड़ा विश्वविद्यालय है। इस विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका मध्यभारती है। संस्कृत विभाग की शोधपत्रिका सागरिका व नाट्यम है। यह MRC के साथ सितम्बर 2005 से कार्य कर रहा है। इसने दस संस्थानों व 4 निजी संग्रहों का सर्वे किया है।

3. **Kunda Kunda Jnanapitha, Indore**

यह संस्थान श्री देव कुमार सिंह कासलीवाल के द्वारा दिगम्बर जैन उदासीन ट्रस्ट के अन्तर्गत 1987 में स्थापित किया गया। यह जैनदर्शन व धर्म में वैज्ञानिक अध्ययन को बढ़ावा देता है। इस पुस्तकालय में 12500 पुस्तकों व 350 शोधपत्रों का संकलन है। 1999 से इतने 58766 पाण्डुलिपियों का केटलोग तैयार किया है। जो कि रजिस्टर ऑफ जैन मैन्युस्क्रिप्ट प्रोजेक्ट के अन्तर्गत किया गया है।

कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण भाण्डागार हैं–

1. आरियन्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाईब्रेरी, मद्रास
2. एषियाटिक सोसाइटी लाइब्रेरी, कलकत्ता
3. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
4. के. एम. मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, बम्बई
5. आरियटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा
6. जैन मठ लाईब्रेरी मूडबिद्री
7. पार्श्वनाथ जैन विश्वविद्यालय, वाराणसी
8. पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई एवं उज्जैन।
9. राज लाईब्रेरी दरभंगा
10. सरस्वती भवन पुस्तकालय, वाराणसी

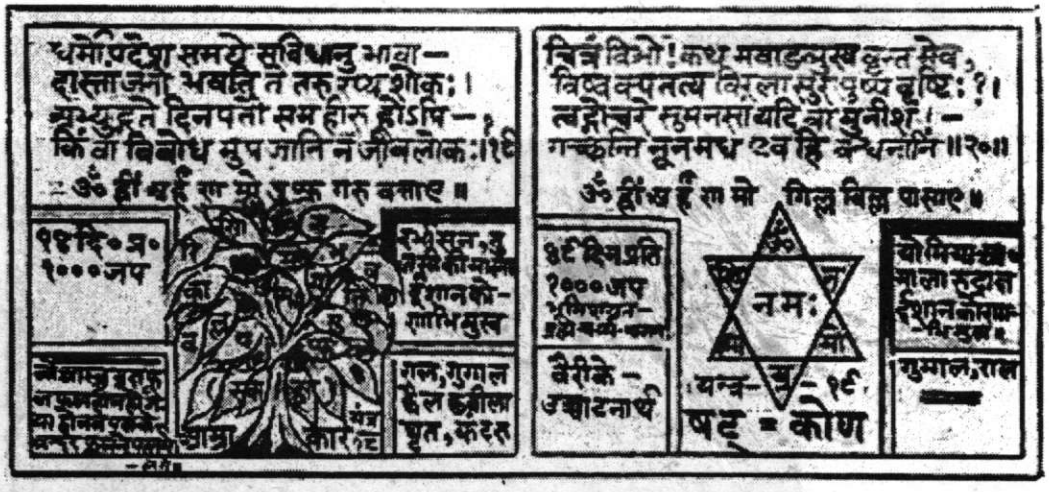
राजस्थान के प्रमुख भण्ड़ार

1. जोधपुर महाराज का पुस्तकालय पुस्तक प्रकाश।
2. जयपुर महाराज का पुस्तकालय पोथीखाना।
3. बीकानेर महाराज का निजी संग्रह– अनूप संस्कृत पुस्तकालय
4. राजस्थान सरकार द्वारा स्थापित प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर व उसकी शाखाएं।
5. आमेरशास्त्र ग्रन्थ भाण्ड़ागार
6. तेरहपंथी शास्त्र भण्ड़ार
7. पाण्ड्यालूणकर ग्रन्थ भण्ड़ार
8. बाबा दूलीचन्द्र संग्रह
9. बद्रीचन्द्र जी का संग्रह
10. ठोलिया जैन ग्रन्थ भण्ड़ार
11. पटोदी जैन मन्दिर ग्रन्थ भण्ड़ार
12. भट्टारकीय शास्त्र भण्डार, जयपुर

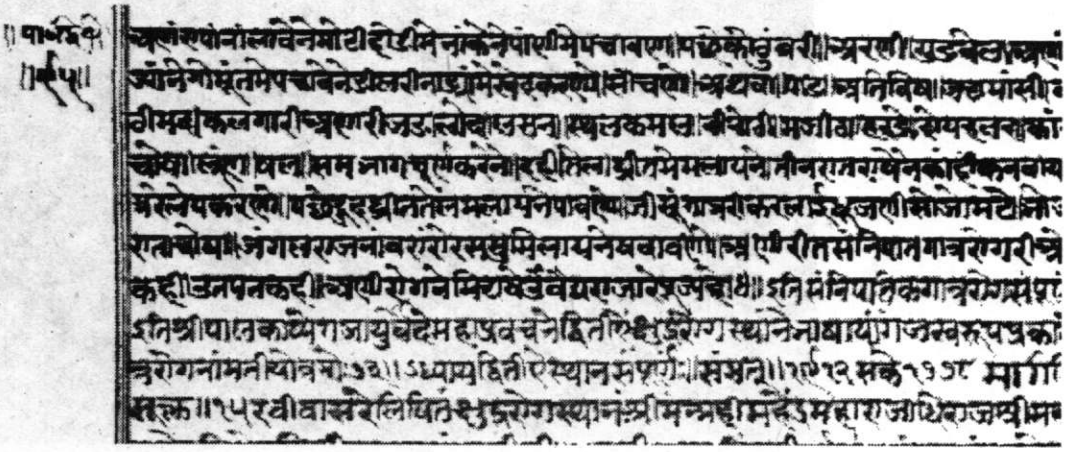
13. सरस्वती जैन शास्त्र भण्ड़ार
14. संघी जी मन्दिर का ग्रन्थागार, जयपुर
15. जोबनेर मन्दिर का शास्त्र भण्ड़ार
16. पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन सरस्वती भण्ड़ार
17. गोधों के मन्दिर का भण्ड़ार
18. लश्कर के मन्दिर का भण्ड़ार
19. नया मन्दिर शास्त्र भण्ड़ार
20. काला छाबड़ा के मन्दिर
21. मेघराज जी के मन्दिर
22. संजय शर्मा स्मृति शोध संस्थान, जयपुर

16.6 विविध पाण्डुलिपियों के चित्र

(1)



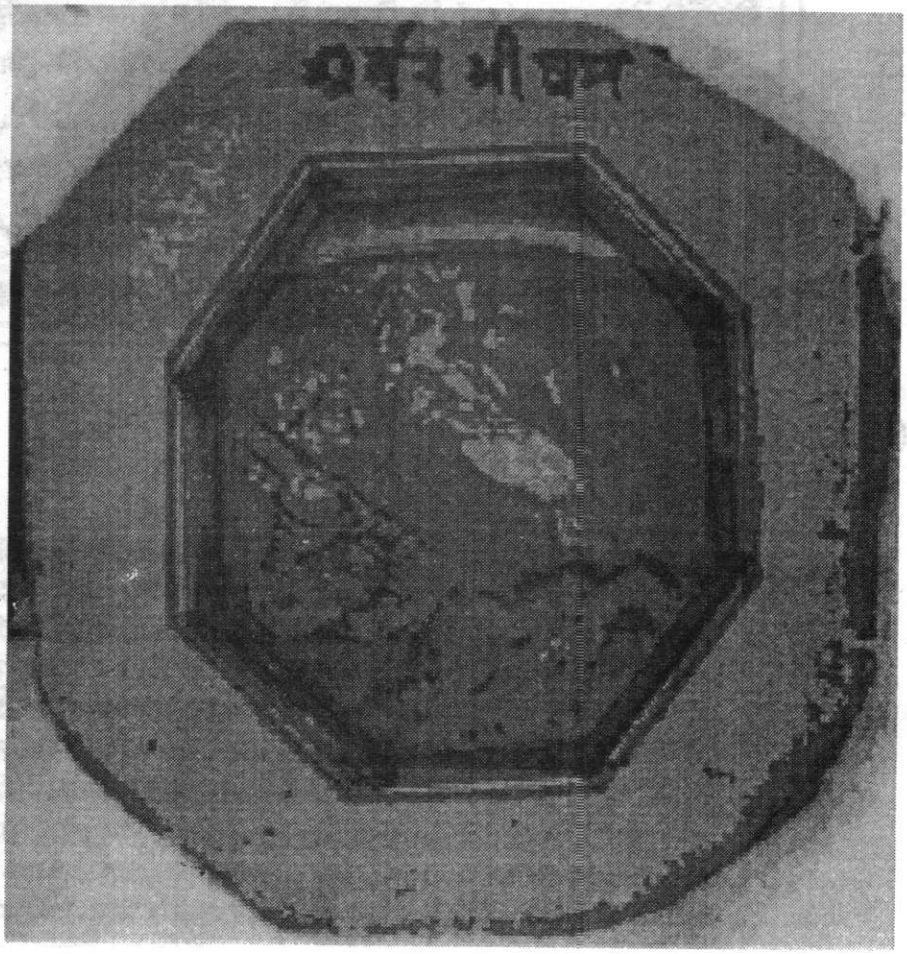
(2)



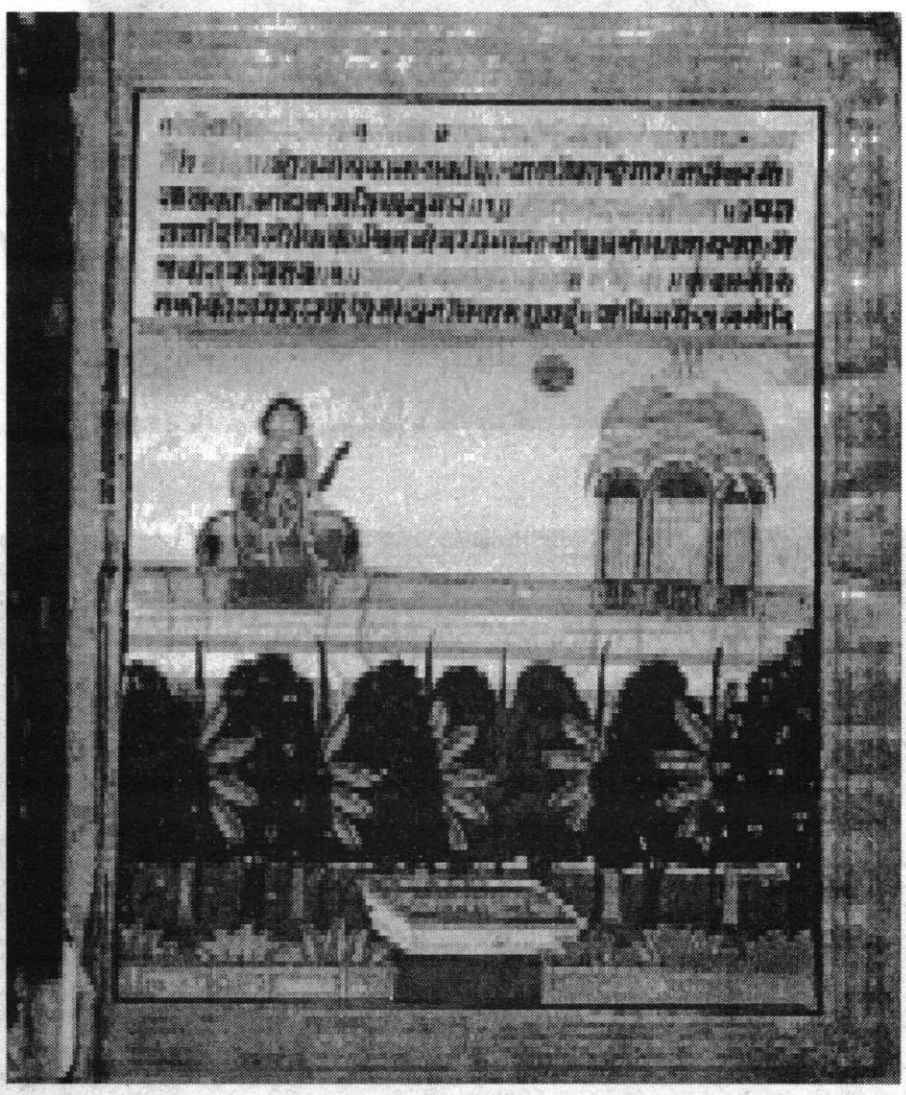
(3)



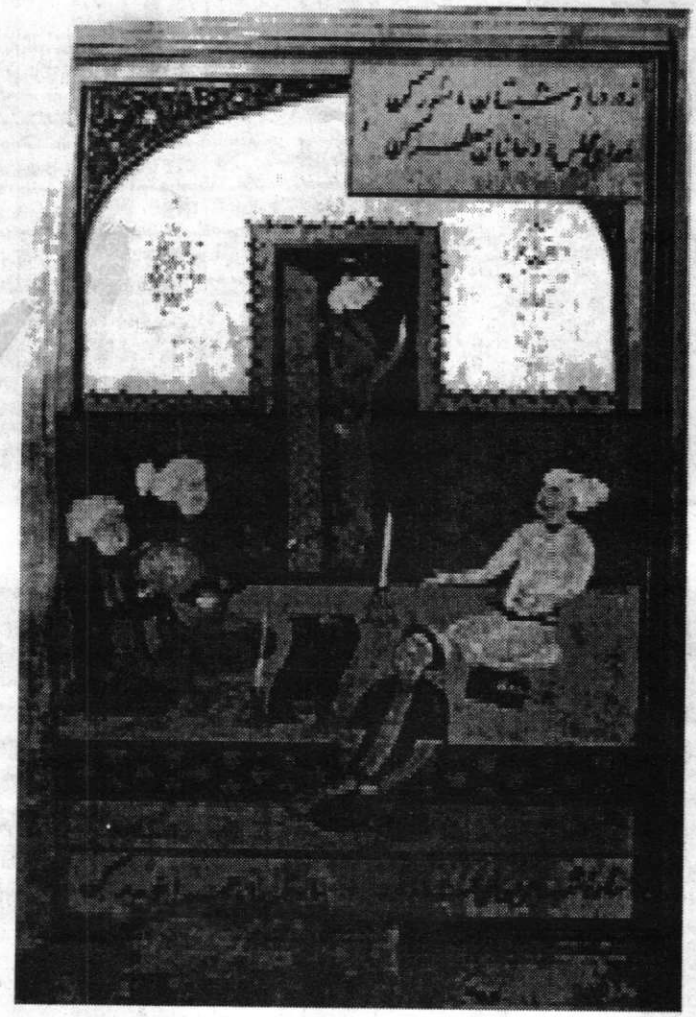
(4)

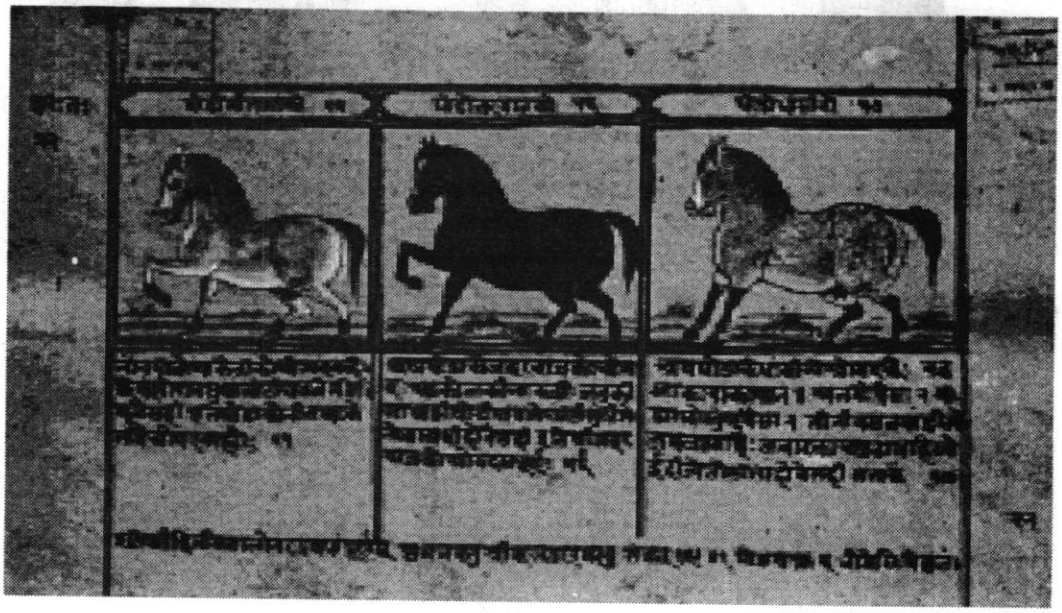




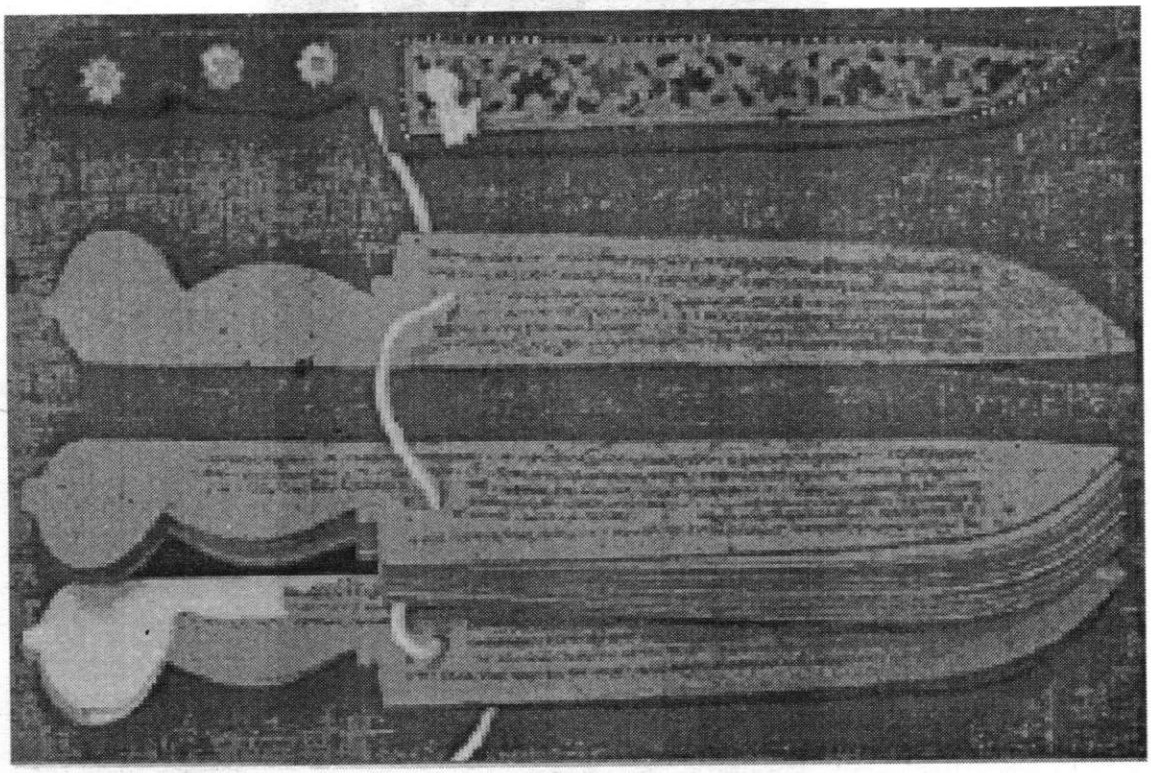


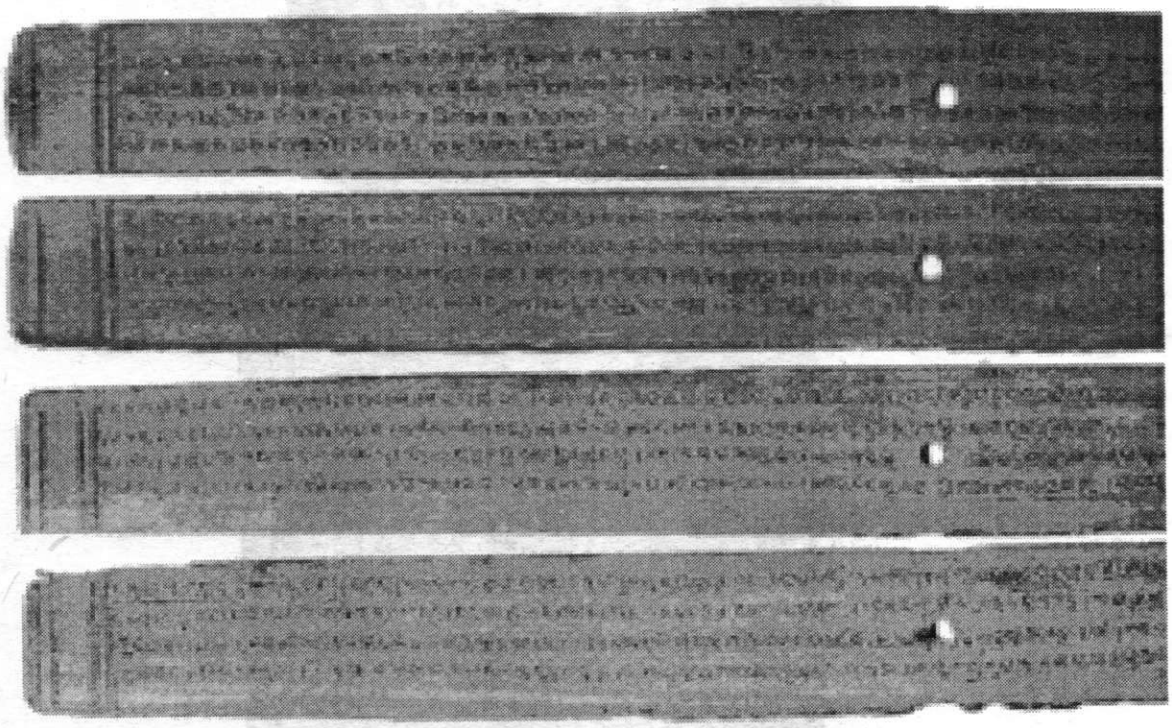
(5) कागज की चित्रांकित पाण्डुलिपि

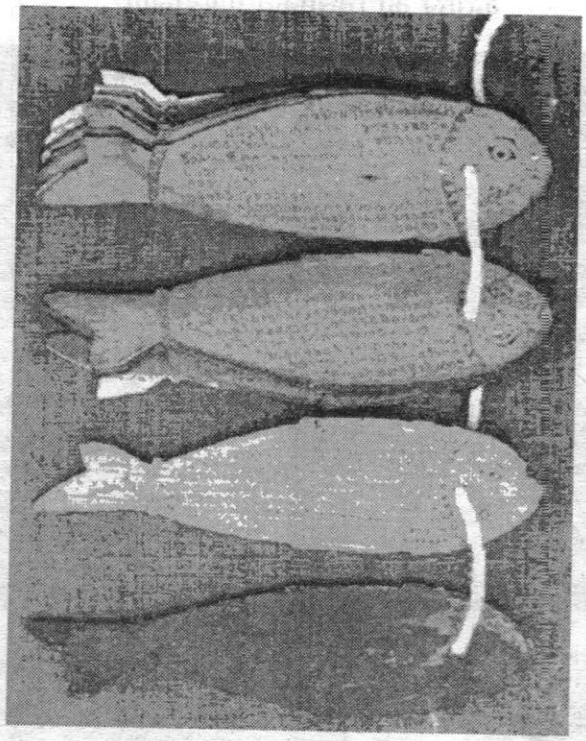


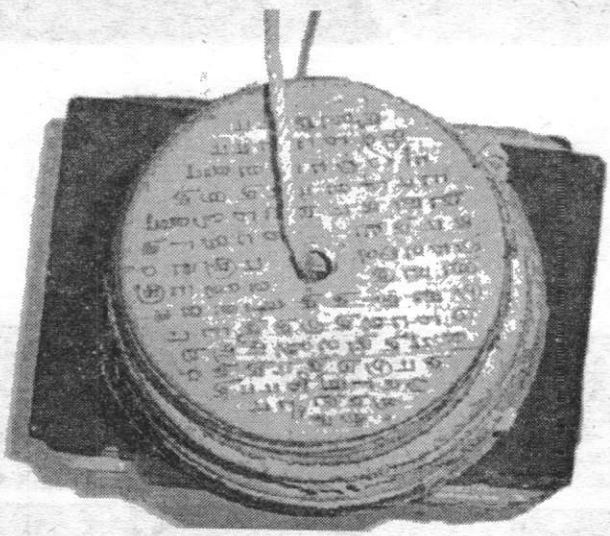


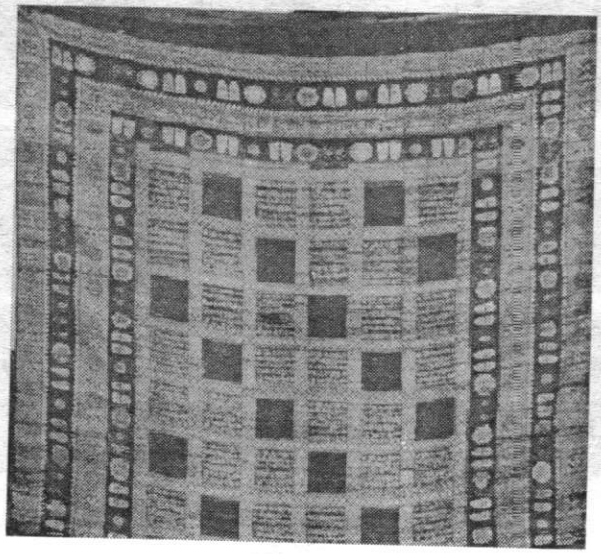
कागज की चित्रांकित पाण्डुलिपि

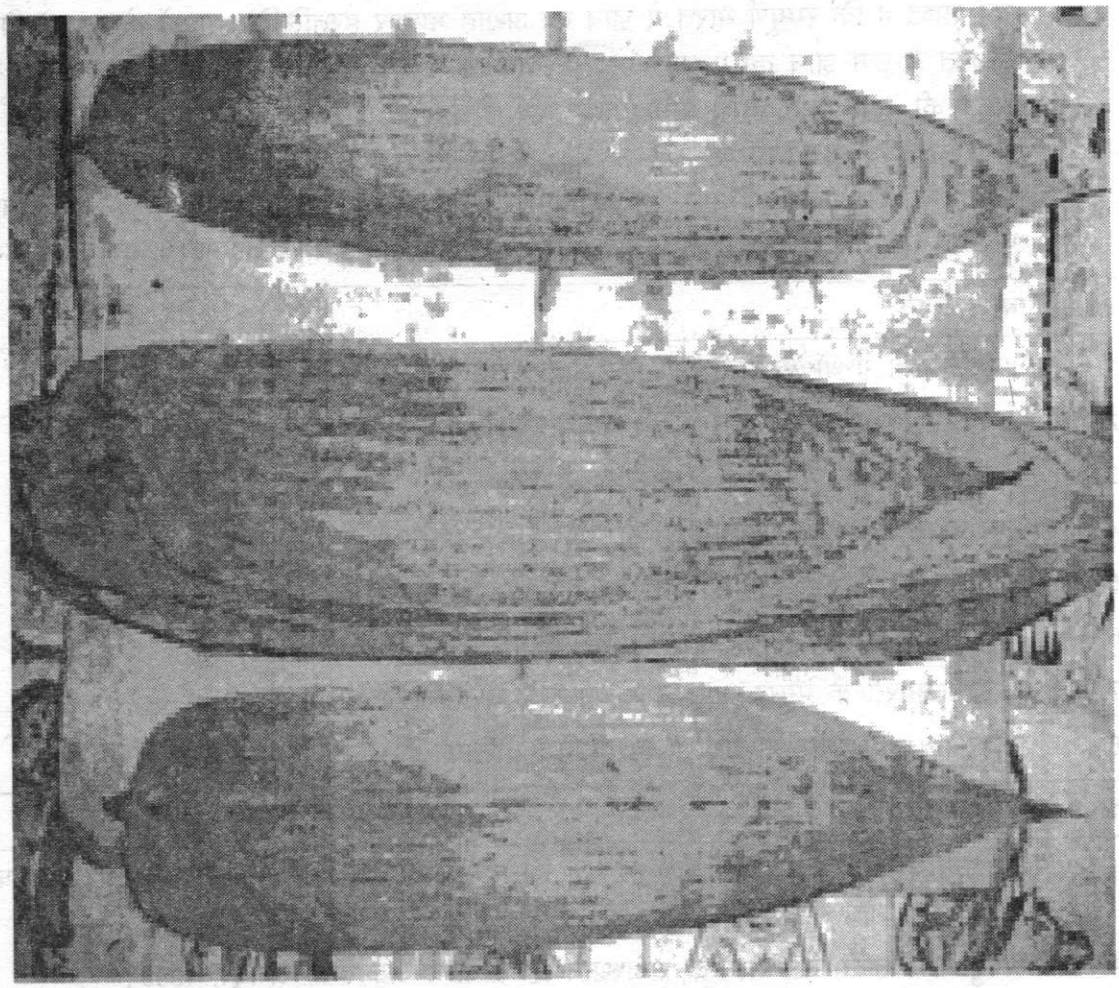




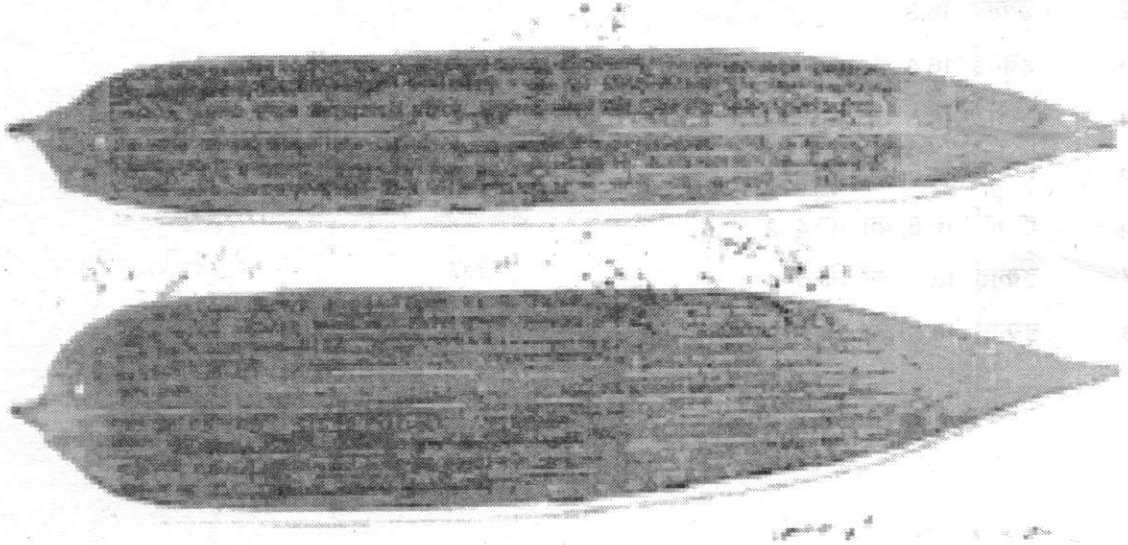








(8) कपड़े पर उल्लिखित पाण्डुलिपि



(9) बाँस की पाण्डुलिपि

16.7 निष्कर्ष

यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत में ज्ञान का अथाह भण्डार हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में बिखरा पड़ा है, जरुरत है उस ज्ञान को प्रकाशन में लाने की ताकि प्राचीन मनीषियों की मेहनत सार्थक हो सके और आज की युवा पीढ़ी हमारे समृद्ध ज्ञान एवं विज्ञान से परिचित होकर उसका लाभ ले सके। आज अनुसन्धान करने वालों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पाण्डुलिपि सम्पादन व समीक्षण से सम्बन्धित कार्यों को करें और इन महत्त्वपूर्ण हस्तलेखों का उद्धार कर आम जन को इनके महत्त्व से परिचित करायें। इस दृष्टि से सूचीपत्रों एवं हस्तलेख भाण्डागारों का महत्त्व सर्वविदित है।

16.8 बोध प्रश्न

1. हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीकरण की आवश्यकता का प्रतिपादन कीजिए।
2. सूचीपत्रों के इतिहास पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
3. केटेलोगस केटेलोगरम् पर टिप्पणी लिखिये।
4. पूर्वी भारत के प्रमुख भाण्डागारों का परिचय दीजिए।
5. उत्तरी भारत के प्रमुख भाण्डागारों का परिचय दीजिए।
6. दक्षिणी भारत के प्रमुख भाण्डागारों का परिचय दीजिए।
7. पश्चिमी भारत के प्रमुख भाण्डागारों का परिचय दीजिए।
8. राजस्थान के प्रमुख भाण्डागारों का परिचय दीजिए।

16.9 उपयोगी ग्रन्थ

1. अनुसन्धान प्रक्रिया एवं पाठालोचन– डॉ. विनोद शास्त्री एवं डॉ. शालिनी सक्सेना, राजस्थान ज्योतिष परिषद् एवं शोध संस्थान, जयपुर, 2007।
2. पाण्डुलिपिविज्ञान, डॉ. सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1989।

16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. इकाई 16.2
2. इकाई 16.3
3. इकाई 16.4 व 16.5 का बिन्दु 2 का 10
4. इकाई 16.5 का बिन्दु 3
5. इकाई 16.5 का बिन्दु 1
6. इकाई 16.5 का बिन्दु 2
7. इकाई 16.5 का बिन्दु 4
8. इकाई 16.5 का अन्तिम बिन्दु

ISBN No. : 13/978-81-8496-149-2